भारतीय पुरालेखों का अध्ययन

(Studies in Ancient Indian Inscriptions)

•

लेखक

डॉ० शिवस्वरूप सहाय

सुभाष नगर, बलिया (उ० प्र०)

(अवकाशप्राप्त रीडर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

श्री मुरली मनोहर टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया)

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलोर,

वाराणसी, पुणे, पटना

श्री डॉ० शिवस्वरूप सहाय ने प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न अंगों का गहरा अध्ययन किया है। इतिहास विषय पर उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय पुरालेखों का अध्ययन' उनकी नवीनतम कृति है। पुरालेखों पर हिन्दी में बहुत कम काम हुआ है। इस पुस्तक के प्रकाशन से प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्येताओं और शोध छात्रों को मूल स्रोत की सामग्री मातृभाषा हिन्दी में उपलब्ध होने से निश्चय ही बहुत लाभ होगा।

अशोक के पूर्व और अशोक के समय से लेकर गुप्तोत्तर काल तक के मूल अभिलेखों को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत कर डॉ० सहाय ने हिन्दी के माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए उपयोगी एवं सराहनीय कार्य किया है। मैं उनके इन विद्वतापूर्ण सद्प्रयास के लिए उन्हें साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे आगे भी इसी प्रकार हिन्दी में इतिहास के भण्डार की आपूर्ति करने में सतत प्रयत्नशील रहेंगे।

भगवती प्रसाद पांथरी
भूतपूर्व कुलपति
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग
काशी विद्यापीठ

1 अप्रैल, 1977

विषय-सूची

भाग – 1

भारतीय पुरालिपि

भाग – 2

अभिलेख

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अर्थान्तर और ऐतिहासिक महत्त्व)

भाग—1

भारतीय पुरालिपि

अध्याय 1

लेखन कला का उद्भव एवं पुरातनता

भारतीय दृष्टिकोण सदा अध्यात्मवादी रहा है। किसी भी भौतिक कृति को जो थोड़ी भी आश्चर्यजनक होती है तथा जिसमें नवीनीकरण रहता है उसे दैवीय कृति ही माना जाता है। यही कारण है कि आदि ग्रन्थ वेद को अपौरुषेय कहा जाता है, वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ब्रह्मा से जोड़ी जाती है तथा भारतीय लिपि ब्राह्मी को ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताई जाती है। यह विचित्रता केवल भारतीय सभ्यता में ही नहीं दीख पड़ती वरन् दजला-फरात की घाटी में उद्भूत मेसोपोटामिया के विभिन्न केन्द्रों में प्रस्फुटित होने वाली सभी सभ्यताओं में तथा भूमध्य सागरीय सभ्यताओं में भी इसी प्रकार दिखाई पड़ती है। सम्भवतः इसी भावना से प्रभावित मध्य-एशियायी, मीड्स एवं पर्शियन सभ्यताओं में राजत्व के सिद्धान्त को दैवीय (डिवाइन राइट थियरी ऑव किंगशिप) स्वीकार किया गया है। इसका पुरातात्विक प्रमाण है बाबुलोनियाँ के प्रसिद्ध देवता मार्डूक्य के मन्दिर के पास एक प्रस्तर-खण्ड जिस पर हम्मूरावी की विधान-संहिता उद्घृत है। इसके ऊपरी भाग पर एक आकृति अंकित है जिसमें हम्मूरावी सूर्य देवता शमस से यह विधान-संहिता ग्रहण कर रहा है।

भारतीय लेखन-कला के उद्भव के सम्बन्ध में भी भारतीय दृष्टिकोण कुछ इसी प्रकार का प्रतीत होता है। बादामी से ई॰ सं॰ 580 का एक प्रस्तर-खण्ड प्राप्त हुआ है जिसपर ब्रह्मा की आकृति बनी है। उनके हाथ में ताड़-पत्रों का एक समूह है। यह स्पष्ट पुरातात्त्विक प्रमाण है कि ब्राह्मा से ही लेखन-कला का सम्बन्ध जोड़ा गया है। ब्रह्मा आर्यों के देवता हैं। आर्यों के भारत में विस्तार के पूर्व जिसकी तिथि लगभग 1500 ई॰ पूर्व निर्धारित की जाती है यहाँ सिन्धु घाटी की विकसित सभ्यता विद्यमान थी। इस सभ्यता की तिथि सर जान मार्शल के अनुसार अनुमानतः 3000 ई॰ पूर्व स्वीकार की जाती है। इस सभ्यता के केन्द्रों के उत्खनन से प्राप्त मिट्टी की सीलों के ऊपर बनी कुछ आकृतियों को विद्वानों ने अक्षर स्वीकार किया है। डॉ॰ प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृत विद्वानों ने तो इनके पढ़ने का बहुत कुछ प्रयास किया है। पर इसके सम्बन्ध में अभी कोई अन्तिम निर्णय नहीं बन पड़ा है, जो भी हो। स्पष्ट अक्षर के रूप में तो नहीं पर चीनी लिपि की तरह चित्रात्मक लिपि में ही सही, इस पुरातन युग में भारत के मूल निवासियों ने अपने मनोभावों को ठोस रूप देने का एक सफल प्रयास किया था, इतना तो हम मान ही सकते हैं। पुनः इसकी सम्भावना और भी पुष्ट हो जाती है जब हम सिन्धु घाटी की सभ्यता के समकालीन नील नदी की सभ्यताओं में अक्षरों का विकास देखते हैं।

किन्तु एक बात यहाँ विचारणीय है कि अल्बेरूनी नामक एक अरबी इतिहासकार ने कहा है कि पराशर के पहले भारतवासी लेखन-कला को भूल चुके थे। दैवयोग से पाराशर के पुत्र वेदव्यास ने कलियुग के प्रारम्भ में हिन्दू धर्म ग्रन्थों—वेद, महाभारत तथा पुराण आदि के संचयन एवं लेखन के लिये लेखन-कला का पुनरान्वेषण किया और तब से क्रमिक लेखन-कला का प्रचलन हुआ। यह बात सिन्धु घाटी और वैदिक साहित्य के बीच की अज्ञात कड़ी की ओर संकेत करती है। किन्तु अल्बेरुनी के अतिरिक्त किसी भी दूसरे स्रोत से ऐसी जानकारी नहीं मिलती। अतः यह कथन कितना

विश्वसनीय है नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस सम्बन्ध में यह विचार करना अत्यन्त समीचीन है कि लेखन-कला का उद्भव कब हुआ ? इस सम्बन्ध में अनेक भारतीय तथा विदेशी विचारकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। अतः इनके विवेचन के बाद ही तथ्यों के आधार पर इस प्रश्न का उचित हल प्राप्त हो सकता है।

विदेशी विचारधारा

प्रायः पश्चिमी विचारकों ने इस सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिससे इस क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। उन्होंने सामान्यतया यह व्यक्त किया है कि भारतीयों ने 600 ई० पू० के पहले लेखन-कला में कोई गति नहीं प्राप्त की थी। इसके पूर्व भारतीय, लेखन-कला से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। इस मत के संस्थापक तथा प्रतिस्थापक हैं— ब्यूलर, डेविड डिरिंजर आदि।

इस समस्या का अध्ययन सबसे पहले डॉ० मोक्सम्यूलर महोदय ने किया। संस्कृत साहित्य के इस ख्याति प्राप्त विद्वान ने यह मत प्रतिपादित किया है कि पाणिनि के पूर्व अर्थात् चौथी शताब्दी ई० के पहले, भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान नहीं था क्योंकि पाणिनि से एक भी ऐसा सूत्र प्राप्त नहीं है जो लेखन-कला का संकेत करता हो। इस सम्बन्ध में बर्नेल महोदय का विचार है कि ब्राह्मी आदि लिपि है, और इसका उद्भव फोयनीशियन लिपि से हुआ है। इस आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पहले नहीं सिद्ध की जा सकती।

डॉ० डेबिड डिरिंजर के अनुसार ब्राह्मी भारत की आदि लिपि है। इसकी तिथि किसी उपलब्ध तर्क के आधार पर पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पहले निर्धारित नहीं की जा सकती है। इनके विचार में सुदूर अतीत में लेखन के प्रति जनरुचि थी। इस विचार की पुष्टि के लिए आपने पाणिनीय शिक्षा के निम्नांकित श्लोक को आधार बनाया है—

गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित-पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥३२॥

इस श्लोक में पाठक के दोषों का विवेचन किया गया है, पर इसके साथ कहीं भी लेखक का वर्णन नहीं मिलता। इसलिए इनका विचार है कि लेखन-कला का विकास पीछे की देन है। पहले लोगों ने पढ़ना सीखा और फिर लिखना।

ब्यूलर महोदय ने भी इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया है। इनके अनुसार नारद-स्मृति तथा वृहस्पति-वर्तिका से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने लेखन-कला का अन्वेषण किया था। इनमें तर्क और प्रभावक प्रमाणों का अभाव देखकर पीछे उन्होंने इस परम्परा के स्थान पर प्रामाणिक धरातल पर इसका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। चीन के विश्वकोष **'फा-वान-शू-लिन'** में यह लिखा है कि ब्रह्मा ने एक विशिष्ट प्रकार की लिपि का अन्वेषण किया था जो बायीं से दाहिनी ओर लिखी जाती है। 'ललित विस्तर' में भी एक लिपि का उल्लेख है जिसे ब्राह्मी या बम्मी कहा गया है। इसी ग्रंथ में यह भी विवरण मिलता है कि बुद्ध के समय 64 कलाओं का विकास हो चुका था। पुनः पाणिनि के अष्टाध्यायी से यह ज्ञात होता है कि पाणिनि के पूर्व व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन 'यवनानिय' भाषा में होता था। ब्यूलर महोदय के अनुसार यवनानिय से अभिप्राय है यवनों अथवा ग्रीकों की भाषा। इनके साथ अन्य तथ्यों के आधार पर ब्यूलर महोदय का विचार है कि 500 ई० पूर्व० या

800 ई० पूर्व में ब्राह्मी लिपि को विकास में पूर्णता प्राप्त हो चुकी थी। आगे उन्होंने यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि नवीन आविष्कारों के आधार पर इसे 10वीं शताब्दी ई० पूर्व में भी मान सकते हैं।

आलोचना

पर विदेशी विचारकों का यह मत पूर्णतया भारतीय दृष्टिकोण से अमान्य है। इसलिए उपर्युक्त मतों का खण्डन बड़े ही समवेत स्वर में भारतीय विचारक डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा डॉ० ए० सी० दास आदि ने किया है।

ऊपर हमने डॉ० डिरिंजर के मत का प्रतिपादन करते हुए 'पाठक' शब्द के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त किया है। इससे जहाँ डिरिंजर महोदय जहाँ केवल पाठकों की स्थिति का अनुमान करते हैं वहीं 'लिखित' शब्द इस बात का द्योतक है कि पाठक लिखा हुआ पढ़ता था अथवा बोल-बोल कर लिखता था। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह तर्क बड़ा सटीक प्रतीत होता है। यहाँ इस श्लोक में गीती, शीघ्री, शिरः कम्पी, अनर्थज्ञ एवं अल्पकण्ठ आदि पाठकों के छः दोष बताये गये हैं। पाठक का अभिप्राय पढ़ने वाले से है। जब तक लिखने का प्रसंग नहीं होगा तब तक पढ़ने वाले का प्रसंग आना अस्वाभाविक है। अतएव निश्चित ही उस समय तक लेखन-कला का विकास हो गया होगा।

पुनः वर्नेल महोदय का यह विचार है कि भारतीय लिपि या लेखन-कला फोयनीशियन जाति की लेखन-कला का अनुकरण है, कुछ न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। डॉ० दास ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि भारत में लिखने के कौशल का विकास वेदों के समय से ही हो चुका था। महामहोपाध्याय पं० गौशीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी डॉ० दास के विचार का समर्थन किया है। उनके विचार में वेदों को श्रुति केवल इसलिए नहीं कहा जाता है कि इन्हें सुनकर ही स्मरण कर लिया जाता था, परन्तु इन्हें श्रुति इसलिए कहते हैं कि इनके पाठक को अपनी मेधा इनके ग्रहण करने के लिए ऐसा बनाना चाहिए कि वह इन्हें सुनकर ही याद कर लें जिससे आवश्यकता पड़ने पर इनके प्रमाणों का समुचित उपयोग कर सके, क्योंकि भारतीय विचारधारा के अनुसार कण्ठ की हुई विद्या का ही महत्त्व था। कहा गया है—

पुस्तकस्थातु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

पुनः फोयनीशियनों से भारतीयों ने लेखन-कला सीखा इस कथन की अप्रामाणिकता तत्काल सिद्ध हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि फोयनीशियन व्यापारी थे। व्यापारिक सुविधा के लिए उन्होंने बाबुलोनियन से लिखने की कला सीखकर उसमें आवश्यक सुधार किया तथा उसको परिष्कृत स्वरूप, प्रस्तुत किया। अतः लेखन-कला उनकी धरोहर नहीं थी परन्तु उन्होंने दूसरों से सीखा था। उसमें भी बाबुलोनिया के पहले ही सिन्धु घाटी में लेखन-कला का प्रचलन मिलता है। इसलिए लेखन-कला की पुरातनता के विषय में उपर्युक्त विदेशी विचार अमान्य है।

अभी हाल में किस्तान जिले में एक घड़ा मिला है। इस पर द्रविड़ी या तमिल भाषा में लेख लिखा है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विदेशी विचार कुछ अधिक अप्रमाणिक हैं। इनकी अप्रमाणिकता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि निष्पक्ष विवेचन के बाद विभिन्न भारतीय तथा विदेशी स्रोत इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि लेखन-कला का विकास चिर अतीत में ब्रह्मा के समय से हो चुका था।

भारतीय विवरण

उपर्यङ्कित विरोधाभासी तथ्यों के समक्ष वास्तविक ज्ञान के लिए हम निम्नांकित स्रोतों को आधार मानकर यदि अध्ययन करें तो तथ्य का स्पष्टीकरण हो सकता है—

अ. पारस्परिक एवं आनुश्रौतिक प्रमाण

ब. साहित्यिक स्रोत

स. यात्रा-विवरण

द. पुरातात्त्विक स्रोत

अतएव यहाँ क्रमशः एक-एक स्रोत के आधार पर अध्ययन किया जायगा जिसके एक समुचित और नियत निष्कर्ष निकल सके।

अ. पारस्परिक एवं आनुश्रौतिक प्रमाण

भारतीय लिपि के अध्ययन के लिए केवल भारतीय पक्ष तक ही सीमित रहने मात्र पारदर्शी से ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। इसका कारण यह है कि हमारी अनेक ज्ञान राशियाँ विदेशी आततायियों द्वारा विनष्ट कर दी गयी हैं तथा कुछ का विनाश बाद की अन्यमनस्क पीढ़ी के कारण हुआ। इसका अधिकांश मूल प्रतिलिपि में तथा सन्दर्भों में पड़ोसी सम्पर्की देशों के साहित्य एवं परम्पराओं में आज भी सँजोया है। इसलिए अध्ययन की व्यापकता के लिए हमें अपना दृष्टिकोण बहुमुखी बनाना पड़ेगा। हमें निम्नांकित सभ्यताओं के भण्डार को भी टटोलना पड़ेगा—

1. भारतीय,
2. चीनी,
3. अरबी,
4. यूनानी तथा
5. लंका की परम्परा एवं अनुश्रुति

यहाँ हम क्रमशः इन प्रत्येक देश के साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन करके एक निष्पक्ष निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करेंगे।

1. भारतीय परम्परा एवं अनुश्रुति—नारद स्मृति में एक श्लोक है—

'ना करिष्यति यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभांगतिः॥

अर्थात् यदि ब्रह्मा लिखने के द्वारा उत्तम नेत्र का विकास नहीं करते तो तीनों लोकों को शुभ गति नहीं प्राप्त होती।

वृहस्पति स्मृति में भी इसी प्रकार यह लिखा है कि पहले सृष्टि-कर्त्ता ने अक्षरों को पत्तों पर अंकित करने का विधान किया क्योंकि छः मास में किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में स्मृति विभ्रमित हो जाती थी।

बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तार में 64 लिपियों का उल्लेख किया गया है। उनमें से सबसे पहले ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है।

जैन ग्रन्थों में एक प्रसंग आता है कि ऋषभ नाथ को एक लड़की थी। उसका नाम बम्पी था। उसी को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक लिपि को विकसित किया। इसी से बम्पी को पढ़ाने के लिए निकाली गई लिपि ब्राह्मी कहलाई। यहीं समवायंणसूत्र एवं पणवणासूत्र में 18 लिपियों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रथम नाम ब्राह्मी का है। ब्यूलर के अनुसार यह परम्परात्मक वर्णन लगता है।

अभी हाल में बादामी के उत्खनन से ब्रह्मा तथा सरस्वती की एक खड़ी युगल मूर्ति निकली है। इसमें सरस्वती के हाथ में एक मुड़ी हुई पुस्तक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सरस्वती के साथ लेखन-कला के उद्भव को सम्बन्धित किया गया है तथा ब्रह्मा के हाथ में ताड़पत्र का एक गुच्छा है जो पुस्तक का द्योतक है।

इन उपर्यंकित विवरणों से लेखन-कला को पुरातनता स्पष्ट हो जाती है। इसकी पुष्टि कालिदास के इस कथन से होती है कि लिपि ही वह माध्यम है जिसे वाङ्गमय की प्राप्ति होती है जैसे—नदी के मुख से चलने पर उसके उद्‌गम तक हम पहुँच सकते हैं (कियेर्यथा वदग्रहणेन वाङ्गमयं नदी मुखेनेव समुद्रभाविशत्।)। इससे लिपि के अनत्तर साहित्य के विकास का संकेत मिलता है।

2. चीनी परम्परा एवं अनुश्रुति—भौगोलिक स्थिति तथा राजनीतिक, धार्मिक आदि सम्पर्कों से भारत तथा चीन एक-दूसरे के अत्यन्त समीप रहे हैं। इसी से एक-दूसरे की परम्परा परस्पर संचित है। विदेशियों की विनाश लीला के बाद भी अधिकांश भारतीय उपलब्धि चीनी साहित्य में गुम्फित है। चीन के साहित्य से ज्ञात होता है कि भारतीय लेखन-कला अत्यन्त पुरातन है। चीन के विश्वकोष फा-वान-शू-लिन में लिखा है कि पुरातन विश्व में केवल तीन लिपियाँ ही प्रचलित थीं। इनमें एक लिपि ब्राह्मी थी। यह फान (ब्रह्मा) द्वारा अविष्कृत थी। यह बाएँ से दाएँ ओर लिखी जाती थी और सभी लिपियों में सर्वोत्तम थी। ह्वेनसाँग ने भी अपने भारत यात्रा-विवरण में लिखा है कि लेखन-कला का प्रादुर्भाव सबसे पहले भारतवर्ष में ही हुआ था।

3. अरबी परम्परा एवं अनुश्रुति—अरब और भारत पड़ोसी देश होने के कारण इनमें सीधा सम्पर्क सदा से रहा है। इतिहासकार, अल्बेरुनी ने जैसा पहले कहा गया है, लिखा है कि भारतीय लेखन-कला भूल गये थे जिसे व्यास ने पुनः कलियुग में अविष्कृत किया। यह कथन स्वतः इस बात को प्रमाणित करता है कि कलियुग के पहले के युगों में भी लेखन-कला से भारतीय परिचित थे। दूसरे यहाँ उल्लिखित व्यास वेदों के संकलनकर्त्ता तथा पुराण और महाभारत के रचयिता बताए गये हैं। अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल से लेखन की व्यवस्थित परमपरा रही होगी।

4. यूनानी परम्परा एवं अनुश्रुति—सिकन्दर के साथ भारत में आने वाले यूनानी कर्मचारियों एवं इतिहासकारों ने यहाँ की कतिपय परम्परा एवं अनुश्रुति को अपने साहित्य में स्थान दिया है। नियार्कस नामक एक सेनापति ने लिखा है कि भारतवासी चिथड़ों तथा रुई से कागज बनाना जानते थे। कागज का प्रयोग लेखन सामग्री के लिये होता होगा। अतः विकसित लेखन-कला की ओर यह संकेत करता है। कर्टियस एक दूसरा यूनानी यात्री था। इसके अनुसार भारतीय वृक्ष की छाल पर लिखते थे। उसने भोजपत्र का उल्लेख किया है। आज भी भारतीय संन्यासी जन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए भोज-पत्रों का प्रयोग करते हैं। श्री ब्यूलर के अनुसार ये दोनों दो विभिन्न लेखन सामग्रियों की ओर संकेत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि लेखन-कला इस समय ज्ञात थी तथा यह बिलकुल नई नहीं थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाला यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि सड़कों के किनारे मील के पत्थर 10-10 स्टेडिया की एक निश्चित दूरी पर लगे हुए थे जिससे

सड़क की दूरी तथा ठहराव का ठिकाना ज्ञात होता था। यह दो बातों की ओर संकेत करता है। प्रथम कि भारतीय, गणना से परिचित थे तथा दूसरे वे अक्षरों के साथ गिनती लिखना और पढ़ना भी जानते थे। आगे वह यह भी कहता है कि भारतीय जन्म-कुण्डली देखकर वर्ष फल बतलाते थे तथा स्मृतियों के आधार पर न्यायिक मसलों का निर्णय करते थे। यहाँ जन्म-कुण्डली के अध्ययन का उल्लेख यह संकेत करता है कि गणना की व्यवस्थित और उच्चतम स्थिति से वे परिचित थे। 'स्मृति' के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने 'स्मरण शक्ति' का अर्थ लिया है। किन्तु डॉ॰ ब्यूलर ने इसके विरोध में यह कहा है कि स्मृति से अभिप्राय स्मृति ग्रन्थों से है न कि मेधा से। यही विचार डॉ॰ राजबली पाण्डेय का भी है।

5. लंका की परम्परा एवं अनुश्रुति—लंका में सुरक्षित त्रिपिटक साहित्य में न केवल 'लेखा' शब्द का प्रयोग मिलता है अपितु 'लेखक' शब्द का भी उल्लेख किया गया है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि लेखन की परम्परा चिर अतीत से विकसित थी, जिसमें सिद्धस्तता प्राप्त किये हुए लोग एक विशेष नाम—'लेखक'—से सम्बोधित किये जाते थे।

ब. साहित्यिक स्रोत

साहित्यिक स्रोतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय साहित्य के कतिपय स्थल लेखन-कला की पुरातनता का ज्ञान देते हैं। इसके अध्ययन के लिए हम भारतीय साहित्यिक स्रोतों को निम्नांकित उपखण्डों में विभक्त कर इसका व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(i) वेद— (क) ऋग्वेद
(ख) यजुर्वेद
(ग) अथर्ववेद

(ii) उत्तर वैदिक साहित्य (ब्राह्मण साहित्य)

(iii) बौद्ध साहित्य

(iv) जैन साहित्य

(i) वेद

(क) ऋग्वेद—महामहोपाध्याय पं॰ गौरीशंकर हीराचनद ओझा के अनुसार वेद विश्व साहित्य का सबसे पुराना ग्रन्थ है। इसे श्रुति इसलिए कहा गया क्योंकि इसकी ऋचाओं को लोग श्रुति (सुनकर) ही स्मरण कर लेना अधिक सुविधाजनक मानते थे। पुनः इस विचार की पुष्टि के लिए उन्होंने यह भी कहा है कि यदि इसका लिखित रूप नहीं रहा होता तो यह पूर्ण असम्भव था कि इस पर भाष्य किया गया होता तथा इनके ब्राह्मण ग्रन्थों की रचनाएँ की गई होती। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद की एक ऋचा का उल्लेख किया जाता है जिसका अभिप्राय है कि एक व्यक्ति जो ज्ञान को देखना चाहता है, उसे नहीं देख सकता, जो इसे सुनना चाहता है, नहीं सुन सकता पर वह इसके सम्मुख उसी प्रकार अपने भावों को प्रकट करता है जैसे—एक स्त्री नग्न रूप में अपने पति के सम्मुख उपस्थित होती है। यह ऋचा इस प्रकार है—

'उतत्त्व पश्यन् न ददर्श वाचम्
उतत्त्व श्रुणवन् न श्रुणोति एतानि।
उतत्त्व समयि तन्वम् विस्स्रे
जायेव पत्यौं उशती सुवाशा'॥

पुनः ऋग्वेद में गायत्री, वृहती, विराज, अनुष्टुप आदि अनेक छन्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना में इन छन्दों का प्रयोग किया जाता था। अतएव ऋग्वेद की ऋचाएँ अवश्य ही लिखी गयी होंगी। ऋग्वेद की एक दूसरी ऋचा में यह विवरण मिलता है कि जूआ के एक पासे पर 1 अंक अंकित था। पुनः इसी ग्रन्थ में अंकों से लखड़ांकित (अंकित) गायों का विवरण मिलता है। तभी डॉ॰ राजबली पाण्डेय का मत है कि किसी-न-किसी प्रकार की लेखन विधि का प्रचलन इन ग्रन्थों के रचना के समय रहा होगा। डॉ॰ डी॰ आर॰ भण्डारकर ने भी स्वीकार किया है कि लेखन-कला वैदिक काल में ज्ञात थी।

(ख) यजुर्वेद—इस वेद में विभिन्न छन्दों का उल्लेख मिलता है। इन छन्दों के नामों की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि लिखने की कला का चलन तत्कालीन समाज में था। इसमें क्षुरश, भ्राजश आदि छन्दों का उल्लेख है। क्षुरश का अभिप्राय है लिखने वाले छूरे की तरह किसी कठोर वस्तु से तथा भ्राजश का अभिप्राय है चमकने वाले वस्तु से लिखते थे। इससे ज्ञात होता है कि छन्द सम्भवतः तकुए से लिखे जाते होंगे और उनके अक्षरों पर चमकने के लिए रंग चढ़ा दिया जाता होगा जैसा आजकल निमन्त्रण पत्रों पर किया जाता है। पुनः इसमें लम्बे अंकों के उल्लेख मिलता हैं।

(ग) अथर्ववेद—इस वेद में एक स्नातक कहता है कि 'मैं वेद को वहीं रख देता हूँ जहाँ से मैंने इसे लिया था।' इससे स्पष्ट है कि उस समय वेदों का स्वरूप लिखित रहा होगा। पुनः एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'हे पृथ्वी, हम तुम्हें भौतिक बन्धनों से आबद्ध कर देंगे। तुम्हारा शरीर दो योग का है—कृसमानी और वित—जो कुछ भी तुम पर लिखा गया है वह एक विशिष्ट वस्तु से लिखा गया है जिससे यह अर्जित ज्ञान शीघ्र ही लुप्त न हो जाय।' इससे भी यही स्पष्ट होता है कि लेखन-कला अथर्ववेद के रचनाकाल में पूर्ण विकसित थी और उसका कारण था ज्ञान को स्थायी बनाना। अक्षर लेखन के साथ-साथ अंक लेखन का भी संकेत इस काल में मिलता है। ऋग्वेद में राजा सावर्णी द्वारा एक हजार गौओं को भिक्षा में देने का उल्लेख है जिनके कानों पर आठ का चिह्न अंकित था। यजुर्वेद में 'गणक' का उल्लेख आया है जो गिनने का काम करते थे। यहाँ गिनना तभी सम्भव था जब गिनती लिखने का चलन रहा हो।

(ii) उत्तरवैदिक साहित्य (ब्राह्मण साहित्य)

उत्तरवैदिक कालीन साहित्य से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके समुचित ज्ञान के लिए हम ब्राह्मण साहित्य को निम्नांकित खण्डों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं—

(क) वेदाङ्ग — (ख) उपनिषद एवं आरण्यक

(ग) महाकाव्य — (घ) अन्य ग्रन्थ

(क) वेदाङ्ग—वेदाङ्ग में व्याकरण का स्थान प्रमुख है। संस्कृत व्याकरण का जितना व्यापक अध्ययन चिर अतीत में पाणिनि ने किया है, उतना किसी भी दूसरे साहित्य में संभव नहीं हो सका है। इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व लेखन-कला का विकास हो चुका था। अन्यथा बिना लिखित सामग्री के व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही कैसे हो सकता ? पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में लिपि शब्द का प्रयोग लिखने के सम्बन्ध में किया है। इसके अतिरिक्त 'लिपिकार' और 'ग्रन्थ' शब्द भी यहाँ प्रयुक्त हैं। ये लिपि और लिपि के निमार्ण की परम्परा का ज्ञान देते हैं। अंकों का भी विकास इस समय तक ज्ञात होता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में अंकों का भी प्रसंग आया है। इसमें पशु

के कान पर 5 तथा 8 अंकों के चिह्न अंकित करने का उल्लेख है। पाणिनि ने अपने पूर्व के भारद्वाज, काश्यप आदि वैयाकरणों का नाम गिनाया है। वे व्याकरण के अध्यापक थे। अतएव पाणिनि के पूर्व अर्थात् 8वीं शताब्दी ई० पूर्व में लेखन-कला समुचित रूप से विकसित रही होगी। पाणिनि के पहले यास्क ने निरुक्त लिखा था। उसमें बहुत से वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है जिनकी कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनि के बहुत पहले लेखन-कला विकसित हो चुकी थी।

(ख) **उपनिषद एवं आरण्यक**—छान्दोग्य उपनिषद में अक्षरों के लिखने का विवरण मिलता है। वर्ण और मात्रा का उल्लेख तैत्तरीय उपनिषद में साथ-साथ किया गया है। ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय ब्राह्मण में अक्षर उच्चारण का परिचय मिलता है। पुनः उपनिषद दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इन दार्शनिक तथ्यों को बिना लिखे व्यवस्थित करना सम्भव नहीं था। अतएव अवश्य ही इस समय लेखन कला विकसित रही होगी।

(ग) **महाकाव्य**—रामायण में एक प्रसंग आया है कि जब हनुमान लंका गए और वहाँ अशोक वाटिका में सीता के सन्मुख राम की मुद्रिका गिराये तो सीता को आश्चर्य हुआ कि इस अशोक वाटिका में यह राम की मुद्रिका कहाँ से गिरी। फिर हनुमान प्रकट होकर अपना परिचय देने लगे। इस पर मुद्रिका के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते हुए प्रमाण के लिए जब सीता ने उनसे पूछा तो हनुमान ने कहा—

'रामनामांकितं चेदि पश्य देवि अंगुलीयकम् – वाल्मीकि रामायण

(तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुन्दर—मानस)

अर्थात् 'हे देवी ! रामनाम अंकित इस अँगूठी को देखो !' इससे यह स्पष्ट है कि रामायण के काल में लिखने की कला प्रचलित थी अन्यथा अँगूठी पर राम का नाम कैसे अंकित होता। साथ ही यदि लिखने का चलन न रहा होता तो सीता और हनुमान उसे पढ़ना कैसे जानते ? इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर यह भी उल्लेख मिलता है कि संस्कार से हीन होने पर शब्द का अर्थ बदल जाता है।

'संस्कारेण यथा हीनां वाच्यमर्थान्तरंगताम्। वा० रा० 5 | 15 | 39 |'

यहाँ संस्कार के सन्दर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय का विचार है कि किसी-न-किसी प्रकार के व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रचलन वहाँ अवश्य रहा होगा। संस्कार से अभिप्राय यहाँ व्याकरण से है जो साहित्य को संस्कारित (शुद्ध) करता है। यह भी लेखन-कला की प्रचलित स्थिति का बोधक है। महाभारत में भी लिख, लेखक, लेखन आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। आदिपर्व में तो उल्लिखित है कि व्यास ने इसके लिखने के लिए लेखन-कला में कुशल 'गणेश' नामक एक व्यक्ति (या देवता) को नियुक्त किया था। डॉ० पाण्डेय तथा ब्यूलर के अनुसार लेखन सम्बन्धी ये तथ्य पूर्ण विश्वसनीय हैं।

(iii) बौद्ध साहित्य

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तान्त में एक विशिष्ट प्रकार के खेल खेलने का निषेध है। यह खेल हैं—'अखरिका'। इस खेल में बौद्ध भिक्षु एक-दूसरे की पीठ पर चढ़कर हवा में अंगुलियों के सहारे अक्षर बनाते थे जिसे दूसरा पढ़ता था। आज भी लड़के ऐसा खेल खेलते हैं। विनय पिटक में कहा गया है कि भिक्षुओं को अक्षर लिखने का व्यसन था तथा इस माध्यम से कुछ गृहस्थ अपनी जीविका भी अर्जित करते थे। इस समय लेख, गणना, रूप आदि की शिक्षा का विधान मिलता है। इनका

उल्लेख हाथीगुम्फा अभिलेख में भी हुआ है। यह शिक्षा पटरी पर कलम के द्वारा बचपन में दी जाती थी। भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि वह लिपिशाला (विद्यालय) में जाकर सोने के कलम से चन्दन की पटरी पर लिखना प्रारम्भ किए थे। यहाँ ताड़-पत्र और भोज-पत्र पर भी लिखने का वर्णन मिलता है। विनयपिटक में 'लिखितक चोर' का भी उल्लेख है जिसका अभिप्राय ऐसे चोर से है जिसका राज्य में लिखित विवरण रखा जाता होगा। यहाँ 'लिख' और 'लिखावित' शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका अर्थ है लिखना तथा लिखने के लिए बाधित करना। उदान में लेखाशिल्प का उल्लेख है। अंगुत्तर निकाय में 'लेखनी (कलम); जातकों में अपपोत्थक (आपकी पुस्तक); पोत्थक (पुस्तक); इण्ण पोथक (ऋण की पुस्तक) का विवरण है जो लेखन-कला के चलन को पुष्ट करता है। ललित विस्तर में 64 लिपियों का उल्लेख है जिनमें ब्राह्मी का नाम सर्वोपरि है।

(iv) जैन साहित्य

जैन साहित्य भी इस दिशा में कुछ संकेत देता है। इससे ज्ञात होता है कि जैन भिक्षुओं के लिए लिखना वर्जित था। जो भिक्षु लिखते थे उन्हें कठिन प्रायश्चित करना पड़ता था। जैन परम्परा दो लिपियों की तालिका प्रस्तुत करती है—(1) 12 अक्षरों की लिपि तथा (2) 18 अक्षरों की लिपि। भागवती सुत्त ब्राह्मी की वन्दना से ही प्रारम्भ होता है।—'नमो वम्यिये लिखिए'। इस प्रकार जैन साहित्य भारतीय लेखन कला की पुरातनता पर प्रकाश डालता है।

इन विभिन्न साहित्यिक विवरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय लेखन-कला का इतिहास अत्यन्त पुरातन है।

स. यात्रा-विवरण

प्राचीन भारत में समय-समय पर विदेशी आते रहे। इनमें अधिकांश विदेशी यात्री चीन के ही थे। इन्होंने अपनी यात्रा का विवरण पुस्तकाकार छोड़ा है। इन विवरणों में यहाँ की विभिन्न परम्पराओं और व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें लेखन-कला सम्बन्धी विवरण भी प्राप्त होता हैं।

ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारतीय लिपि सब लिपियों से पुरानी है। ह्वेनसांग यहाँ से अपने देश लौटने समय एक बहुत बड़ा साहित्य का भण्डार भारत से खच्चरों पर लाद कर ले गया था। उसके विवरण से यह भी ज्ञात होता कि यहाँ जन्म-पत्री का प्रचलन था तथा सड़कों के किनारे अंक लिखे हुए मील-स्तम्भ लगाये जाते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे यात्रियों ने लेखन सामग्री के रूप में ताड़पत्र, भोजपत्र, ताम्रपत्र आदि के चलन का उल्लेख किया है। इस प्रकार विदेशी यात्रियों के विवरण भी हमारी लिपि की पुरातनता को व्यक्त करते हैं।

द. पुरातात्त्विक स्रोत

ऊपर जितने भी स्रोतों का सहारा लिया गया है वे सभी साहित्यिक हैं। इनके विवरणों को और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पुरातात्त्विक स्रोतों का आधार ग्रहण किया जाय क्योंकि पुरातत्त्व प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं जबकि साहित्य आदि परोक्ष साक्ष्य हैं।

डॉ० भण्डारकर ने कलकत्ता सम्मेलन के अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उत्तर पाषाण-काल से ही लिपि का विकास हो चुका था। इसकी पुष्टि में उन्होंने बताया कि उस काल के कुछ पत्थरों पर उन्हें कुछ रेखांकित आकृतियाँ मिली हैं। परन्तु यह धारणा

पीछे गलत सिद्ध हुई क्योंकि ये अक्षर रोमन लिपि के पहचाने गए हैं। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अशोक कालीन अभिलेखों के पूर्व उत्कीर्ण दो अभिलेखों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें एक अभिलेख अजमेर का है तथा दूसरा नेपाल घाटी का। प्रथम अभिलेख तीर्थंकरों से 84 वर्ष पूर्व अंकित किया गया था अर्थात् 443 ई० पूर्व में तथा दूसरा अभिलेख डॉ० ब्यूलर के अनुसार 487 ई० पूर्व में लिखा गया था। इसकी पुष्टि इस तर्क से होती है कि अशोक के अभिलेखों में अकित है कि उसने अपने लेखों को पत्थर पर इसलिए खुदवाया था कि ये स्थायी बने रहें। इससे स्पष्ट होता है कि इसके पूर्व भी लेख लिखे जाते थे पर वे किसी ऐसे आधार पर लिखे जाते थे जिससे उसका स्वरूप स्थायी नहीं होता था। अशोक के पूर्व कुछ अभिलेख यथा—सोहगौरा, महाथानगढ़, पिपरहवाँ आदि मे भी मिले हैं। पुनः पटना और पार्खम से प्राप्त यक्ष तथा यक्षी की पीठ पर अंकित लेख भी मिले हैं। ये लेख साधारणतया अशोक के पूर्व के लिखे गये माने गये हैं। यद्यपि इस सम्भावना की कटु आलोचना कर अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि ये भी अशोक की ही तिथि के आस-पास लिखे गये होंगे।

अशोक के अभिलेखों पर दृष्टिपात करने से उस युग के ब्राह्मी अक्षरों के रूपों में पर्याप्त अन्तर स्थान-स्थान पर तथा एक ही स्थान के लेख की पंक्तियों में भी देखने को मिलता है। इस सन्दर्भ में किसी भी अक्षर को ले लें तो इस कथन की पुष्टि हो जाती है। इसका व्यापक विवरण डॉ० चन्द्रिका सिंह उपासक की कृति 'हिस्ट्री एण्ड पैलियोग्राफी ऑव मोर्यन ब्राह्मी स्कृप्ट' में द्रष्टव्य है। यह लेखन-कला की कुशलता, व्यापकता तथा लेखक के कौशल को प्रमाणित करता है।

पर इन सभी प्रमाणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का प्रमाण है सिन्धु घाटी के ठिकरों पर प्राप्त उभरे हुए कुछ चिह्न जिन्हें लेख माना जा रहा है। यद्यपि इस लिपि के सम्बन्ध में साधारणतया यही धारणा है कि यह चित्रात्मक लिपि है। पर डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि यह लिपि भले ही आंशिक रूप में चित्रात्मक हो पर इससे अक्षरों का भी बोध होता है। यद्यपि अभी तक इसे स्पष्ट रूप से पढ़ा नहीं जा सका है।

इन विभिन्न स्रोतों पर आधारित विवेचन से यह कहना बड़ा ही कठिन है कि लिखने की प्रणाली भारतीय इतिहास में कहाँ से प्रारम्भ हुई ? इससे इतना तो निश्चित ही है कि वैदिक काल में विकसित लेखन प्रणाली प्रचलित थी। यद्यपि अभी तक उस लिपि का निश्चित प्रत्यक्ष स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है। श्री विण्टरनित्स महोदय का यह मत है कि लेखन-कला का प्रारम्भ भारतीय इतिहास में 18वीं शताब्दी ई० पूर्व में हो चुका था। परन्तु यह विचार अन्तिम नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदों का रचना-काल अभी भी पूर्ण निश्चित नहीं हो पाया है। पर अनेक साक्ष्यों के समन्वीकृत अध्ययन के आधार पर इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि वैदिक कालीन भारत में लिखने की परम्परा पूर्ण विकसित थी। परन्तु यह भी सत्य है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के काल से ही भारतीय लेखन-कला के इतिहास का प्रारम्भ माना जा सकता है जो धीरे-धीरे समय के प्रवाह के साथ क्रमशः विकसित होती रही।

●

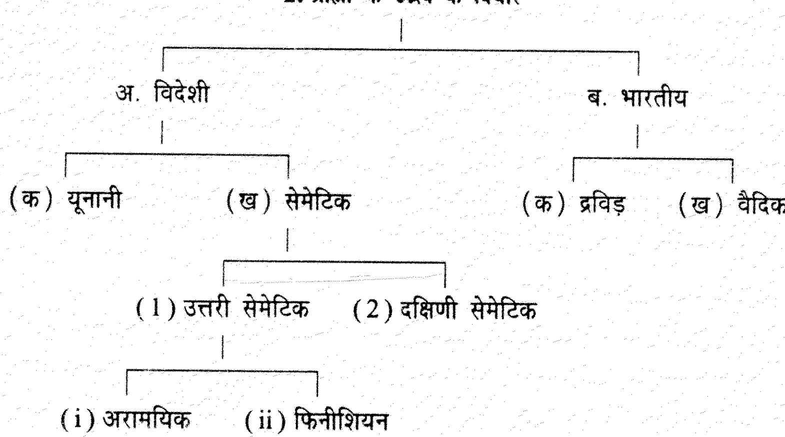
ब्राह्मी लिपि का उद्भव

भारतीय लेखन कला की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देखा गया है कि जहाँ पारम्परिक एवं आनुश्रौतिक स्रोत लेखन-कला की पुरातनता पर प्रकाश डालते हैं, वहीं उनमें अधिकांश ब्राह्मी लिपि का उलेख भी करते हैं। चीनी विश्वकोष फा-वान-शू-लिन, तीन लिपियों का उल्लेख करता है—(1) ब्राह्मी, (2) कइअलू तथा (3) तनसकी। अल्बरूनी ने लिखा है कि ब्रह्मा ने एक लिपि का आविष्कार किया था जिसका नाम ब्राह्मी थीं तथा वह बायें से दाईं ओर लिखी जाती थी। जैन परम्परा के अनुसार, आदि पुराण में लिखा है कि ऋषभनाथ ने एक लिपि का आविष्कार अपनी लड़की को सिखलाने के लिए किया था। उनकी लड़की का नाम बम्पी था। इसलिये इस लिपि का नाम उनकी लड़की के नाम के पीछे ब्राह्मी पड़ा। ब्राह्मी लिपि की आवृति बार-बार होने से यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव कैसे और कब हुआ ?

इसके उद्भव के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। इसलिये इन मतों को क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले परम्पराओं का अध्ययन किया जायगा। प्रायः भारतीय तथा विदेशी प्रत्येक परम्पराएँ इस लिपि का सम्बन्ध भारत से जोड़ती हैं। परन्तु कुछ विदेशी विचारकों ने तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इसकी उत्पत्ति विदेशी स्रोत से हुई है। भारतीय विचारक विदेशी विचारकों के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसका उद्भव भारतीय सिद्ध किया है। अतः इस अंध्ययन को व्यवस्थित करने के लिए प्राप्त विचारों को निम्नांकित रूप से क्रमबद्ध कर सकते हैं—

1. ब्राह्मी का पारम्परिक स्रोत से ज्ञान

2. ब्राह्मी के उद्भव के विचार



1. पारम्परिक स्रोत से ब्राह्मी का ज्ञान

साधारणतया यह धारणा प्रचलित है कि एक लिपि की स्थापना ब्रह्माणों ने किया था। चूँकि इसका उद्भव ब्राह्मण और वेदों की रक्षा के लिए हुआ था, इसी से इसे ब्रह्मा से सम्बन्धित करने के लिए ब्राह्मी नाम दिया गया। यह देव लिपि थी जिसे बड़ा अनुग्रह करने पर ब्रह्मा जी ने ब्राह्मणों को दिया था। प्राचीन भारत में ब्राह्मी लिपि की आवश्यकता दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है—वेदों के संरक्षण के लिए तथा प्राचीन भारतीय विकसित समुन्नत व्यापार के लेखा-जोखा रखने के लिए।

जैन परम्परा से यह ज्ञात होता है कि जैन तीर्थंकर आदिनाथ की लड़की का नाम बम्पी था। उसी को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक लिपि का आविष्कार किया। यह लिपि उस कन्या के नाम के पीछे ब्राह्मी के नाम से चर्चित हुई। इसीलिए भागवती-सुत्त के प्रारम्भ में ही लिखा गया है—**'नमो बम्पिए लिखिए'**।

पुनः ऋग्वेद में 'ब्रह्मि' शब्द प्रयुक्त है। पाणिनि के अनुसार यह शब्द अशुद्ध लिखा गया है। इसका उचित रूप 'ब्राह्मी' है। पीछे लोगों ने ब्राह्मी का सम्बन्ध 'ब्रगर' शब्द से जोड़ा जो पूर्णतया नार्वेजियन शब्द है। इसका अर्थ है—काव्य की कला। आस्ताफ ने इसका अर्थ---जादू का प्रभाव (मैजीकल स्पेल) बताया है ।

चीन के विश्व-कोष फा-वान-शू-लिन में लिखा है कि चिर अतीत में तीन लिपियाँ संसार में प्रचलित थीं—ब्राह्मी, कइअलू तथा तनसकी। इसके अनुसार ब्राह्मी पूर्ण स्वतन्त्र लिपि है। जैसा ऊपर कहा गया है कि इसे फान (ब्रह्मा) ने आविष्कृत किया था तथा यह बाएँ से दायें लिखी जाती थी। इसमें यह भी कहा गया है कि इसका उद्भव भारत में हुआ था।

2. ब्राह्मी के उद्भव स्थान पर विचार

ब्राह्मी के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक भारतीय तथा विदेशी विचारकों ने इसका उद्भव स्थान ढूँढ निकालने के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों के आधार पर अध्ययन किया है। इनके अनुसार इसके उद्भव को दो उप-खण्डों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग के अनुसार इसका उद्भव स्थान भारत था जबकि दूसरा वर्ग इसका उद्भव स्थान विदेश बताता है। विदेशी उद्भव के सम्बन्ध में भी विचारकों का एक मत नहीं है। कुछ इसका उद्भव स्थान यूनान बताते हैं और कुछ सेमेटिक। जो लोग सेमेटिक बताते हैं वे भी अपने विचारों में परस्पर सहमत नहीं हैं क्योंकि उनमें यह मतभेद है कि सेमेटिक के किस भाग में इसका उदय हुआ था। एक पक्ष इसका उद्भव उत्तरी सेमेटिक तथा दूसरा पक्ष दक्षिणी सेमेटिक निश्चित करता है। उत्तरी सेमेटिक के पक्षपातियों में से एक दल अरामयिक तथा दूसरा फिइनीशियन उद्भव बताता है। इसलिये इन प्रत्येक मत-मतान्तरों के अध्ययन करने के बाद ही कोई एक निश्चित तथ्य निकाल जा सकता है।

अ. विदेशी उद्भव का सिद्धान्त

(क) **यूनानी उद्भव**—कुछ विदेशी विद्वान् मूल्लर, सेनार्ट, प्रिंसेप आदि ने भारतीय ब्राह्मी तथा यूनानी लिपि में समता स्थापित करने का प्रयास किया है। इनका विचार है कि ब्राह्मी का उद्भव यूनानी लिपि से हुआ है। इस यूनानी लिपि के भारतीय आगमन के कारण के सम्बन्ध पर प्रकाश

डालते हुए इन्होंने आगे कहा है कि फाइनीशियनों द्वारा यह यूनानी लिपि भारत में उनके व्यापार के माध्यम से आई। दूसरी सम्भावना यह भी व्यक्त की गयी है कि सिकन्दर के भारतीय आगमन के साथ यूनानी लिपि का सम्पर्क भारत के साथ हुआ और तब भारतीयों ने ब्राह्मी लिपि का प्रचलन प्रारम्भ किया।

पर यह विचार पूर्णतया अप्रासंगिक प्रतीत होता है क्योंकि भारत तथा यूनान का सम्पर्क यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से सिकन्दर के आक्रमण के समय से हुआ था पर इस सम्पर्क के बहुत पहले ही जैसा पहले अध्याय में हमने देखा है, लेखन-कला का विकास हो चुका था। ब्यूलर महोदय के अनुसार तो आठवीं और नवीं शताब्दी ई० पू० में भारतीय लेखन-कला से परिचित थे। यह तर्क कि फोइनीशियन व्यापारियों के माध्यम से यह लिपि भारत में आई, कुछ बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता क्योंकि फोइनीशिया में लिपि का प्रचलन यूनानी लिपि के उद्भव के बहुत पहले से ही था। इसलिए यह कहना कि यूनानियों से फोइनीशिया के व्यापारियों ने लिपि सीखी, उचित नहीं लगता है। पुनः ये फोइनीशियन भारतीय मूल के थे। ऋग्वेद में इन्हें पणी कहा गया है। ये ही व्यापार करते हुए भूमध्यसागर के तट पर बस गये। वहाँ इन्होंने अपनी बस्तियाँ स्थापित की। अतएव इनकी लिपि अवश्य ही भारतीय उद्भव की रही होगी। इसी लिपि से सम्भव है, यूनानियों ने लिखना सीखा हो; न कि जैसी धारणा है यूनानियों से फोइनोशियन व्यापारियों ने लिपि सीखी और फिर भारतीयों को सिखाया। डॉ० राजबली पाण्डेय का यह तर्क बड़ा सटीक लगता है। पुनः यूनानी और ब्राह्मी अक्षरों की संरचना में कोई समता नहीं दिखाई पड़ती हैं। किसी भी साहित्यिक अथवा लिपिशास्त्रीय प्रमाण से यह बात सटीक नहीं बैठती। साथ ही अशोक के समय में ही ब्राह्मी और यूनानी दोनों लिपियाँ यहाँ साथ-साथ प्रचलित थीं। अतः यह कहना बड़ा अनुचित लगता है कि दूसरे से पहले का उद्भव हुआ। डीग्लेव के अनुसार तो भारतीय लिपि के आकार और ध्वनियों को यूनानी लिपि से समीकृत नहीं की जा सकती। दूसरे भारतीय वर्णमाला पाणिनि के पूर्वोल्लिखित वैयाकरणों के समय तक अत्यन्त व्यवस्थित हो चुकी होगी जबकि उस समय तक यूनान लिपि के इतिहास में अभी अक्षरों का पदात्मकता (Syllabic) से छूटने का काल था। इसलिए यह विचार भ्रामक प्रतीत होता है।

(ख) सेमेटिक—विद्वानों का एक वर्ग जिसके नायक हैं सर विलियम जोन्स, यह विश्वास करता है कि ब्राह्मी लिपि का विकास सेमेटिक लिपि से हुआ। किन्तु इस पर विद्वानों में स्वयं मतैक्य नहीं है कि सेमेटिक कि शाखा से इसका अनुसरण किया गया है क्योंकि सेमेटिक लिपि मोटे रूप से तीन शाखाओं में बाँटी जा सकती है—उत्तरी सेमेटिक, दक्षिणी समेटिक तथा फोइनीशियन। अतः इन सभी शाखाओं के साथ इसकी समता के स्थापनार्थ खींचा-तानी की गयी है अत७ विवेचनात्मक अध्ययन के बाद ही इसकी सत्यता स्वीकार की जा सकती है।

(1) उत्तरी सेमेटिक—उत्तरी सेमेटिक शाखा की लिपि से ब्राह्मी के उद्भव के विचार के संस्थापक हैं ब्यूलर, डेविड, डिरिंजर आदि।

ब्यूलर महोदय के अनुसार सेमेटिक अक्षरों से ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव निकालना बड़ा कठिन है। पर इसकी एक विशेष शाखा उत्तरी सेमेटिक से ब्राह्मी का विकास निश्चित करना अत्यन्त ही सरल है। उत्तरी सेमेटिक अक्षरों की निर्माण शैली एवं सिद्धान्तों के सहारे ब्राह्मी के निर्माण का कौशल बड़ा ही सरल जान पड़ता है। इसके समुचित अध्ययन के लिए इन्होंने ब्राह्मी अक्षरों की प्रवृत्तियों

का निम्नांकित अध्ययन किया है—

(1) प्रायः इसके अक्षर सीधे हैं और परस्पर लम्बाई में एक-दूसरे के समान हैं; जैसे—+ (क) ४ (म)।

(2) ये अक्षर सीधी रेखाओं के बने हैं। इनमें जोड़ की रेखाएँ अधिकांशतः नीचे की ओर लगी हैं और कभी-कभी नीचे तथा ऊपर दोनों ही ओर लगी हैं, पर बहुत ही कम अक्षरों में बीच में प्रयोग की गई हैं।

(3) अक्षरों के निचले भाग में सीधी रेखाएँ बनी हैं। बहुत कम अक्षर ऐसे हैं जिनमें नीचे से दो तिरछी रेखाएँ ऊपर की ओर उठती हुई दिखाई पड़ती हैं। ऐसे अक्षर हैं—४ (म) 𑀛 (झ) आदि। पर किसी भी परिस्थिति में शीर्ष भाग पर बहुत से कोणों की आकृतियाँ नहीं दिखाई पड़ती हैं।

इन विशेषताओं के सन्दर्भ में विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि उत्तरी सेमेटिक अक्षरों के भारी शिरों को नीचे कर उनका स्वरूप उलटा कर दिया जाय तथा उनके किनारों को खुला छोड़ दिया जाय तो पूर्ण भारतीय ब्राह्मी अक्षरों की समता में उन्हें लाया जा सकता है तथा इनके लेखन क्रम की दिशा में परिवर्तन करने के कारण प्रायः चिह्न दाहिने से बायें हो जायेंगे जिसका स्पष्ट स्वरूप ब्राह्मी अक्षरों में दिखाई पड़ता है। इन्होंने इस आपत्ति का कि ब्राह्मी बायें से दायें लिखी जाती हैं तथा सेमेटिक लिपि दायें से बायें, परिहास के लिए भ्रमवश उल्टे मुद्रित कुछ अशोक के अभिलेखों में ध, त, ओ आदि अक्षरों की ओर संकेत किया है तथा एरण के सिक्कों की ओर भी इंगित किया है जो साँचा बनानेवाले की भूल के कारण उनपर उल्टा लिख गया है। साथ ही एरागुड्डी के अभिलेख एवं लंका के दुवेगल अभिलेख का भी उल्लेख किया है जिनमें कुछ लेखन की दशा में अशुद्धि हो गयी है।

ब्यूलर महोदय ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मी लिपि में प्रयुक्त 22 अक्षर उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से बने हैं। कुछ पुरातन फोइनीशियन अभिलेखों के अक्षरों से निर्मित हैं। बहुत कम अक्षर मेसा के प्रस्तर अभिलेख के अक्षरों से लिये गये हैं। इनके पाँच अक्षर असीरिया के बटखरों पर अंकित अक्षरों के अनुकरण पर बने हैं।

डेविड डिरिंजर ने भी उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति बतायी है। अपने विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने दो तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(अ) यह लिपि स्वतंत्र रूप से भारतीय आविष्कार की नहीं है पर व्यापारिक क्रियाकलापों की सुविधा के लिए सेमेटिक से भारतीयों ने अपनाया था।

(ब) अक्षरों के सहारे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियों के उच्चारण की भावना बिना किसी सन्देह के ब्राह्मी में पश्चिमी एशिया से अनुकरण की गयी है।

अपने तर्कों की पुष्टि के लिए पुनः इस विद्वान् विचारक निम्नांकित तथ्यों को व्यक्त किया है—

1. यह प्रारम्भ में दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती थी। इसके चिह्न भी पूर्णतया सेमेटिक अक्षरों की तरह ही हैं।

2. विद्वानों का यह विचार है कि भारतीय परम्परा में बोलचाल कुछ दूसरे प्रकार की थी। अक्षरों का विकास यहाँ निर्धारित नहीं किया जा सकता। सेमेटिक अक्षरों में स्वरचिह्नों का पूर्ण अभाव था। इन स्वर चिह्नों की रचना सेमेटिक अक्षरों में भारतीय ने नहीं पर यूनानियों ने किया।

इस प्रकार विभिन्न तर्कों के आधार पर डिरिञ्जर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय ब्राह्मी अक्षर उत्तरी सेमेटिक अक्षरों की देन हैं। इन उत्तरी सेमेटिक अक्षरों के सम्बन्ध में प्रस्तुत तर्कों को सुव्यवस्थित रूप में हम इस प्रकार सजा सकते हैं—

(i) ब्राह्मी तथा सेमेटिक अक्षरों की निर्माण कला में समता दिखायी पड़ती है।

(ii) प्रारम्भिक अक्षरों के लिखने की परम्परा सेमेटिक थी। भारत में चित्रकारी भाषा में पहले लिखा जाता था। किसी भी चित्रकारी लिपि से अक्षरों का विकास सम्भव नहीं हो सकता।

(iii) पाँचवीं शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले भारतीयों में इतिहास लिखने की परम्परा का कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलता। इसी समय से भारत का सम्पर्क पश्चिमी विश्व से हो चुका था। अतएव पश्चिमी सभ्यता की देन के परिणामस्वरूप ही भारतीय अक्षरों का विकास निर्धारित किया जा सकता है।

(iv) प्राचीन परम्परा में भारतीय दाएँ से बाएँ की ओर लिखते थे, जैसे—सेमेटिक लिपियाँ लिखी जाती थीं।

पर पश्चिमी विचारों की उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी के उद्भव की यह धारणा मान्य नहीं प्रतीत होती। इसके विरोध में भारतीय विद्वानों ने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किया है—

(i) ब्यूलर महोदय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव सेमेटिक अक्षरों से निकालना बड़ा ही कठिन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की बात केवल चौथे तर्क के आधार पर पूर्वानुग्रह से एक धारणा के सिद्ध करने मात्र के लिए प्रतिपादित किया गया है। इन तर्कों में ब्यूलर महोदय ने केवल यह प्रयास किया है कि किसी प्रकार भी किसी पश्चिमी लिपि से इस भारतीय लिपि की समता स्थापित की जा सके।

(ii) ब्राह्मी तथा अरामयिक लिपि में कोई मान्य एकरूपता नहीं है। यहाँ एकरूपता लाने के लिए दोनों लिपियों में अनेक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के परिवर्तन द्वारा किसी भी लिपि के अक्षरों की समता दूसरी लिपि के अक्षरों से स्थापित की जा सकती है। डॉ॰ गौरीशंकर हीराचंद आझा ने तो इस तर्क के आधार पर इतना सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस आधार पर अंग्रेजी के अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति बताई जा सकती है **A =**  **तथा B =**  । तथा इसके उल्टा भी हम ब्राह्मी से किसी भी लिपि की उत्पत्ति बता सकते हैं।

(iii) फोइननीशियन वास्तव में भारतीय थे। ये व्यापार करते हुए पश्चिम की ओर गए। वहीं बस गये। ऋग्वेद में इन्हीं के लिए 'पणि' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ इन्होंने अपनी संस्कृति का प्रसार किया। इनकी लिपि जिसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं उसे ठीक तरह से पश्चिमी समाज अपना नहीं सका। बायें से दायें लिखने की परम्परा के स्थान पर वहाँ इसे दायें से बायें लिखने की परम्परा का प्रारम्भ हुआ तथा कुछ अक्षर अपने वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा उलट-फेर कर उधर अपना लिये गये। इसी से पश्चिमी लिपि के अक्षर ब्राह्मी अक्षरों की अपेक्षा उल्टे-पल्टे दिखाई पड़ते हैं।

(iv) यह कहना कि चित्रकारी लिपि से अक्षरों का विकास नहीं हो सकता, समुचित नहीं प्रतीत होता। प्राचीन काल में प्रायः प्रत्येक देश में पहले चित्रकारी अक्षरों का ही विकास था। पीछे वर्णमाला

के विभिन्न अक्षर उससे निकले। जहाँ तक भारतीय आदि अक्षरों का प्रश्न है, इसका प्रारम्भ हम सिन्धु घाटी से जोड़ पर करते हैं। पूर्णतया सिन्धु घाटी के अक्षर को चित्रकारी अक्षर कहना उचित नहीं है। इन अक्षरों में वर्णमाला की ओर विकास का क्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसलिए सम्भव है कि ब्राह्मी अक्षरों का विकास सिन्धु घाटी के अक्षरों से हुआ हो। यह बात दूसरी है कि किन सोपानों से विकसित होती हुई ब्राह्मी अशोक के समय में अपने रूप में पहुँची।

(v) ब्यूलर महोदय ने ब्राह्मी के कुछ निम्नांकित अभिलेखों के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है जहाँ दायें से बाएँ की ओर लिखी गयी हैं—

1. अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर,
2. एरागुड्डी के शिला-लेख के अक्षर और
3. एरण के सिक्के पर अंकित अक्षर।

ब्यूलर के इस तर्क के विरुद्ध पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कहा है कि यह अल्टा लिखावट संभवतः लेखकों की गलती के कारण प्रतीत होता है। हुल्श तथा फ्लीट आदि भी ब्यूलर के इस मत से सहमत नहीं हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि एरागुड्डी में सम्भवतः नवीन प्रयोग किया गया था। वहाँ अभिलेख की सम्पूर्ण पंक्तियाँ दाएँ से बाएँ नहीं चलती पर एक बाएँ से दाएँ चलती हैं तो दूसरी दाएँ से बाएँ चलती हैं। जहाँ तक अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षरों की बात है, सम्भवतः लेखक के लिखने के दोष के कारण यह दोष अक्षरों में दिखाई पड़ता है। यही कारण एरण से प्राप्त सिक्कों के सम्बन्ध में भी सत्य प्रतीत होता है।

(vi) ब्यूलर महोदय ने पुनः कहा है कि पांचवीं शताब्दी के पहले भारतीय इतिहास में अक्षरों के लिखने की परम्परा का प्रत्यक्ष रूप में अभाव दिखायी पड़ता है। पर लेखन-कला की पुरातनता के सम्बन्ध में पहले अध्याय में देखा जा चुका है कि ब्यूलर ने यह विचार व्यक्त किया है कि सिन्धु घाटी में लेखन-कला का प्रचलन हो चुका था तथा भारतीय लेखन-कला से इससे पहले ही परिचित थे। इसलिए ब्यूलर का यह विचार यहाँ हास्यास्पद लगता है।

(vii) पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार विदेशी विद्वानों के इस दिशा में दिए गए किसी भी तर्कों में वास्तविकता का पूर्ण अभाव दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि विदेशी उद्भव के सिद्धान्त के प्रतिपादन में कुछ भी वास्तविक अंश नहीं है।

श्री अहमद हसन दानी ने उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति की बात स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में उनके निम्नांकित तर्क हैं—

(1) ब्राह्मी अक्षरों की संख्या भारतीय वर्णमाला से कम है। यह वर्णमाला ब्राह्मी की उपज नहीं।

(2) ब्राह्मी के चिह्न मूलतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—मूल स्वर और मूल व्यञ्जन.....। 3 मूल स्वर चिह्न हैं और 19 मूल व्यञ्जन चिह्न। इस प्रकार कुल 22 सेमेटिक अक्षरों के बराबर हैं।

(3) ब्राह्मी की उत्पत्ति कोई अलग घटना नहीं है। इसका विचार करते समय तत्कालीन सभ्य विश्व की संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्कों की अवहेलना नहीं की जा सकती।

किन्तु श्री दानी के ये तर्क सबल नहीं प्रतीत होते। ब्राह्मी का प्रयोग प्राकृत भाषाओं के लिखने के लिए किया गया है जिसमें संस्कृत के कम अक्षर विद्यमान हैं। दूसरे जिन 22 अक्षरों का ब्राह्मी से चुनाव कर उत्तरी सेमेटिक (अरमेइक) अक्षरों से समता स्थापित करने का प्रयास किया गया है, उस चुनाव का कोई आधार नहीं प्रतोता। लगता है यह चुनाव मनमाने ढंग से किया गया है। तीसरा

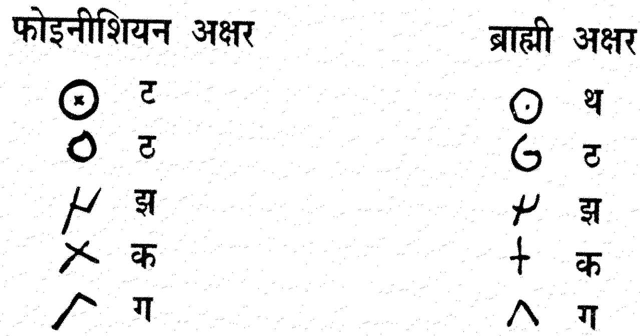
तर्क तो अत्यन्त ही निर्बल है क्योंकि अशोक द्वारा प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के वाह्य आकारों तथा ध्वनियों की समता किन्हीं भी फिनीशियन अक्षरों से नहीं की जा सकती। अतः डॉ॰ वर्मा का विचार है ब्राह्मी को किसी अन्य संस्कृति का मुखापेक्षी नहीं बनना पड़ा।

ऊपर के इन विभिन्न तर्कों के आधार पर यही निश्चित होता है कि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव पूर्णतया भारतीय है। इसका सम्बन्ध किसी भी विदेशी (उत्तरी सेमेटिक) अक्षर से नहीं किया जा सकता।

(2) दक्षिणी सेमेटिक—दक्षिणी सेमेटिक लिपि से, कुछ विद्वानों के विचार में, इस भारतीय लिपि का उद्भव हुआ है। इस दिशा में मत प्रतिपादित करने वाले विचारक हैं—टेलर, डीके, कैनन आदि।

यद्यपि भारत तथा अरब के बीच व्यापारिक सम्बन्ध चिर अतीत से था परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध का भारतीय लिपि पर कोई भी प्रभाव तब तक परिलक्षित नहीं होता है जब तक इस्लाम धर्म के प्रचारार्थ अरबों ने भारतीय सीमा में प्रवेश नहीं किया। साथ ही भारतीय, और अरबी अक्षरों की समता पूर्णतया नगण्य है। इस आधार पर डॉ॰ पाण्डेय का विचार है कि दोनों के बीच समता स्थापित करने की बात हास्यास्पद है।

फोइनीशियन उद्भव का सिद्धान्त—उत्तरी सेमेटिक उद्भव के मानने वाले विद्वान बेवर, बेन्फे, जान्सन आदि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव फोइननीशियन लिपि से निर्धारित किया है। इसका कारण यह बताया गया कि ब्राह्मी अक्षरों में से एक तिहाई अक्षर फोइनीशियन अक्षरों के समरूप हैं। पर दूसरे तिहाई अक्षर भी किन्हीं रूपों में अनुरूप बताए जाते हैं यद्यपि ये पूर्णतया समरूप नहीं हैं। शेष अक्षर लगभग समान हैं। यथा—



इन अक्षरों की तालिका को देखने से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी तथा फोइनीशियन अक्षरों में बहुत हद तक समता है। पर इस समता को देखते हुए भी यह विचार ग्रहण करना कि भारतीय ब्राह्मी फोइनीशियन लिपि की उपज है, कुछ समुचित नहीं प्रतीत होता। इस असुविधा के कारण निम्नांकित हैं—

(1) जिस समय ब्राह्मी लिपि का उद्भव हुआ, उस समय भारत का सम्बन्ध फिनिशिया से नहीं था।

(2) ब्राह्मी लिपि के उद्भव के समय तक फिनिशिया में किसी भी लिपि का विकास नहीं हुआ था।

(3) फिनीशियन से भारतीयों ने लेखन-कला सीखी अथवा इसके विपरीत भारतीयों से फिनीशियन ने सीखी, यह अभी भी समस्या है। इसका कारण यह है कि फिनीशियन भारत के ही आदिवासी थे, इन्हीं को ऋग्वेद में पणि कहा गया है।

(4) फिनीशियन तथा पश्चिमी एशिया के सेमेटिक अक्षरों में समता का पूर्ण अभाव दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार ब्राह्मी की उत्पत्ति फोइनीशियन आधार पर स्वीकार करना बहुत ही अप्रामाणिक प्रतीत होता है।

ब. भारतीय उद्भव का सिद्धान्त

ऊपर हमने ब्राह्मी लिपि के विदेशी उद्भव के कथित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन में कोई भी तर्क की कसौटी पर इतना उचित नहीं उतरा कि ब्राह्मी को विदेशी उद्भव का सिद्ध किया जा सके। अतएव इन तर्कों को छोड़कर अब दूसरे पक्ष, भारतीय सिद्धान्तों का सर्वेक्षण किया जाय तो हो सकता है कि तथ्य की स्पष्टता ज्ञात हो सके।

परन्तु यह बात स्पष्ट रूप में समझ लेनी चाहिए कि भारतीय उद्भव के सिद्धान्त में भी भारतीय तथा विदेशी विचारकों में एकता नहीं है। मूल रूप से ये विचारक दो वर्गों में विभक्त हैं और दो भिन्न भारतीय केन्द्रों से इसके उद्भव को निर्धारित करते हैं। एक वर्ग इसका उद्भव द्रविड़ स्रोत से बताता है और दूसरा वर्ग वैदिक अथवा आर्य स्रोत से। अतएव इन वर्गों के मतों का अलग-अलग अध्ययन करने के पश्चात् ही इस पर निर्णय दिया जा सकता है।

(क) द्रविड़ उद्भव का सिद्धान्त—इसके जन्मदाता हैं लैसेन महोदय। इन्हीं के विचारों के आधार पर एडवर्ड थामस ने इसका उद्भव दक्षिणी भारत की द्रविड़ जाति से बताया है। यह धारणा सम्भवतः इस आधार पर आधारित है कि द्रविड़ भारत के आदिवासी थे तथा आर्य विदेशी थे। इन्होंने आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में एक लिपि का आविष्कार किया था।

परन्तु यह सम्पूर्ण सिद्धान्त कल्पना पर आधारित है। इसलिए इसकी वास्तविकता संदिग्ध है। पुनः ब्राह्मी लिपि उत्तरी भारत में फैली तथा इसके अत्यधिक प्रमाण उत्तरी भारत में ही मिलते हैं, जबकि द्रविड़ों का आदि स्थान दक्षिणी भारत था। इसके अतिरिक्त द्रविड़ भाषा में केवल प्रथम तथा पंचम अक्षरों का ही प्रयोग होता है, जबकि आर्य भाषा में पाँचों अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। ध्वनि शास्त्र के आधार पर भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मी से तमिल लिपि का विकास हुआ अर्थात् दक्षिण की लिपियाँ उत्तर से ही फैली जिनमें स्थानीय भिन्नता के कारण व्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

(ख) आर्य या वैदिक उद्भव का सिद्धान्त—विचारकों के दूसरे वर्ग के अनुसार ब्राह्मी का उद्भव आर्यों से सम्बद्ध किया गया है। वैदिक काल से इसका प्रारम्भ निश्चित किया जाता है। इस पक्ष के प्रतिपादक हैं—कनिंघम तथा डाडसन। कनिंघम महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि मानव जाति के लेखन का प्रथम प्रयास भावाभिव्यक्ति के लिए चित्रों के माध्यम से किया गया होगा। इस आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय ब्राह्मी का भी प्रारम्भिक रूप चित्रात्मक रहा होगा जो पीछे पदात्मक और फिर अक्षरों के रूप में विकसित हुआ। उनका यह भी विश्वास है कि यद्यपि भारतीय अक्षर उद्भव में पूर्णतया भारतीय हैं फिर भी भारतीयों ने अपनी इस व्यवस्था को मिस्र से अनुकरण किया है।

परन्तु कनिंघम का यह विचार पूर्णतया भ्रामक और अमान्य है। भारतीय अक्षरों का विकास चित्रात्मक लिपि से हुआ हो ऐसी सम्भावना पूर्णतया भ्रामक है। ब्यूलर महोदय ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भारतीय लिपि के इतिहास में कहीं भी चित्रात्मक लिपि का इतिहास नहीं है। सिन्धु घाटी के कला उपलब्धियों से प्राप्त अक्षरों के आधार पर भले ही हम यह सोच लें

कि यहाँ चित्रात्मक लिपि का प्रयोग हुआ है, परन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि ये अक्षर न तो चित्रकारी लिपि से सम्बन्धित हैं और न गूढ़ाक्षरों से। इसकी स्पष्टता डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार के सिन्धु घाटी के अक्षरों के अध्ययन से ज्ञात होती है। इसके साथ ही ये गूढ़ाक्षर भी नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए डॉ० मार्शल का यह विचार है कि सिन्धु घाटी के अक्षरों से ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है।

डॉ० आर० शामशास्त्री ने भी ब्राह्मी लिपि के भारतीय उद्भव के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होंने ब्राह्मी अक्षरों के विभिन्न चिह्नों को देवों तथा देवनगर के चिह्नों से सम्बन्द्ध किया है तथा इसकी पुष्टि तांत्रिक ग्रन्थों के आधार पर की गयी है। उनका विचार है कि गूढ़ाक्षरों का उल्लेख जिन पत्रों तथा प्लेटों पर किया गया है, उन पर त्रिकोण तथा वृत्ताकार चिह्न बने हैं तथा देवता और देवियों की भी आकृतियाँ अंकित हैं। इनको 'देवानाम् नगरम्' कहा जाता है। इसीसे इसका विकसित रूप आधुनिक भारतीय वर्णमाला 'देवनागरी' है। परन्तु इनके विचारों के आधार एकमात्र तांत्रिक ग्रन्थ हैं। तन्त्र के ग्रन्थ बहुत बाद के लिखे हैं तथा इनमें निर्दिष्ट प्रतीक बड़े ही जटिल एवं अस्पष्ट हैं। इसलिए इतने अस्पष्ट सिद्धान्त पर आधारित कोई निष्कर्ष किसी भ्रामक दिशा को ही परिलक्षित कर सकता है। अतः यह सिद्धान्त मान्य नहीं प्रतीत होता है।

भारतीय उद्भव के दूसरे सिद्धान्त के सबल समर्थक हैं—जॉन डाडसन। इनके अनुसार इस भारतीय लिपि की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो कि विश्व की किसी भी दूसरी लिपि से मेल नहीं खाती। उनकी यह भी धारणा है कि इस भारतीय लिपि का विकास गंगा किनारे ही कहीं हुआ होगा जहाँ से यह विश्व के विभिन्न भागों में धीरे-धीरे फैलती गयी। सेमेटिक से इसका अन्तर बताते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि जहां सेमेटिक जाति के लोग अपनी लिपि दाहिने से बाएँ की ओर लिखते हैं वहीं भारतीय ठीक इसके विपरीत बाएँ से दाएँ की ओर लिखते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि भारतीय लिपि 'हिन्दुओं की खोज' है।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने भाषा विज्ञान के विवेचन के आधार पर ध्वनि शास्त्र के सहारे यह धारण व्यक्त की है कि अक्षरों का विकास ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था। इसी पक्ष के दूसरे समर्थक हैं—डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० राजबली पाण्डेय आदि। ओझा जी ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के निर्माण में कोई भी विदेशी प्रभाव स्वीकार ही नहीं किया जा सकता।

कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि ब्राह्मी का उद्भव हड़प्पा की लिपि से हुआ है। इसके सर्वप्रथम संस्थापक श्री लैगडम महोदय हैं। इनका समर्थन हण्टर महोदय ने भी किया है। परन्तु यह धारणा कुछ बहुत समुचित नहीं प्रतीत होती है जैसा कि ऊपर कहीं-कहीं व्यक्त किया गया है। सबसे बड़ी कठिनाई इस मत के स्वीकार करने में यह है कि हड़प्पा की सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच में एक बड़ी खाई है, समय की। इसको कैसे पाटा जाय कि विकास की क्रमिकता की गति स्थापित किया जा सके, यह एक जटिल समस्या है।

ऊपर के विचारों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया होगा कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव पूर्णतया भारतीय है। यह बात दूसरी है कि इसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार सिन्धु घाटी की लिपि से नहीं जोड़ा जा सकता। किन्तु वैदिक काल से इसका विकास निर्विवाद रूप से स्थापित किया जा सकता है। फिर भी इस पक्ष के कटु आलोचक हैं पश्चिमी विचारक डॉ० डेविड डिरिंजर। इन्होंने

निम्नांकित तर्क अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है—

(i) एक ही साथ एक ही देश में दो विभिन्न लिपियों का प्रचलन यह नहीं सिद्ध करता कि दोनों एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं।

(ii) वैदिक काल में लिखने की किसी व्यवस्था का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। लेखन कला का विकास भारत में बौद्ध काल से ही स्वीकार किया जा सकता है।

(iii) अभिलेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मी के लेखन की कला का प्रयोग छठी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ हुआ।

(iv) भारतीयों ने ब्राह्मी लिपि पश्चिमी विश्व से सीखी थी। यह हिन्दुओं का आविष्कार नहीं है परन्तु उन्होंने अनुकरण किया है।

(v) सिन्धुघाटी की लिपि में अक्षरों का प्रयोग बिल्कुल नहीं है।

परन्तु डॉ० डिरिञ्जर के सभी तर्क निम्नांकित आलोचनाओं पर धराशायी हो जाते हैं—

(i) दोनों लिपियाँ यद्यपि एक ही देश में प्रचलित थी, परन्तु दोनों का विकास दो विभिन्न युगों में हुआ। इसलिये एक का सम्बन्ध दूसरे से स्थापित करना बड़ा स्वाभाविक है।

(ii) डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार प्रारम्भ से ही वेद लिखित थे। इन्हें श्रुति केवल इसलिए कहा जाता है कि प्राचीन काल में इस लिखित ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लिया जाता था।

(iii) छठी शताब्दी ई० पू० के पहले की एक युगल मूर्ति मिली है जिसमें एक पुरुष और एक स्त्री साथ खड़े हैं। इसमें स्त्री के हाथ में मुड़ी हुई एक पुस्तक है। इससे स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ई० पू० के पहले लेखन-कला का प्रचलन हो चुका था।

(iv) भारत ने किस पश्चिम देश से लिपि का अनुकरण किया यह विवादास्पद है। ऊपर के विचारकों के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध है कि ब्राह्मी भारतीयों का आविष्कार है।

(v) ऊपर के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि सिन्धु घाटी की लिपि में अक्षरों का प्रयोग किया गया है।

इन विभिन्न आधारों पर यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव भारतीय है। इसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं जो विश्व की किसी भी अन्य लिपि से मेल नहीं खाती—

(1) ब्राह्मी के अक्षर उच्चारण के आधार पर लिखे जाते हैं।

(2) यह एक स्वतन्त्र लिपि है।

(3) इसके 64 चिह्न हैं।

(4) इसमें दीर्घ तथा ह्रस्व मात्राओं का प्रयोग मिलता है।

(5) इसमें अनुस्वार (ं), अनुनासिक (ँ) तथा विसर्ग (:) का प्रयोग किया जाता है।

(6) अक्षरों का ध्वनि सम्बन्धी विभाजन उच्चारण के आधार पर हुआ है।

(7) चिह्नों के द्वारा स्वरों का सम्बन्ध व्यञ्जन से किया गया है।

इस लिपि के इन्हीं गुणों के आधार पर डॉ० राजबली पाण्डेय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह एक विशिष्ट लिपि है जिसके उच्चारण तथा व्याकरण का अपना विशिष्ट स्वरूप है। अतः इसका उद्भव मूलतः भारतीय है।

●

अध्याय 3

खरोष्ठी लिपि का उद्भव

अशोक के अभिलेख लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाये जाते हैं जो ब्राह्मी लिपि में लिखे गये हैं। पर इसमें से कुछ जो भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश में मिले हैं, वे इस लिपि से भिन्न एक दूसरी लिपि में खोदे गये जो दाहिने से बायें की ओर लिखी गयी हैं। इस लिपि को पुरातत्त्वविद् ब्यूलर ने खरोष्ठी लिपि के नाम से सम्बोधित किया है। इसका प्रयोग अशोक के पहले भारतीय अभिलेखों के इतिहास में दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए बड़ी सरलतापूर्वक यह धारणा व्यक्त की जा सकती है कि अशोक के अभिलेखों में ही सबसे पहले खरोष्ठी लिपि के प्रयोग का प्रचलन मिलता है। इसके साथ ही इस लिपि की यह अपनी विशेषता है कि इसका विकास तथा विस्तार हम पश्चिमी देशों, यथा—अफगानिस्तान, मध्य एशिया आदि में ही पाते हैं जबकि शेष भारतीय लिपियों का प्रयोग केवल भारतीय सीमा तक ही सीमित रहा तथा इनका प्रसार भी यहीं हुआ। पर खरोष्ठी लिपि का प्रयोग बहुत अल्प काल तक सीमित क्षेत्र में ही दिखाई पड़ता है जबकि ब्राह्मी का इतिहास एक लम्बे काल का इतिहास है तथा इसका प्रयोग बहुत व्यापक रूप में हुआ है। खरोष्ठी नाम भी भारतीय बोलचाल की भाषा में बड़ा विचित्र लगता है। इसलिए सहसा यह कुतूहल जाग्रत हो जाता है कि इस लिपि विशेष का नाम खरोष्ठी क्यों हुआ तथा इसका उद्भव कहाँ हुआ था ?

खरोष्ठी का नाम विभिन्न भारतीय तथा विदेशी ग्रन्थों में पाया जाता है। चीनी विश्वकोश, 'फा-वान-शु-लिन' में खरोष्ठी नाम का उल्लेख मिलता है। भारतीय बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में भी, जहाँ लिपियों की सूची दी गयी है, खरोष्ठी लिपि का उल्लेख है। इसका नाम सातवीं शताब्दी तक चीनी ग्रन्थों में प्रयोग किया गया है। दायें से बायें लिखी जाने वाली भारतीय सीमा की इस लिपि को बैक्ट्रियन, काबुली, गान्धारी, बैक्ट्रोपाली, एरियानो-पाली आदि भारतीय सीमा प्रदेश के स्थानों के नाम के साथ जोड़कर सम्बोधित किया जाता था। किन्तु जार्ज ब्यूलर ने सर्वप्रथम इसे इस नाम विशेष से सम्बोधित किया था।

नामकरण

खरोष्ठी के नामकरण के सम्बन्ध में साधारणतया अनेक धारणाएँ विद्वत्-समाज में प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शू-लिन' यह प्रतिपादित करता है कि चूँकि इस लिपि का अन्वेषक खरोष्ठ (खर-ओष्ठ) अर्थात् गदहे की तरह होंठ वाला व्यक्ति था इसी से इसे खरोष्ठी कहा गया। दूसरे वर्ग के विचारकों ने यह मत दिया है कि खरोष्ठ एक जंगली जाति थी। वही इन अक्षरों का प्रयोग करती थी। इसलिए इसको अन्वेषक के नाम के पीछे, खरोष्ठी कहा गया। एक वर्ग के अनुसार खरोष्ठी ईरानी शब्द खरपोष्ट से बना है। खरपोष्ट से अभिप्राय है गदहे की खाल से। संभवतः यह गदहे के चमड़े पर पहले लिखा जाता होगा इसी से इसका नाम खरपोष्ट के आधार पर खरोष्ठी पड़ा होगा। यह भी सम्भावना है कि गदहे के सूखे चमड़े की तरह चूँकि इसकी आकृति टेढ़ी-मेढ़ी

होती थी इसी से इसको खरोष्ठी कहा गया। इस प्रकार के एक नहीं अनेक विचार खरोष्ठी लिपि के नामकरण के समबन्ध में प्रतिपादित किए गये हैं। ये विचार कहाँ तक सत्य है नहीं कहा जा सकता। पर डॉ॰ राजबली पाण्डेय की यह धारणा सत्य के अधिक समीप प्रतीत होती है कि पहले यह नाम व्यंग्य में इसके लिए प्रयुक्त किया जाता होगा पीछे चलकर यही इसका प्रचलित नाम स्वीकार कर लिया गया होगा क्योंकि इसका कोई दूसरा नाम किसी भी अन्य आधार से ज्ञात नहीं होता।

प्रयोग काल एवं क्षेत्र

पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार खरोष्ठी का प्रयोग अशोक के समय से हमको मिलता है। जैसा ऊपर वर्णित है, पश्चिमोत्तर सीमा पर अशोक के कुछ अभिलेख इस लिपि में पाये गये हैं। इस समय से लेकर बाद के कुषाण शासकों के समय (चौथी शताब्दी) तक इस लिपि के अभिलेख मुद्रालेख स्फुट रूप से मिलते हैं। इसके बाद भारतीय सीमा में इस लिपि के प्रयोग का कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। किन्तु इसके बाद इस लिपि के प्रचलन का लोप संसार से हो गया ऐसा भी नहीं है। इसके बाद भी चीनी तुर्किस्तान में कुछ और समय तक इसका प्रचलन था।

जैसा ऊपर कहा गया है यह लिपि पूर्वी भारत तथा मध्यदेश तक भी अपने प्रचलन के समय नहीं पहुँच सकी थी। इसका मूल विस्तार क्षेत्र था भारत की तत्कालीन पश्चिमोत्तर सीमा जो अब पश्चिमी पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के नाम से जानी जाती है। चीनी तुर्किस्तान तक इसके प्रसार के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। भारत के भीतरी भाग में पंजाब, मथुरा तथा सिद्धपुर से भी खरोष्ठी के लेख उपलब्ध हुए हैं। किन्तु न उसके आगे मिले हैं और न व्यापक रूप से ही वहाँ पाये गये हैं। इसका अंकन सिक्कों, प्रस्तर खण्डों, बर्तनों पर विशेष रूप से हुआ है। यों तो खोतान से प्राप्त धम्मपद पुस्तक की एक प्रति भी इस लिपि में मिली है जो भोजपत्र पर लिखी हुई है। डॉ॰ ब्यूलर का यह अनुमान है कि यह ग्रन्थ कुषाण शासन काल में गांधार में लिखा गया होगा।

यही कारण है कि यह अल्पायु लिपि जो अल्प क्षेत्रीय भी थी सहसा विनष्ट हो गई। इसके बाद इसका कोई चिह्न यहाँ छूटा हुआ नहीं मिलता है, साथ ही इसके विविध रूप भी ब्राह्मी की तरह नहीं दीखते जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस लिपि का विकास नहीं हुआ। यह अपने मूलरूप में ही समाप्त हो गई। ब्यूलर ने इसके समाप्त होने का एक और तर्क दिया है कि यह साहित्यिक लिपि नहीं थी। इसका प्रयोग समाज में किसी प्रयोजन के लिए ही की जाती थी। किन्तु इस मत के विरोध में डॉ॰ ठाकुर प्रसाद वर्मा का तर्क है कि यद्यपि इसका प्रयोग प्राकृत भाषा के अभिव्यक्ति के लिए किया जाता था, फिर भी संस्कृत साहित्य को लिखने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता था। यह आरोप इस पर अवश्य लगाया जा सकता है कि ब्राह्मी के साथ प्रयोग होने वाली यह लिपि अत्यन्त ही जटिल एवं दुरूह थी जिससे साधारण प्रयोग में इसे लाना कठिन लगता है।

उद्भव के सिद्धान्त

इस लिपि का उद्भव कहाँ हुआ? यह प्रत्येक पुरालिपि के विद्यार्थी के लिए समस्या बना हुआ है। इस समस्या पर दो पक्षों में विचार किया गया है। विचारकों का एक वर्ग इसके विदेशी उद्‌भव पर जहाँ बल देता है वहीं दूसरा वर्ग इसके भारतीय उद्‌भव की दुहाई देता है। इसलिये यहाँ क्रम से दोनों पक्षों का अध्ययन करना आवश्यक है।

अ. विदेशी उद्‌भव का सिद्धान्त

ब. भारतीय उद्‌भव का सिद्धान्त

(अ) विदेशी उद्‌भव का सिद्धान्त—आज भी प्रायः सभी भारतीय लिपियाँ बाएँ से दायें लिखी जाती हैं। किन्तु भारत में अशोक के समय प्रयोग होने वाली ब्राह्मी लिपि जहाँ बाएँ से लिखी जाती थी वहीं खरोष्ठी दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती थी जिस प्रकार उत्तरी सेमेटिक शाखा की अरमेइक लिपि। कुछ अरमेइक अक्षरों की तरह खरोष्ठी अक्षर भी दिखते हैं। अतः इन प्रत्यक्ष उदाहरणों के आधार पर जार्ज ब्यूलर तथा दानी महोदय ने इसके विदेशी उत्पत्ति की बात सिद्ध करने की वकालत की है। इसकी पुष्टि में इन्होंने निम्नांकित तर्क दिये हैं—

(1) ईरानी आक्रमण के बाद खरोष्ठी लिपि का प्रयोग पश्चिमी भाग में पाया जाता है।

(2) इसका प्रयोग भारत के उसी क्षेत्र में हम पाते हैं जहाँ ईरानी आधिपत्य छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध से चौथी शताब्दी ई० पू० तक विद्यमान था।

(3) पारसीक शासकों ने इस लिपि का उपयोग अपनी प्रशासनिक व्यवस्था के लिये किया था।

(4) खरोष्ठी और सेमेटिक लिपि के अक्षरों में बहुत कुछ समता दिखती है, जैसे—दीर्घ स्वरों का अभाव।

(5) अरेमयिक लिपि की तरह यह दायें से बायें की ओर लिखी जाती है।

(6) खरोष्ठी के अभिलेखों में कुछ ईरानी शब्द प्रयुक्त हैं, जैसे—लेखन या लेख के लिए 'दिपि' शब्द का उल्लेख।

ईरानी और भारतीय दफ्तरों में पत्र-व्यवहार के लिए अरमेइक अक्षरों का व्यवहार शुरू हुआ। बाद में पुरानी ब्राह्मी के अनुसार इस लिपि में कुछ क्रम का परिवर्तन प्रारम्भ हुआ जिस क्रम में खरोष्ठी लिपि निकली।

किन्तु ये सभी तर्क डॉ० पाण्डेय द्वारा खण्डित किए जा चुके हैं। पहले तर्क के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि पर्शियन सिग्लास में खरोष्ठी अक्षरों का लिखा जाना इस बात को सिद्ध करता है कि ईरानी आक्रमण के पहले खरोष्ठी एक विकसित लिपि के रूप में यहाँ विद्यमान थी। दूसरे हमको एक भी अभिलेख ईरानी शासकों का उस क्षेत्र मे उपलब्ध नहीं होता जो भारत में उनके अधीन था। तीसरे डॉ० मजुमदार के अनुसार यह संदिग्ध है कि भारत कभी भी ईरानी प्रशासन में रहा हो। यदि रहा होता तो जैसा ऊपर कहा गया है कोई-न-कोई ईरानी प्रशासनिक आज्ञा यहाँ अवश्य प्राप्त होती। चौथे खरोष्ठी में दीर्घ स्वरों के अभाव का कारण यही रहा होगा कि इसका आविष्कार प्राप्त भाषा में लिखने के लिए किया गया हो, जिसमें दीर्घ स्वर स्वतः नहीं मिलते। यह तो सत्य है कि यह दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह अरमेइक लिपि से ही मिलती है जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। अरमेइक लिपि का ही केवल एक मात्र एकाधिकार नहीं है कि अक्षर दाएँ से बाएँ उसी में लिखे जायं। 'दिपि' को ईरानी शब्द स्वीकार करना ब्यूलर की एक महान भूल प्रतीत होती है। संस्कृत में 'दिप' शब्द का प्रयोग बहुलता से पाया जाता है तथा विभिन्न रूपों में। इसका अर्थ है 'चमकाना'। चमकते हुए अक्षरों के लिए दीप या दिपि शब्द का प्रयोग पूर्ण स्वाभाविक है। अंतिम तर्क तो स्वयं ही स्पष्ट करता है कि यह भारतीय उद्‌भव की भाषा है। साथ ही यह

कल्पना है कि ईरानी दफ्तरों से पत्र व्यवहार के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। ब्राह्मी की भारतीय उत्पत्ति सिद्ध हो चुकी है फिर उसकी तरह इसकी विदेशी उत्पत्ति की बात स्वतः अपने में ही निराधार है। अतः यह सिद्ध करना कि खरोष्ठी का अरमेइक लिपि से उद्भव हुआ है, एक मात्र श्रमसाध्य प्रयास है। भारतीय अरमेइक लिपि से परिचित थे जो ईरानी सम्पर्क के द्वारा भारतीयों को ज्ञात थी। इसका स्पष्ट प्रमाण अशोक के अरमेइक लिपि के दो अभिलेख हैं जो तक्षशिला तथा गांधार (अफगानिस्तान) से प्राप्त हुए हैं। यह एक ही साथ अरमेइक और खरोष्ठी लिपियों के साथ-साथ प्रयोग एक-दूसरे का उद्भव नहीं सिद्ध करती अपितु दोनों का स्वतंत्र लिपि के रूप में विकास होना सिद्ध करती है। यह बात दूसरी है कि इन दोनों लिपियों में कुछ समता रही हों। पर यह अस्वाभाविक भी नहीं है। ऐसी समता प्रायः मिलती है।

(ब) भारतीय उद्भव का सिद्धान्त

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खरोष्ठी न कोई विदेशी लिपि है अथवा न इस पर कोई विदेशी प्रभाव ही पड़ा है। तो फिर यह पूर्णतया एक भारतीय लिपि है। इस मत की पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(1) खरोष्ठी लिपि के प्रारम्भिक अभिलेख उत्तरी-पश्चिमी भारत में ही पाये गये हैं। पश्चिमी एशिया में इसका एक भी अभिलेख या लिखित प्रमाण नहीं मिला है।

(2) ईरानी शासक जिनको खरोष्ठी के उद्भव का स्रोत बताया जाता है उन्होंने कभी भी अरमेइक लिपि का प्रयोग अपने प्रशासनिक कार्यों के लिए नहीं किया।

(3) मध्य एशिया में खरोष्ठी लिपि के कुछ अभिलेख तथा लिखित प्रमाण अवश्य मिले हैं। किन्तु यह कहना कि भारतीय खरोष्ठी पहले वहाँ थी उचित नहीं है क्योंकि खरोष्ठी लिपि का प्रयोग सबसे पहले अशोक कालीन भारत में ही मिलता है। उसके बाद के युगों में यह मध्य एशियाई देशों में पायी जाती है। इससे सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि यह लिपि भारत से पश्चिमी एशिया की ओर फैली।

(4) खरोष्ठी लिपि में एक बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' की पाण्डुलिपि चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त हुई है। इस संदर्भ में यह कह सकते हैं कि यदि खरोष्ठी विदेशी लिपि रही होती तो इसमें विदेशी ग्रंथ मिलते किन्तु इस लिपि में भारतीय ग्रंथों का मिलना इस बात को सिद्ध करता है कि यह भारत की लिपि थी जिसका प्रयोग भारतीय ग्रंथों के रचना के लिए विदेशों में भी किया जाता था।

(5) इसमें अनुस्वार तथा संयुक्ताक्षरों का प्रयोग पाया जाता है। अनुस्वार का प्रयोग प्रधानतया भारतीय देन है तथा संयुक्ताक्षरों के भी प्रयोग की भारतीयों की अपनी विधि है। इन दोनों का अनुसरण भारतीय अन्य लिपियों के परिप्रेक्ष में खरोष्ठी द्वारा किया जाना इसके भारतीय उद्भव के संदेह का स्थान ही नहीं छोड़ता है।

(6) यह लिपि भारत के पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेशों में प्रचलित थी। वह भाग सदा बलाधिकारियों द्वारा आक्रान्त रहा। ये बलाधिकारी, जैसा इतिहास बताता है, मूलतः मध्य एशिया से ही होकर आये थे। अतः इनके साथ यह लिपि मध्य एशिया की ओर बढ़ी तथा इसने अपना एक क्षेत्र बना लिया। इसलिए इस लिपि का प्रयोग भारतीय सीमा में बसने वाले बलापहारी यूनानी, बख्त्री, शक, पह्लव जाति के लोगों ने किया है। ईरानी मुहरों पर भी इस लिपि का अंकन इसी बात

को स्पष्ट करता है कि इस मुद्रा का प्रचलन पश्चिमी भारत में था। चूँकि वहाँ की प्रचलित लिपि खरोष्ठी थी इसी से वहाँ के सिक्कों पर इसका अंकन किया गया है।

(7) चीनी विश्वकोष फा-वान-शु-लिन के अनुसार भारत की लिपियों में खरोष्ठी भी एक लिपि बताई गई है जो दाएँ से बाएँ ओर लिखी जाती है।

(8) इस लिपि का जन्मदाता 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति माना जाता है। खरोष्ठ शब्द पूर्णतया भारतीय लगता है।

(9) अगर यह विदेशी लिपि रहती तो भले ही भारत में इसका लेखन समाप्त हो जाता किन्तु पड़ोसी विदेश में तो चलता रहता। पर हम देखते हैं कि गुप्त साम्राज्य के समय व्यापक प्रचलन की लिपि ब्राह्मी को ही एक मात्र प्रश्रय मिला जिससे खरोष्ठी का चलन बन्द हो गया। इसके साथ ही, इसका कोई भी उल्लेख भारत के बाहर के देशों में व्यापक रूप से इसके चलन का नहीं मिलता।

(10) इस लिपि का सम्बन्ध बलापहारी शक्तियों के साथ होने तथा उनके द्वारा इसके उपयोग किये जाने का एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि यह भारत के उस क्षेत्र में प्रचलित थी जो विदेशी बलापहारियों के अधीन बहुत दिनों तक बनी रही।

इन तर्कों के सम्मुख वास्तव में यही सत्य है कि यह भारतीय लिपि थी जिसका उदय, विकास और अन्त सब भारत में हुआ।

अध्याय 4

ब्राह्मी लिपि का विकास

भारतीय लिपि की कथा का ज्ञान अत्यन्त काल का है। पर बहुत पहले से हम अपनी पुरानी लेखन विधियों को भुलाने की स्थिति में रखा गया था जिससे विदेशी सत्ता का आधार हम पर बना रहे। इस अध्ययन के क्रम का प्रारम्भ अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराए गए उसकी धम्म लिपियों से होता है जो ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गये हैं। यों तो कुछ अभिलेख जैसे—सोहगौरा, पिपरहवाँ आदि से प्राप्त हुए हैं जो अनिश्चित रूप से अशोक से पहले के कहे जाते हैं पर उससे हमारे अध्ययन की क्रमिक कड़ी नहीं बैठती। उससे भी पहले सिन्धु घाटी से लिपि का विकास माना जा सकता है। किन्तु वे रेखांकन किस लिपि में किये गये हैं तथा उसके बाद अशोक के समय तक उनके विकास की अवस्थाएँ क्या रही यह एक लुप्त गाथा मात्र बनकर रह जाती है। इस कड़ी को जोड़ना अभी सम्भव नहीं हो सका है। अतः भारतीय लिपि के विकास की कथा का श्रीगणेश अशोक के काल से ही होता है। इसमें भी ब्राह्मी लिपि के विकास की ही अवस्थाएँ हमें ज्ञात होती हैं, खरोष्ठी का नहीं, क्योंकि खरोष्ठी एक अविकसित लिपि के रूप में कुछ सीमित क्षेत्र में थोड़े दिनों तक जीवित रहकर समाप्त हो गई जबकि ब्राह्मी एक लम्बे समय तक भारत के व्यापक क्षेत्र में अपने परिवर्तित रूप के साथ जीवित रही।

ब्राह्मी लिपि की कुछ मौलिक विशेषताएँ सामान्यतया दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे—इनका अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक कोणाकार होना, पीछे इनमें टेढ़े-मेढ़े अक्षरों का प्रयोग भी किया जाना आदि। प्रारम्भ में इनमें दीर्घ मात्राओं का कुछ अभाव-सा दिखता है विशेषतः ई, आदि का। अनुस्वार का प्रयोग भी इसमें प्रारम्भ में नहीं के ही बराबर था। यहाँ दोहरे व्यञ्जनों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता है यथा पक्का के स्थान पर 'पका' अर्थात एक व्यञ्जन से ही काम निकालने की परिपाटी का चलन था।

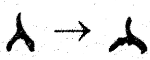
मौर्य कालीन ब्राह्मी लिपि

अशोक के समय से अभिलेखों की व्यापक परम्परा का ज्ञान प्राप्त होता है। ये एक विशेष शैली में सम्पूर्ण भारत में ब्राह्मी लिपि में खोदे गए हैं जबकि शहबाजगढ़ी तथा मानशेहरा (जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में पड़ गए हैं) के लेख खरोष्ठी लिपि में और अफगानिस्तान से प्राप्त अरमेइक तथा यूनानी लिपि में मुद्रित है। इनमें ब्राह्मी लिपि वाले ही यहाँ हमारे अध्ययन की सामग्री है। ये लेख, शिला, स्तम्भ, फलक और गुहाओं में अंकित है। इनकी भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। ये राजाज्ञाएँ हैं जो सर्वत्र एक ही रूप में पाई गई हैं। यह बात भी दिखाती है कि स्थान-स्थान पर लेखन की बनावट में थोड़ा अन्तर ज्ञात होता है। इस आधार पर डॉ० ब्यूलर तथा डॉ० पाण्डेय ने इसके लेखन में स्थानीय प्रकारों का अनुमान लगाया है। किन्तु महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसमें स्थानीय प्रभाव को बहुंत ही आंशिक रूप में स्वीकार किया है और विभेद का कारण लेखकों के हाथों का

कौशल या सजावट की गति माना है। डॉ० चन्द्रिका सिंह उपासक आदि बाद के अन्वेषकों ने यह तथ्य खोज निकाला है कि अशोक कालीन ब्राह्मी की उपशाखायें अथवा क्षेत्रीय प्रकार नहीं बनी थीं। भिन्नता का कारण स्थानीय लेखकों के हाथ का अन्तर मात्र रहा होगा। इसकी पुष्टि स्वतः अशोक के अभिलेखों के विभिन्न वर्गों पर अंकित लिपि को देखने मात्र से ही हो जाती है। उसके शिलालेखों की लिखावट भद्दी हैं, पंक्तियाँ कुछ टेढ़ी हैं, अक्षरों की बनावट कुछ कोणाकार हैं आदि। इनसे ज्ञात होता है कि पत्थरों पर अंकन के लिए स्थानीय कलाकारों का उपयोग किया जाता था जिससे भद्दापन दिखता है। ठीक यही बात गुहा लेखों में भी दिखती है। किन्तु उसके फलक लेख जो एकमात्र भाब्रा से मिलता है शिलालेखों एवं गुहालेखों की अपेक्षा अधिक सुन्दर, स्वच्छ और कलात्मक है। इससे भी अच्छा लेखन हमको अशोक के स्तम्भों पर मिलता है जो सीधी रेखाओं में, मानक अक्षरों में, साफ-साफ, कलात्मक तथा स्पष्ट अंकन में खुदे दीखते हैं। सम्भवतः राजकीय कलाकार इसके अंकन के लिए प्रयोग किये जाते होंगे तभी यह विभेद यहाँ दिखता है।

इस समय की ब्राह्मी अक्षरों की विशेषताएँ निम्न हैं—

1. इसके अक्षर सीधी रेखा में बने हैं तथा मोड़ कर कोणाकार बनाए जाते हैं। किन्तु कहीं-कहीं गोलाकार आकृति भी इनकी दीखती है यथा—

 (त)  (ग) आदि।

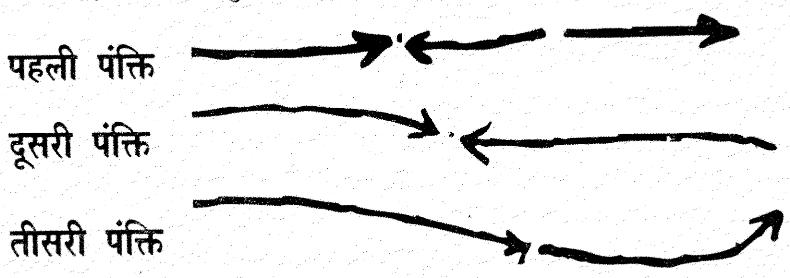
2. अक्षरों की ऊँचाई लगभग समान बनाई गई है, यथा— आदि।

3. इसको बनाये रखने के लिए संयुक्ताक्षरों के लेखन में भी अक्षरों की आकृति को छोटा करके ऊँचाई में समता बनाने का प्रयास किया गया है। यथा—

 (भ्य),  (म्य) आदि।

4. पंक्तियाँ पूर्णतया सीधी रखने का प्रयास किया गया है, फिर भी कभी-कभी उनमें टेढ़ापन दिखाई पड़ जाता है जैसे—नीचे एरागुड्डी वाले अभिलेख की पंक्ति से स्पष्ट हो जायगा।

5. इसकी लिखावट बायें से दायें की ओर है। केवल एरागुड्डी अभिलेख में कुछ अन्तर दिखाई देता है। कहीं-कहीं एक ही पंक्ति में कुछ शब्द बायें से दायें लिखे गये हैं और कुछ दायें से बायें। यथा—



किन्तु यही प्रचलित रीति हो तथा बाद के युगों में इसी का चलन हो गया हो ऐसा भी हमको ज्ञात नहीं होता।

6. ये अक्षर सामान्यता नीचे की ओर ही खुले हैं। ऊपर की ओर प्रायः सीधे उठते हुए ही दीखते हैं

यथा— (ग) + (क) (क्तं) (द) आदि किन्तु म → तथा झ →

ये दो अक्षर ही ऐसे दिखते हैं जो ऊपर की ओर मुँह खोले हुए हैं।

7. ऊपर के उदाहरणों से यह भी द्रष्टव्य है कि ये अक्षर सीधी रेखाओं से निर्मित हैं। इनके बीच में या नीचे दूसरी खड़ी या आड़ी रेखायें जोड़कर विभिन्न अक्षरों का निर्माण किया गया है, यथा—( ) -जोड़कर ('क') जोड़कर (य) जोड़कर ('ह') इत्यादि।

8. इनमें ह्रस्व, दीर्घ तथा अनुनासिक का प्रयोग समुचित रूप से प्रचलित दिखाई पड़ता है यथा—
'देवानंपिय पियदसिनो लाजा हेवं आहा,



9. इनके शिरो-भाग खुले हैं (च, छ)। इनमें किसी पर भी शिरोरेखा (हेडलाइन) का अभाव है। (I) में जो शिरोरेखा दिखती है वास्तव में वह शिरोरेखा नहीं है। (T) से भिन्नता लाने के लिए यह अक्षर की बनावट है।

10. ज्यामित आकृतियों की तरह अर्द्धवृत्त, वृत्त, कोण, खड़ी रेखा, बिन्दु आदि के सहयोग से इन के इन अक्षरों का निर्माण हुआ है, यथा—

(ट), (ठ), (ग), (र), ∴ (इ) आदि।

11. प्रायः संयुक्तक्षरों का प्रयोग बचाया गया है, किन्तु यदि कहीं हुआ है तो उनमें एक निश्चित सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। पहले उच्चारण किये जाने वाले अक्षर को ऊपर लिखते थे तथा बाद में उच्चारण किये जाने वाले अक्षर को नीचे जैसा ऊपर 3 के उदाहरण से स्पष्ट होता है। किन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। यथा— (व्र)। किन्हीं स्थानों पर ऊपर-नीचे संयुक्ताक्षर न लगाकर मूलाक्षर के साथ ही मिलाकर बगल में लिख दिया गया है। यथा—ब्र इसके बाएँ की टेढ़ी रेखा 'र' है और शेष 'ब' का भाग है। हो सकता है कि यह लेखक की गलती रही हो।

12. लघु शिलालेख सिद्धपुर तथा एरानगुड्डी में 'अ' अक्षर जो द्रष्टव्य है वह इन दोनों में पहले अभिलेख में यह मोटा है तथा दूसरे में पतला है, यथा— , इसमें मोटाई और पतलाई सर्वत्र समान है ऐसा नहीं कि एक ही अक्षर का एक सिरा मोटा हो और दूसरा भाग पतला हो। लगता है कि किसी कतकटी कलम से नहीं अपितु शलाका से यह पहले चिह्नित करके पीछे टंकित किया गया होगा। डॉ० नारायण तथा ठाकुर प्रसाद ने इसे 'शलाका प्रविधि' की संज्ञा दी है।

डॉ० ब्यूलर आदि विचारकों का मत है कि अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि मूलतः शैली के आधार पर दो कोटियों में विभक्त की जा सकती है—उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली। यह अन्तर कुछ अक्षरों के बनावट के आधार पर ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। यह भी धारणा है कि स्थानीय प्रभाव के कारण उत्तरी ब्राह्मी शैली के अक्षरों को तीन उप-कोटियों में भी विभक्त किया जा सकता है—एक

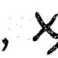
में कौशाम्बी, निग्लवासागर, रमपुरवा आदि के अभिलेखों के अक्षर, दूसरे में भरहुत, साँची, सासराम और बरगबर आदि अभिलेखों के अक्षर तथा तीसरे में धौली, मेरठ, बैराट तथा रानी द्वारा उत्कीर्ण कराये गये गुहालेखों के अक्षर। किन्तु आधुनिक शोधकर्ता डॉ॰ ठाकुर प्रसाद, डॉ॰ चन्द्रिका प्रसाद उपासक आदि का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत उचित नहीं है। जो अन्तर हुआ है, वह मात्र आधार के अव्यवस्थित होने तथा लेखकों के कारण रहा होगा न कि शैली के अन्तर के कारण।

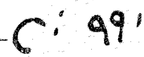
जैसा ऊपर कहा गया है कि इस समय उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश पर एक और लिपि प्रचलित थी जिसे खरोष्ठी की संज्ञा दी जाती है। भारत में उसके दो अभिलेख इस लिपि में खुदे हैं— शाहबाजगढ़ी और मानशेहरा। स्थान ये अब पश्चिमी पाकिस्तान में पड़े गये हैं। इस लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं—

(1) इसके अक्षर कुछ अधिक टेढ़े-मेढ़े तथा भिन्न-भिन्न ऊँचाई के हैं यथा—

 (भ),  (घ),  (च),  (क)

(2) कुछ अक्षर सीधी रेखा पर बने हैं तो कुछ तिरछी और झुकी रेखाओं पर। यथा—

 (थ),  (झ),  (फ),  (य) आदि।

(3) इसमें दीर्घ मात्राएँ नहीं हैं, यथा—  आदि।

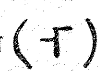
(4) अं की मात्रा अक्षर के नीचे लगती हैं—  (थं)।

(5) गोल आकृतियों से निर्मित अक्षरों का बहुत कुछ अभाव ही दिखता है।

(6) कोणदार रेखाकृतियों एवं लहराती हुई रेखाओं का प्रयोग बहुतायत से दीखता है।

(7) ब्राह्मी की अपेक्षा इसके अक्षरों को अभ्यास करने तथा याद रखने में अत्यन्त कठिन हैं।

किन्तु इस लिपि का आगे विकास नहीं हो सका। इसका कारण है कि अशोक के बाद यह लिपि प्रयोग में लगभग बन्द हो गयी। तभी से इस लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख उस भाग से, अभी तक नहीं मिल सके हैं।

अशोक के बाद उसके पौत्र दशरथ के समय के तीन अभिलेख नागार्जुनी पहाड़ी की गुफाओं से प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख आकार में छोटे हैं। इसी प्रकार के दो अन्य अभिलेख उत्तर प्रदेश के नैपाल तराई में स्थित सोहगौरा तथा पिपरहवाँ नामक स्थानों से भी प्राप्त हुए हैं जो 'देवनांपियदशि लाजा' के सम्बन्ध में हैं किन्तु उसमें राजा का नाम अज्ञात है तथा लिपि मौर्य कालीन ब्राह्मी है। इनमें ब्राह्मी के अक्षर अशोक के अभिलेखों से भिन्न हैं। पं॰ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा इन्हें बुद्ध के निर्वाण के तुरन्त बाद का माना है। किन्तु इनके अक्षरों में तथा दशरथ के लेख के अक्षरों में बहुत कुछ समता दीखती है। इसलिये ये भी इसी काल के कहे जा सकते हैं। यह विचार 'एण्टीफ्यूटीज ऑफ दी तराई ऑव नैपाल' के लेखक पी॰ सी॰ मुखर्जी, डॉ॰ उपासक तथा डॉ॰ ठाकुर आदि का भी है। इनके अक्षर कुछ छोटे हो गये हैं तथा पहले की अपेक्षा यह अधिक गोलाको है। 'स' अब 'ष' की तरह लिखा गया है। 'ओ' की मात्रा में भी सुधार दीखता है। यहाँ अब तक दो आड़ी रेखाओं द्वारा  यह लिखा जाता था वहीं अब एक ही आड़ी रेखा द्वारा लिखा जाने लगा ।

मौर्य काल के बाद कुषाण काल के प्रारम्भ तक

मौर्य काल के बाद भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। इस समय मगध की गुरुता उतनी नहीं बनी रही। उत्तर तथा दक्षिण में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई जिनमें कुछ विदेशी शासक भी थे। शक-क्षत्रप इसी समय पश्चिम तथा उत्तरी-पश्चिम भारत में आए जो कुछ समय तक यहाँ बने रहे। यवन बख्त्री भी यहाँ आये थे। शक-क्षत्रप शाखा दक्षिण-पश्चिम में भी फैली थी। यहीं सातवाहन वंशी शासक भी शासन करते थे। इनके तथा स्थानीय शासकों के सम्बन्ध में अनेक लेख इस समय ब्राह्मी में मिलते हैं यथा—शुंग राजाओं के अभिलेख, कलिंगाधिपति खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख आदि। चूँकि ये सभी लेख विभिन्न क्षेत्रों में खुदे हुए मिले हैं अतः इनके अक्षरों की बनावट में स्थानीय कौशल एवं चलन के अनुसार अन्तर आना स्वाभाविक था। यही अन्तर स्थानीय शैलियों के निर्माण का संकेत करते हैं जो पीछे विकसित हुईं। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि इस समय के सभी अभिलेखों की लिपि मौर्ययुगीन ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के ही अनुरूप हैं जो थोड़े बहुत अन्तर के साथ अंकित की गई हैं मुख्यतः ये अन्तर निम्न हैं—

(1) मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में 'अ' के ऊपर पड़ी लकीर लगातार प्रायः 'आ' ( ) बनाते थे। पर जब मात्रा जोड़ने में थोड़ा अन्तर हुआ तब 'आ' के लिए 'अ' के बीच में पड़ी लकीर जोड़ा जाने लगा ( )।

(2) 'इ' की मात्रा पहले कुछ गोलाकार होती थी ( ) किन्तु अब कुछ छिछलापन लिये गोलाकार दीखती है, यथा— ('खी'–भरहुत) ('खी'–मथुरा) ।

(3) अनुस्वार के लिये विशेष रूप से अक्षरों के दायें किनारे पर बिन्दु ऊपर की ओर लगाया जाने लगा— (तं), (धं) आदि।

(4) गिरनार के अभिलेख में कोणदार 'इ' का बड़ा ही स्पष्ट प्रयोग मिलता है।

(5) 'र' का प्रयोग संयुक्ताक्षर में करने के लिए कोई एक नियम का अभाव दीखता है। कभी यह बगल में लगा है (द्र) तो कभी नीचे की ओर (प्रा)।

(6) जब दो अक्षरों को संयुक्त करना होता था तो जोड़ा जाने वाला अक्षर मूल अक्षर के नीचे जोड़ा जाता था लेकिन अक्षर का अनुपात बनाये रखने के लिए मूल अक्षर की अपेक्षा संयुक्त अक्षर छोटा होता था, यथा— (भ्या), (म्ह)।

(7) अब अक्षर पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ तथा पुष्ट दिखाई पड़ते हैं।

(8) डॉ० ठाकुर प्रसाद के अनुसार उस समय जिस लेखनी का प्रयोग होता था उसकी कत-कटी होती थी। इससे अक्षरों की आकृति में मोटाई तथा पतलाई इच्छानुसार दीखती है। यह अधिकांश अक्षरों में उभर पड़े हैं, जैसे— (त) (द) आदि।

(9) अक्षरों के आधार चपटे होने लगे (म) (व) (ह)।

(10) एक प्रकार का त्रिकोणात्मक शीर्ष अक्षरों में दीखता है, जैसा कि ऊपर 'त' 'म' आदि से स्पष्ट है। संभवतः यही पीछे चलकर शिरोरेखा वाले शीर्ष का रूप ले लिया।

(11) अशोक के काल में अक्षर अधिक लम्बे और कम चौड़े होते थे । किन्तु अब लम्बाई और चौड़ाई समान दीखने में आती है।

(12) दीर्घ स्वरों का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा क्योंकि अब इसकी भाषा संस्कृत हो गयी। स्वर में मात्रा जोड़कर दीर्घ स्वर बनाये जाते थे। (अ), (ऐ) आदि।

(13) विसर्ग चिह्नों का प्रयोग मिलने लगा। ये चिह्न आजकल विसर्ग के लिए प्रयोग किए जाने वाले चिह्नों की तरह बनाये जाते थे।

(14) व्यंजनों में ऋ का प्रयोग मिलता है, यथा— "वृ"।

(15) नये अक्षरों का चलन मिलता है जिन्हें संयुक्तक्षरों के माध्यम से लिखा जाता था, यथा—
क्ष (क + ष या ख) = या , ज्ञ (ज + ञ =)।

डॉ० ठाकुर प्रसाद के अनुसार इन परिवर्तनों के लिए दो तत्त्वों को उत्तरदायी बताया जा सकता है—एक अक्षरों का सरल स्वरूप तथा दूसरा उनका अधिक प्रयोग होना।

(अ) स्थानीय विशेषताएँ

(क) गिरनार—इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ स्थानीय विशेषताएँ भी विशेष क्षेत्रों में दीखती हैं। गिरनार के अभिलेखों में सामान्य लेखों की अपेक्षा अधिक अनियमितता दिखाई पड़ती है—

(i) संयुक्ताक्षरों में नीचे वाले अक्षर का चिह्न अधिक कोणाकार बनाया जाने लगा।

(ii) संयुक्ताक्षरों में संयुक्त किये जाने वाले अक्षर सुविधानुसार कभी-कभी मूल अक्षर के पहले भी रखे जाने लगे।

(iii) 'र' का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता था।

(ख) उड़ीसा-हाथी गुंफा—खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख के अध्ययन से अक्षरों की बनावट में कुछ अन्य विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं। शुंगकालीन अभिलेखों से भी यही ज्ञात होता है—

(i) अक्षरों का निचला भाग पहले की अपेक्षा अधिक चौड़ा होने लगा। यथा—

(ग), (त), (प), (ह)

(ii) सीधी रेखा वाले अक्षरों का शिरोभाग कुछ मोटा होने लगा। पर जिनमें सीधी रेखा नहीं होती थी उनमें प्रारम्भ तथा अन्त वाले भाग ही मोटे होते थे जैसा ऊपर 'ग' और 'त' के अन्तर से स्पष्ट होता है।

(iii) 'अं' की मात्रा प्रायः अक्षर की बायीं ओर बिन्दु लगाकर व्यक्त किया था किन्तु यहाँ 'लिं' लिखने में बायीं ओर अनुस्वार लगाया गया है, यथा— ।

(iv) 'आ' की मात्रा प्रायः अक्षरों के बीच में ही लगी हुई दीखती, यथा—

 (जा)  (रण) आदि।

(v) खड़ी लकीरों वाले अक्षरों में खड़ी लकीरें नीचे की ओर बढ़ गयी हैं, यथा— (अ)

(ग) क्षत्रपों के अभिलेख—क्षत्रपों के अभिलेखों के अक्षरों की बनावट में भी जो लगभग इसी समय के हैं, कुछ अन्तर दीखता है। ये क्षत्रप दो क्षेत्रों में थे—उत्तर और दक्षिण में। जहाँ रंजुबल और शोडास के लेख मथुरा तथा उसके पड़ोसी क्षेत्र में मिले हैं, वहीं रुद्रदामन, नहपान आदि के सम्बन्ध के लेख दक्षिणी भारत में मिले हैं। अतः इन दोनों क्षेत्रों में अक्षरों की बनावट में कुछ स्वाभाविक अन्तर स्पष्ट रूप से दीखता है—

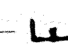
(i) केवल 'ल' को छोड़कर सभी अक्षरों को ऊपर की सीधी रेखाएँ एक ऊँचाई की बनने लगीं— (ल)  (न)  (प)  (फ)।

(ii) यहाँ कलम की कत कुछ अधिक चौड़ी दीखती है। इसी से अक्षरों में मोटाई बनी हुई है।

(iii) ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि अक्षर अधिक ठिगने होने लगे थे।

(iv) 'य' की बनावट बदल गयी। नीचे का कुछ भाग कुछ अधिक चौड़ा होने लगा थी—  (य)।

(v) कुछ व्यंजनों के ऊपर लकीर का प्रयोग होने लगा, यथा—  (त),  (च),  (छ)

(vi) 'घ' की बनावट पहले की अपेक्षा अधिक कोणदार होने लगी—  (घ)।

(vii) 'च' और 'द' कुछ अधिक आगे और लम्बे घसीट अक्षरों की तरह घुमावदार दिखाई देने लगे।

(viii) इन लेखों में पहली बार मध्यम 'इ' का प्रयोग हुआ।

कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि

बलापहारी कुषाण शासकों के अभिलेख भारत में मिले हैं। इनमें मुख्यतया लेख कनिष्क, हुविष्क, वासिष्क आदि के समय के हैं। ये अभिलेख प्रायः मथुरा और उसके आस-पास के क्षेत्रों से बहुतायत से प्राप्त हुए है। इनमें से कुछ तिथि युक्त भी हैं। पूर्वी राजस्थान और साँची आदि से भी इन राजाओं के कतिपय अभिलेख प्राप्त होते हैं। इस समय लिपि में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इसका कारण यह था कि अब तक अभिलेखों की भाषा प्राकृत थी। पर अब व्यापक रूप से संस्कृत का प्रयोग होने लगा। अतः कतिपय नये अक्षरों का प्रयोग होना नितान्त स्वाभाविक था। दूसरा कारण था कि कुषाण शासकों के समय तक डॉ॰ दानी के अनुसार लिपि-शास्त्र के प्रयोग के आधार पर भारत को चार प्रमुख क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है—पश्चिमोत्तर भारत—मथुरा और उसका समीपवर्ती क्षेत्र; पूर्वी भारत—कौशाम्बी, बौधगया आदि का क्षेत्र; पश्चिमी भारत—मध्य प्रदेश,

गुजरात, महाराष्ट्र का क्षेत्र तथा दक्षिणी भारत—आंध्र, तमिलनाडु का क्षेत्र। इससे अक्षरों में भिन्नता होने से सामान्य अक्षरों का नया रूप होना नितान्त स्वाभाविक था। इन तथ्यों को ध्यान में रख कर अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि कुषाण कालीन लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

(i) डॉ॰ ब्यूलर के अनुसार कुषाणकालीन अक्षर बौने और चौड़े होने लगे—

 (ह),  (स),  (य)

(ii) ऊपर के अक्षरों के उदाहरण से स्पष्ट होगा कि इस समय कलम की कत पहले की अपेक्षा अधिक मोटी तथा पतली दोनों ही प्रकार की होती थी तभी अक्षरों की बनावट में इतना गहरा उतार-चढ़ाव दिखाई देता है।

(iii) दीर्घ स्वरों का प्रयोग इसके पहले इतना अधिक प्रचलन में नहीं मिलता था जितना इस समय क्योंकि संस्कृत में दीर्घ स्वरों का प्रयोग किया जाता है। अतएव दीर्घ स्वरों का स्थायी रूप अब बना। इसके लिए ह्रस्व में ही थोड़ा अन्तर करके उसका दीर्घ रूप बनाया जाता था यथा—

ए  ऐ  उ  ऊ  आदि। यहाँ मात्रा जोड़कर उनका दीर्घ रूप बनाया गया है।

(iv) संस्कृत में अनुस्वार और विसर्ग का प्रयोग किया जाता है उसके लिए यहाँ अक्षरों के ऊपर एक बिन्दु लगाकर अनुस्वार बना दिया जाता था  (नं)। विसर्ग के लिए आधुनिक प्रणाली के अनुसार अक्षर के ऊपर और नीचे दो बिन्दु लगा कर विसर्ग बनाया जाता था। यह अभिलेख में पहली बार दिखाई पड़ता है।

(v) एक नया व्यंजन  मराठी अक्षर का प्रयोग सांची आदि से प्राप्त अभिलेखों में देखने को मिलता है। साँची में इसकी लिखावट इसी प्रकार है। आज भी गंगाधर तिळक में (ड) के आस-पास कुछ उच्चारण के लिए ळ मराठी अक्षर का ही प्रयोग किया है। इसका उत्तरी भारत में अपना उच्चारण नहीं है।

(vi) 'अ' की बनावट नागरी लिपि की तरह होने लगी— 

(vii) 'आ' की मात्रा पहले की अपेक्षा अब नीचे लगने लगी— 

(viii) 'उ' की मात्रा कुछ बाई ओर मुड़ी हुई बनने लगी—  (थु)  (भु)

(ix) 'ण' की ऊपरी लकीर अब बीच में घुमी हुई होने लगी—  (ण)।

(लगता है यह दो अर्द्धवृत्त रेखाओं के योग से बना हो।)

(x) 'ऋ' का प्रयोग भी होने लगा। इसके लिए अक्षर के नीचे एक तिरछी रेखा जोड़ दी जाती थी— वृ 

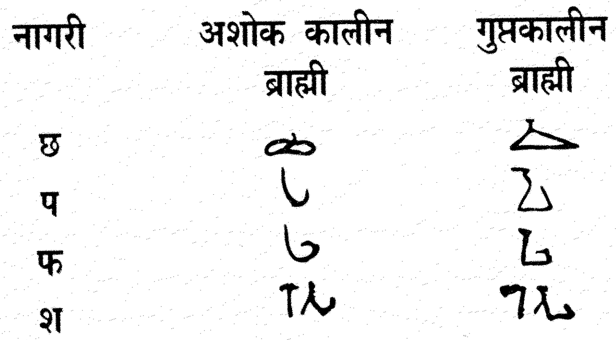
(xi) डॉ॰ ब्यूलर के अनुसार इन लेखों की लकीरें चौड़ी और मोटी हैं तथा किसी ऐसी लिपि का अनुकरण किया गया है जिसका स्याही से आलेख लिखी गया हो।

गुप्तकालीन अक्षरों का विकास

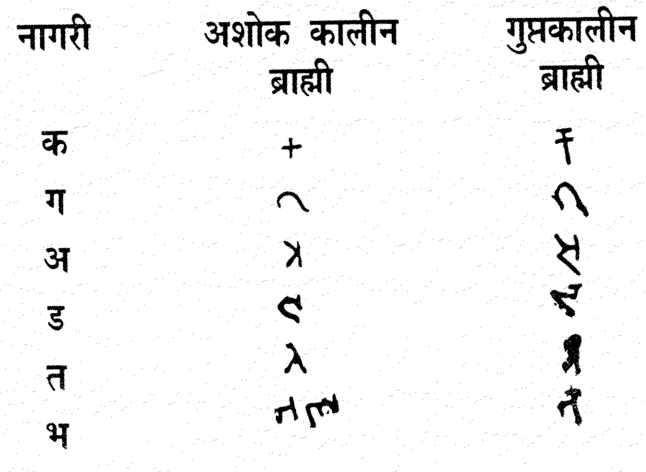
प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकाल एक अत्यन्त समुन्नत युग था। इस समय के इतिहास के सभी स्रोत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। प्रायः समुद्रगुप्त से लेकर सभी गुप्त राजाओं के अभिलेख भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं। इस समय तक ब्राह्मी लिपि का विविध क्षेत्रों में विकास हो चुका था, जैसा ऊपर देखा गया है। अक्षरों की बनावट के नवीन प्रयोगों में यह लिपि निरन्तर विकसित होती गई जैसे गिरनार के अभिलेख में अक्षरों के शीर्ष भाग पर लकीर का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था तथा कुषाणकाल में मौर्यकाल के गोलाकार अक्षरों की अपेक्षा कोणदार अक्षरों का निर्माण होने लगा। पारस्परिक विकास क्रम में गुप्तकालीन अक्षर एक नवीन कड़ी प्रतीत होते हैं।

इस समय अक्षरों के स्वरूप तथा मात्राओं के आकार में भी परिवर्तन दिखाई देता है। इस दृष्टि से लगता है कि गुप्तकाल में ब्राह्मी लिपि ने एक नया मोड़ ले लिया था। इसका ज्ञान अशोककालीन ब्राह्मी लिपि से इसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकता है। इस अध्ययन के द्वारा गुप्त लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

(1) गुप्तकाल पूर्व ही अक्षर कोणदार बनने लगे थे, किन्तु इस समय इनका स्वरूप पूर्णतया कोणदार होने लगा यथा—

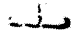


(2) कुछ अक्षरों की दाहिनी भुजा पहले की अपेक्षा अधिक लम्बी होने लगी थी



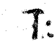
(3) विसर्ग का प्रयोग नये प्रकार के चिह्नों को लगाकर किया जाने लगा। 'क' तथा 'प' को छोड़कर शेष अक्षरों के साथ पूर्ववत् ऊपर और नीचे दो बिन्दु लगाकर विसर्ग लिखते थे। किन्तु 'क' के साथ इसके पहले × तथा 'प' के साथ इसके पहले  चिह्न बनाकर किया जाने लगा। '×' चिह्न को जिह्वामूलीय तथा को  उपधमानीय नामों से सम्बोधित किया जाता है।

(4) गुप्तकाल में शिला लेखों के अतिरिक्त मुद्राओं पर भी अक्षरों का अंकन बहुलता से हुआ है . किन्तु इनमें अन्तर है। शिलाओं पर अंकित इस काल के अक्षरों की अपेक्षा मुद्राओं पर अंकित अक्षर निम्न प्रकार की आकृति के हैं—

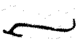
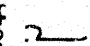
नागरी	मुद्रा के अक्षर	अभिलेख के अक्षर
य		
म		
ल		

प्रायः ये परिवर्तन गुप्त राजाओं द्वारा पूर्वी भारत से प्रचलित सिक्कों में ही पाए गए हैं। इसलिए इन अक्षरों को पूर्वी प्रकार के अक्षर कहते हैं। पश्चिमी तथा दक्षिणी भारतीय गुप्त अभिलेखों में इनका नितान्त अभाव है। फिर भी उदयगिरि की गुफाओं में उत्कीर्ण कराए गए अभिलेख में 'य' तथा 'प' की बनावट यथावत है, यथा—  (य)  (प)। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र से ही लेखक विभिन्न स्थानों पर भेजे जाते थे जो अपनी परिपाटी से अक्षरों को अंकित करते थे। इसी से यह परिवर्तन यहाँ दिखाई देता है। दक्षिणी भारतीय प्रभावती गुप्त के पूना प्लेट में भी इसी प्रकार के अक्षरों के होने के लिए भी यही कारण उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

(5) मात्राओं का प्रयोग एक नवीन रीति से यहाँ किया जाने लगा—

नागरी	अशोक कालीन ब्राह्मी	गुप्तकालीन ब्राह्मी
इ		
कि		
उ		
कु		
ऊ		
कू		

गुप्त शासकों के अन्तिम चरण में अक्षरों और मात्राओं दोनों के स्वरूप में परिवर्तन हो चुका था। इसका कारण लगता है कि वहाँ क्षेत्र की व्यापकता थी तथा रुचि की विविधता थी। ऊपर हमने देखा है कि अक्षरों की दाहिनी भुजा लम्बी होती थी। पर इस चरण में आते-आते यह पहले से भी अधिक लम्बी होने लगी, यथा—त–  , व-  इनको देखने से स्पष्ट होता है कि दाहिने हाथ की रेखा का निचला भाग शीर्ष के रूप से और अधिक बढ़ा दिया गया। दूसरी ओर कुछ अक्षरों में विशेष विकास दिखाई देता है जिसकी अगली कड़ी कुटिल लिपि के आकार की ओर बढ़ती हुई ज्ञात होती है। ये अक्षर हैं—ष, म, भ आदि। इस समय के विष्णुगुप्त के मंगराव अभिलेख को देखने से ज्ञात होता है कि मात्राओं में भी अन्तर आ गया था, यथा—

आ  इ  ई  ए 

(य) बाक्स शीर्ष अक्षरों की विशेषताएँ

दक्षिण भारत में इसी समय वाकाटक राजा शासन करते थे। इनके विभिन्न अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनके भी अक्षरों का स्वरूप यद्यपि गुप्त काल की तरह ही है मगर इनकी शिरोरेखा गुप्त कालीन अक्षरों की शिरोरेखा से भिन्न है। यहाँ पड़ी शिरोरेखा के स्थान बक्स की तरह की आकृति बना दी गई है। इनको  बाक्स हेडेड—अक्षर कहते हैं जबकि पड़ी लकीर वाले अक्षरों को जो उसी समय उत्तरी भारतीय अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं—नेल हेडेड—अक्षर कहते हैं। ये बाक्स हेडेड अक्षर लगभग सम्पूर्ण दक्षिण भारतीय वाकाटक अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं, यथा— + अशोक कालीन  गुप्त कालीन  वाकाटक अभिलेख। यहाँ बाक्सहेड देखकर इतना ही मात्र अनुमान होता है कि लिपि में नवीनता नहीं लाई गई उसमें सौष्ठव जोड़ने के लिए उसके सिर वाले भाग में थोड़ी कलात्मकता का समावेश कर दिया गया—

(1) इन अक्षरों के शीर्ष पर बाक्स की आकृति बना होती है यथा—

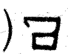
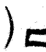
(उ)  घ 

(2) इस प्रकार के अक्षरों का प्रयोग दक्षिण भारत में वाकाटक राजाओं के अभिलेखों में मिलता है।

(3) ये बाक्स कभी-कभी ऊपर और नीचे दोनों ही ओर बने होते हैं यथा—

(व)  न  (च) 

(4) अक्षर प्रायः चौकोर और खड़ी रेखाओं के योग से बने हैं—

(ख)  (ए) । (ह) 

(5) नीचे जहाँ बाक्स नहीं बने हैं वहाँ बाक्स की आकृति बनी है—

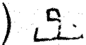
र  भ 

(6) इन अक्षरों का मुँह प्रायः ऊपर की ओर खुलते हैं, किन्तु निम्न पाँच अक्षरों का मुँह नीचे की ओर खुलते हैं—

(ग) , (ण) , (त) , (ई)  और (श) 

(7) केवल दो अक्षर ज और ट का मुँह दाईं ओर खुला होता है—

(ज)  (ट) 

(8) अन्य जिन अक्षरों का मुँह किसी ओर नहीं खुला है, वहाँ केवल बाक्स बना है। उनमें नीचे की रेखाएँ ऊपर की ओर उठती हैं— (य) 

(9) मात्राएँ भी सीधी रेखाओं के योग से बनी हैं—

(उ)  (आ)  (ए)  (ऊ) 

इस प्रकार गुप्त लिपि के अन्तिम चरण में कुछ नवीन प्रयोग हुए। इनमें अक्षरों के ऊपर किया गया प्रयोग लिपि को एक नवीन दिशा दिया जिससे बाद में कुटिल लिपि का विकास हुआ।

(र) कुटिल लिपि

छठी शताब्दी ई॰ से लेकर नवीं, दसवीं शताब्दी तक अक्षरों के लिखने के क्रम में जो परिवर्तन आया उसे साधारणतया गुप्त कालीन अक्षरों से भिन्न पाते हैं। ये अक्षर डॉ॰ फ्लीट, डॉ॰ प्रिंसेप आदि विचारकों के अनुसार कुटिल लिपि नाम से पुकारे गए है। पर डॉ॰ ब्यूलर इस मत से सहमत नहीं हैं। इन्हीं की तरह श्री कीलहार्न महोदय ने भी कुटिल अक्षरों की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। इनका विरोध इस नामकरण से है।

फिर भी चाहे जो नाम दिया जाय 588-89 ई॰ के लगभग के उत्कीर्ण अभिलेखों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस समय अभिलेखों में अक्षरों के लिखने की परम्परा में अक्षर दाएँ की अपेक्षा बाएँ ओर झुके होते थे। इन अक्षरों में कोणाकार या कुटिलता इनके निम्न भाग में अथवा दाहिनी ओर होती थी। सीधी रेखाओं के छोर भी कुछ एक ओर को झुके होते थे तथा कुछ झुकी रेखा खींची जाती थी।

सातवीं शताब्दी के अभिलेखों के अक्षरों की आकृति विशेष कोणाकार होती थी। 'स' का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक गोलाकार होने लगा।

इसी प्रकार क्रमशः अक्षरों का स्वरूप परिवर्तित होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे बदलते हुए ये अक्षर देवनागरी के स्वरूप में आने लगे। 11वीं तथा बारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में बने अक्षरों का स्वरूप बहुत अंशों में देवनागरी के आधुनिक अक्षरों से मिलता-जुलता है। उसी का विकसित स्वरूप पीछे चलकर देवनागरी लिपि के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

●

अध्याय 5

भारतीय अभिलेख

अभिलेखों का महत्त्व

प्राचीन भारत में कोई हेरोदोतास नहीं हुआ था जो यहाँ का व्यवस्थित इतिहास लिख छोड़ा हो। प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के लिए हमें अनेक सामग्रियाँ जुटानी पड़ती हैं। उनमें से प्रायः मूक सामग्रियाँ ही अधिक है जिनकी मूक भाषा में ही मुखर कथा सुननी पड़ती हैं। साथ ही वह भी इतनी उलझी गुत्थी है कि उसको इतिहास की कसौटी पर रखकर सुलझाना भी बहुत सरल नहीं है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजतरंगिणी जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के अभाव तथा इतिहासकार की स्पष्ट वाणी की कमी ने हमारा इतिहास ही अन्धकार में रख छोड़ा हो। फिर भी हमारे पास इतने साधन हैं कि उसको जोड़कर हमारा सारा का सारा का पुराना इतिहास बड़ी सरलता एवं वैज्ञानिकता से तैयार किया जा सकता है। इसके मूल स्रोतों में एक पठनीय स्रोत है अभिलेख जो भारत भूमि में बिखरे पड़े हैं। आवश्यकता है इनके पढ़ने और समझने की। इनके द्वारा हमारा अतीत पुनः अपने वास्तविक रूप में जीवित हो उठता है तथा सत्य की अनवरत धारा में अपने ही इतिहास सुनाने लगता है। ये अभिलेख भले ही राजाश्रित या व्यक्तिगत छाया में खुदे हों पर इनमें ऐसी ऐतिहासिक सामग्रियाँ संजोई गई है जो समकालीन हैं, सत्य हैं तथा विश्वसनीय हैं।

कुछ तो हमारे इतिहास में ऐसे शासक और राजवंश हुए हैं जिनका ज्ञान भी हमको न होता यदि उसका अभिलेख न प्राप्त होता और यदि उनका ज्ञान होता भी अन्य स्रोतों से तो बड़े ही सांकेकित रूप में। इस प्रकार का एक उदाहरण हम ले सकते हैं, चेदिवंशीय शासक खारवेल का। यदि हाथी-गुम्फा अभिलेख उपलब्ध न हुआ होता तो खारवेल इतिहास के लिए एक अज्ञात शासक मात्र ही बना रहता। दूसरे समुन्द्रगुप्त नामक गुप्त वंशी शासक की महती विजय से हम अनभिज्ञ रह जाते यदि हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति उपलब्ध न हुई होती। इसी प्रकार अशोक जैसे महान शासक की बहुमुखी कृतियों के अध्ययन का एकमात्र व्यवस्थित स्रोत है उसके अभिलेख। दूसरी ओर मौखीर, उत्तरगुप्त, राष्ट्रकूट, चोल आदि राजवंशों का इतिहास हमारे लिए अंधकार की गर्त में ही पड़ा रहता यदि इनके अभिलेख प्राप्त न हुए होते। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे इतिहास के पृष्ठों में विखरे पड़े हैं।

इनके द्वारा तिथि क्रम की उलझी हुई गुत्थी सुलझाने में सबसे अधिक सहायता मिली है। शक तथा सातवाहन वंश का उत्तराधिकार क्रम अभिलेख के माध्यम से ही निर्धारित होता है। उत्तरगुप्त राजाओं के सम्बन्ध में अन्य स्रोतों के अभाव में अभिलेख ही हमारे सहायक हैं जिनके माध्यम से उनका उत्तराधिकार क्रम निश्चित होता है। यदि हम व्यवस्थित रूप से इनका अध्ययन करें तो देखेंगे कि जैसे-जैसे अभिलेख प्राप्त होते गये उस उलझी हुई गुत्थी को क्रमशः सुलझाने में सहायता मिलती गयी। आज भी जो इनका उत्तराधिकार क्रम निर्धारित हो सका है वह अन्तिम है ऐसा नहीं कहा जा सकता। नवीन अभिलेखों की प्राप्ति इस पर पुनः नया प्रकाश डालने में समर्थ हो सकती है यही विश्वास है।

अभिलेखों द्वारा व्यक्तिगत चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें प्रसंगवत लेखक अपने शासक की कृतियों की चर्चा करते हुए उसके चरित्र का भी वर्णन करते पाये गये हैं। कई अभिलेखों का तो इस दृष्टि से एकांतिक महत्त्व है क्योंकि अन्य किसी भी स्रोत से इस पक्ष पर प्रकाश ही नहीं पड़ता। यदि ये अभिलेख न लिखे गये होते तो इतिहास उस राजा के चरित्र से पूर्णतया वंचित ही रह जाता। इस दृष्टि से हम हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति को ले सकते हैं। समुद्रगुप्त के जानने का यही अभिलेख एकमात्र साधन है। इसमें समुद्रगुप्त के गुणों की चर्चा की गई है कि वह विद्या में कविकुल गुरु था, शास्त्र तत्वार्थ भर्तुः था, संगीत में गुरु, नारद और तम्बरु के समान था तथा युद्ध में यम और कुबेर की तरह था। इसी प्रकार मेहरौली के 'चन्द्र' अभिलेख तथा पुलकेशिन द्वितीय के अयहोल अभिलेख से भी क्रमशः चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा चालुक्य-वंशीय शासक पुलकेशिन द्वितीय का ज्ञान प्राप्त होता है।

राजनीतिक स्थिति के ज्ञान में अभिलेखों का बड़ा अधिक महत्त्व है। कुषाणकाल के बाद तथा गुप्तकाल के प्रारम्भ को भारतीय इतिहास का अन्धकार युग कभी कहा जाता था। उस समय की राजनीतिक स्थिति का अत्यन्त व्यवस्थित ज्ञान आधुनिक अन्वेषणों के बावजूद भी नहीं प्राप्त हो सका है, जब तक कि हम समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का अध्ययन करके उस समय का व्यवस्थित विवरण नहीं प्राप्त करते। इसी प्रकार किसी भी दूसरे स्रोत के अभाव में शक तथा सातवाहन राजाओं के अभिलेखों से उनके समय के दक्षिणी भारत का राजनीतिक ज्ञान प्राप्त होता है। खारवेल के हाथी-गुम्फा अभिलेख से भी उस समय की राजनीतिक स्थिति जानी जा सकती है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक अभिलेख इस दिशा में हमारे ज्ञान में सहायक हैं।

सामाजिक अवस्था का ज्ञान देने में भी अभिलेखों का महत्त्व बहुत अधिक है। अशोक के अभिलेख इस बात के साक्षी है कि उस समय सामूहिक परिवार प्रणाली थी। धनी लोग बहुत-सी पत्नियाँ रखते थे तभी 'अन्तःपुर' शब्द का प्रयोग उनमें किया गया है। इसी प्रकार पाल राजाओं के समय के उत्कीर्ण कराये गये दामोदरपुर ताम्रपत्रों से शिक्षा के सम्बन्ध में परिचय मिलता है। अन्तरजातीय विवाह का ज्ञान शक-सातवाहन अभिलेखों से प्राप्त होता है।

आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में भी इनके द्वारा बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ राजवंशों के अभिलेख तो इस दृष्टि से अत्यन्त लाभकर सिद्ध हुए हैं क्योंकि दूसरे किसी भी साधन के अभाव में अभिलेखों से ही एक काल विशेष तथा क्षेत्र विशेष का अर्थिक अध्ययन किया जा सका है। उदाहरणार्थ शक-सातवाहन अभिलेखों के द्वारा ही उस समय के दक्षिणी भारत की आर्थिक स्थिति का ज्ञान मिलता है। गुप्त अभिलेख भी इस दृष्टि से महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध में भी अभिलेख बहुत अंश तक हमारे जानकारी के साधन हैं। अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण, श्रमण, आजीवक आदि धार्मिक सम्प्रदायों का चलन था। यह भी ज्ञात होता है कि अशोक ने एक ऐसे राष्ट्र-धर्म का प्रचलन किया था जिसमें सभी धर्मों की प्रमुख बातें सम्मिलित थी जबकि व्यक्तिगत जीवन में वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार गुप्त शासकों के अभिलेखों से जहाँ स्कन्दगुप्त तक के गुप्त शासकों का वैष्णव धर्मानुयायी होना ज्ञात होता है। वहीं उसके बाद के शासकों की रुचि बौद्ध धर्म की ओर हो चली थी सिद्ध होता है। हर्ष के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्मानुयायी था। पाल राजाओं के अभिलेख बज्रयान बौद्ध सम्प्रदाय के आगमन का परिचय देते हैं तथा उनके बौद्ध धर्मानुयायी होने के सूचक हैं।

साम्राज्य विस्तार के निर्धारण में भी अभिलेखों का बड़ा हाथ है। इस दिशा में अभिलेख दो दृष्टियों से हमारे सहायक हैं—एक प्राप्ति स्थान के द्वारा, दूसरे वर्णित अधिकृत प्रदेश के द्वारा। अशोक के साम्राज्य का विस्तार का व्यवस्थित ज्ञान उसके अभिलेखों के प्राप्त स्थान से ही होता है। जहाँ उसके शिलालेख उसकी सीमा व्यक्त करते हैं वहीं उसके स्तम्भ लेख उनके बीच में उसके साम्राज्य की स्थिति को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम का साम्राज्य विस्तार केवल उसके अभिलेखों के प्राप्ति स्थान से ही जाना जाता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य के सम्बन्ध में उसके द्वारा विजित स्थानों का ज्ञान मेहरौली लौह स्तम्भ लेख के विवरण से प्राप्त होता है। अशोक के अभिलेखों में प्रत्यन्त राज्यों का उल्लेख है जो इसके साम्राज्य की वास्तविक सीमा निर्धारित करते हैं। उसने अपने अभिलेख में अपने प्रशासनिक केन्द्रों का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि वे स्थान उसके साम्राज्य में थे तथा वहाँ के पड़ोस पर भी उसका आधिपत्य था।

अभिलेखों के अध्ययन से तत्कालीन लिपि भाषा एवं साहित्य का भी परिचय मिलता है। अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके समय अशोक-कालीन ब्राह्मी का चलन सम्पूर्ण भारत में था और पश्चिमी सीमा पर खरोष्ठी का। गुप्त शासकों के अभिलेख गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के चलन का ज्ञान देते हैं। भाषा के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि अशोक के अभिलेख पालि एवं प्राकृत भाषा में हैं। पर उसके बाद शुंग कालीन अभिलेखों के समय से संस्कृत का प्रयोग चलन में आ चला था। गुप्तोत्तर उत्तरी भारत के अभिलेख साहित्यिक संस्कृत के परिचायक हैं।

साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त ज्ञान को पुष्ट करने के लिए अभिलेख अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। इस सम्बन्ध में गुप्तकालीन शासक रामगुप्त का प्रमाण सर्वाधिक स्पष्ट है। इस शासक के सम्बन्ध में अभी हाल तक जो भी ज्ञान प्राप्त था वह साहित्यिक स्रोतों पर आधारित था। किन्तु अभी मध्य प्रदेश में प्राप्त तीन जैन की मूर्तियों के पदाधारों पर अंकित महाराजाधिराज श्री रामगुप्त का उल्लेख उसके महाराजा होने की सूचना प्रदान करते हैं। इसी प्रकार पातंजलि का महाभाष्य में यह कहना कि 'वयं यज्ञमानः' की पुष्टि धनदेव के अयोध्या चौखट अभिलेख से होता है कि वह दो अश्वमेघ यज्ञों का कराने वाला था।

विदेशियों के भारतीयकरण का भी ज्ञान पुरालेखों से प्राप्त होता है। बेसनगर के गरुड़-ध्वज अभिलेख से विदित है कि यवन शासक एण्टीअलकाइडस का राजदूत हेल्योडोरस था जो भागवत धर्म का अनुयायी बन गया था। इसी प्रकार तक्षशिला के मिलिन्द के रजत पत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह यवन शासक बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उषवदात्त संस्कृत शब्द का शुद्ध भारतीय नाम प्रतीत होता है। यह शक-क्षत्रप नहपान का दामाद था। इससे लगता है शकों का भारतीयकरण होना प्रारम्भ हो गया था। इसी प्रकार विमकदफिसिज नामक कुषाण शासक अभिलेखों के आधार पर शैवानुयायी प्रतीत होता है।

शासन व्यवस्था का भी ज्ञान अभिलेखों से होता है। अशोक के अभिलेखों से उसके अधिकारियों तथा उनके अधिकारों की चर्चा प्राप्त होती है। धर्म महामात्र, युत, राजुक आदि अधिकारियों का वर्णन वहाँ किया गया है। इन्हीं से कर के सिद्धान्त, शासन की नीति आदि का भी ज्ञान मिलता है। दक्षिणी भारतीय अभिलेखों में मंत्रिपरिषद का संगठन, मन्त्री, कर के सिद्धान्तों की चर्चा आदि प्राप्त होती है। कर के प्रकारों का भी उल्लेख इनसे ज्ञात होता है। अशोक के अभिलेख उसके जनकल्याणकारी राज्य की स्थापना, युद्ध नीति आदि को भी स्पष्ट करते हैं।

वृहत्तर भारत का ज्ञान देने में भी अभिलेखों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। वृहत्तर भारत की नींव तो अशोक के समय से ही हम देखते हैं। अशोक के समय में उसके पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघ मित्रा को लंका भेजा गया था जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसी प्रकार अनेक भिक्षु भारत के बाहर मध्य एशिया; चीन आदि देशों मे गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस प्रकरण के अभिलेख भारत तथा विदेशों में भी मिलते हैं।

इस प्रकार अभिलेख हमारे इतिहास के अध्ययन के अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इनके द्वारा हमारे प्राचीन इतिहास की लगभग सम्पूर्ण विद्याओं पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है क्योंकि ये प्रत्यक्ष साक्ष्य है। इसमें मिलावट की सम्भावना नहीं की जा सकती।

अभिलेखों की आधार सामग्रियाँ

प्राचीन भारत में लेखन कला के विकास के साथ सामग्रियों की विविधता का भी ज्ञान प्राप्त होता है। ताड़पत्रों से लेकर धातु और पुनः कागज तक का प्रयोग लेखन सामग्री के रूप में यहाँ किया गया है। इस वैविध्य के दो कारण थे—एक जिस क्षेत्र में लिखा जा रहा है वहाँ लेखन सामग्रियों की उपलिब्ध तथा दूसरे जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसकी प्रकृति। इसको और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि अभिलेख लेखन के लिए जिस क्षेत्र में पत्थर उपलब्ध होता था वहाँ लेखन में भरसक पत्थर का ही प्रयोग किया जाता था। जहाँ नहीं उपलब्ध था वहाँ मिट्टी पर लिखते थे। दक्षिण भारत में ताड़पत्र सरलता से मिल जाते थे। अतः वहाँ ताड़पत्र का ही प्रयोग करते थे। दूसरे यह भी ध्यान रखा जाता था कि जो कुछ लिखा जा रहा है उसका तुलनात्मक महत्त्व कितना है। इस आधार पर भी सामग्री का चयन किया जाता था। यदि कोई सामग्री किसी को दान दी जाती थी और उसको उसके साथ लिखित पत्रक देना होता था तो वह किसी स्थायी चीज पर ही दी जाती थी जो उसके पास रहे और सरलता से अवसर पर कहीं ले जाया जा सके। इससे ताम्रपत्रों के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। कुछ ऐसी घोषणाएँ होती थीं जो किसी स्थान विशेष पर जनसाधारण के सूचनार्थ लगानी होती थी तो उसको पत्थर पर खुदवाया जाता था जिससे उसका स्थायी स्वरूप बना रहे। इसके ठीक विपरीत पुस्तकें आदि ताड़पत्र, भुर्जपत्र आदि कोमल और हल्की सामग्रियों पर लिखी जाती थीं। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर सामग्रियों की विविधता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कागज, रुई का कपड़ा, लकड़ी के पट्टे, रेशमी कपड़ा, चमड़ा आदि लेखन के लिए प्रयोग किया जाता था। किन्तु इन सभी सामग्रियों पर प्रायः पुस्तकें ही लिखी जाती थीं। यह भी स्पष्ट है कि ये सारी सामग्रियाँ बहुत बाद की उपलब्धि नहीं है क्योंकि चौथी शताब्दी ई॰ पूर्व में सिकन्दर के साथ आए यूनानी इतिहासकार कर्टियस यह विवरण देता है कि भारत में कागज का प्रयोग किया जाता था। किन्तु हमारा सन्दर्भ जहाँ तक अभिलेखों से है उनकी लेखन सामग्रियों को हम निम्नलिखित खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—

लेखन सामग्री

- पत्थर
- मिट्टी
- धातु

पत्थर

इसका प्रयोग अभिलेखों में बहुतायत से किया गया है। मौर्य काल के पूर्व से लेकर बारहवीं शताब्दी तक अभिलेखों के लिए अनेक रूपों में पाषाण का प्रयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाया जाता है। इसके प्रयोग का कारण यह था कि 'चिलथितिका च होततीत' (अशोक का स्तम्भ लेख 2)—अर्थात् स्थायित्व इसमें विद्यमान होता था। इसीलिए जहाँ अन्य सामग्रियाँ प्राकृतिक व्यवधानों से विनष्ट हो गयीं तथा धातुएँ गाड़ दी गयीं वहाँ प्रस्तर अभिलेख अपने मूल रूप में प्राप्त हैं। दूसरा, कारण यह रहा होगा कि पत्थर पर उत्कीर्ण कराने में धातु की अपेक्षा बहुत कम खर्च पड़ता होगा। तीसरी, सुविधा यह भी रही होगी कि बड़े-बड़े अक्षरों में लम्बा लेख आसानी से इस पर खोद दिया जाता होगा जो पढ़ने की दृष्टि से सुविधाजनक रहा होगा। मिट्टी और धातु में इस सुविधा की सर्वथा कमी ही दीखती है।

विभिन्न प्रकार के प्रस्तर लेख अशोक के समय से ही मिलते हैं। मुख्य रूप से प्रस्तर लेखों के प्रकार हैं—शिलालेख, स्तम्भ लेख, चट्टान लेख, मूर्तियों का आधार या पृष्ठ लेख, पात्र के किनारे का लेख, दीवार लेख, नींव लेख, गुहा लेख आदि। यहाँ यहा शंका समीचीन है कि पत्थर का पर्यायवाची शब्द है शिला। चूँकि सभी लेख पत्थर पर ही खुदे हैं अतः इन्हें शिलालेख की संज्ञा से संबोधित किया जाय। किन्तु ऐसा कहने में कठिनाई है। शिलालेख एक प्रकार के ऐसे लेख हैं जो प्रायः शिलाओं अथवा जीवित चट्टानों पर काटकर लिखे जाते हैं। जब पत्थरों को काटकर कोई दूसरा रूप दे दिया जाता है तो उसे उस नामविशेष से ही सम्बोधित कर दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

शिलालेख के लिए पत्थर के टुकड़ों को काटकर लेख लिख दिये जाते थे जैसा प्रायः अशोक के शिलालेखों में दीखता है। कभी ऐसा भी करते थे बीच के भाग को छेनी से चिकना बनाकर उसे घोंटकर समतल तथा चमकीला बनाया जाता था और भी सुन्दर बनाने के लिए इसके कोरों को छीलकर उभारदार गोल किनारी बना दी जाती थी। फिर बीच में सीधी रेखा खींचकर उसपर किसी सुन्दर लेखक से स्याही या खड़िया से लेख लिखवाया जाता होगा जो पीछे संगतराश की छेनी तथा हथौडे से काटकर निकाला जाता होगा। हाशिया छोड़ने का भी चलन था। चारों ओर इस प्रकार थोड़ी जगह छोड़ दी जाती थी। ऐसी भी सावधानी किन्हीं अभिलेखों में देखने को मिलती है कि उत्कीर्ण करते समय अगर कहीं गहरा कटाव हो जाता था तो आधार को समतल बनाने के लिए उसमें धातु पिरो देते थे। शिला के आकार की दृष्टि से कभी उसपर एक लेख तथा एक पर कभी-कभी कई लेख भी उत्कीर्ण कराया जाता था, जैसे—अशोक के लघु शिलालेखों में एक लेख मिलता है जबकि चतुर्दश शिलालेखों में एक ही पर चौदह लेख उत्कीर्ण कराये गये थे। पर ऐसा भी होता था कि लम्बा होने पर कई पटियों का प्रयोग साथ-साथ किया जाता था, जैसे—राजा कुम्भा का एक लेख पाँच पटियों पर उत्कीर्ण है।

अशोक ने स्वयं अपने शिलालेखों में 'शिलाठम्भानि', 'शिलाफलकानि', शब्दों का प्रयोग किया है जो क्रमशः स्तम्भ लेख और फलक लेख की ओर इंगित करते हैं। स्तम्भों का इतिहास अत्यन्त पुरातन है। वैदिक काल में यज्ञों के समय 'यूप' की स्थापना की जाती थी। इसलिए अशोक के स्तम्भों के पास कहीं-कहीं अनगढ़ स्तम्भ आज भी खड़े हैं। कभी-कभी विशिष्ट अवसरों पर स्तम्भों पर लेख भी खुदवाया जाता था। पाल-काल की बनी अधिकांश मूर्तियों के आधार पर तथा कुछ गुप्तकालीन

मूर्तियों के आधार पर भी लेख पाये जाते हैं। इसी प्रकार पटना तथा पार्स्खम से प्राप्त यक्षों की पीठ पर भी लेख उत्कीर्ण किया गया है। अनेक गुफाओं में लेख खुदे हुए पाये जाते हैं जिन्हें गुहा लेख कहते हैं जैसे खारवेल का हाथी-गुम्फा अभिलेख।

मिट्टी

प्राचीन भारतीय पुरातत्वविद् कनिंघम, फूरर आदि ने उत्खनन तथा सर्वेक्षण में बहुत-सी मिट्टी की बनी ऐसी सामग्रियाँ प्राप्त की हैं जिनपर कुछ लेख उत्कीर्ण हैं। मथुरा से मिट्टी की सामग्रियों पर अंकित लेख बहुतायत से मिले हैं। प्रायः बर्तनों के ऊपर लेख उत्कीर्ण करने का चलन था। कहीं-कहीं मिट्टी की बनी मूर्तियों पर भी लेख खुदा हुआ है। ऐसी मूर्तियाँ प्रायः सजावट के लिए प्रयोग की जाती थीं। इन्हें घरों के ताखों पर रखा जाता था। इनके पदाधार पर ही विशेषतया खुदे लेख प्राप्त हुए हैं। मिट्टी की ईंटों पर यज्ञों के वृत्त उत्त्कीर्ण किये हुए पाये गये हैं। ये ईंट प्रायः धार्मिक स्थानों तथा यज्ञ के स्थानों पर लगाये जाते थे। कुछ चिट्ठियाँ तथा धार्मिक उद्धरण भी मिट्टी के टुकड़ों पर खुदे हुए मिले हैं। उत्तर प्रदेश में एक मिट्टी के टुकड़े पर बौद्ध सूत्र अंकित किया हुआ मिला है। उत्तर प्रदेश के राजघाट तथा भीटा नामक स्थानों से बहुत-सी मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई हैं। ये मुहरें कुछ तो राजाओं की हैं और कुछ संस्थाओं की। कतिपय मुहरें श्रेणियों की भी मिली हैं। इनमें राजचिह्न तथा राजा का नाम अंकित हैं। संस्थाओं की मुहरों में व्यक्ति तथा संस्था का नाम अंकित होता था। श्रेणियों की मुद्राओं में श्रेणी की मुहर तथा श्रेष्ठी का नाम पाया जाना है। कभी-कभी धार्मिक संस्थाओं की भी मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार मिट्टी पर लेख लिखने का विधान रहा होगा कि गीली मिट्टी को आकार प्रदान कर उस पर किसी नुकीली चीज से लिख देते होंग और तब पकाते होंगे।

धातु

धातु का प्रयोग साधारण लोगों तथा सामान्य कार्यों के लिये सम्भव नहीं था। प्रायः बहुमूल्य धातुएँ राज्य परिवार द्वारा प्रयोग की जाती थी। साथ ही उन पर केवल स्मरण सम्बन्धी अथवा प्रमाण सम्बन्धी छोटे लेख ही उत्कीर्ण किये जाते थे क्योंकि उन्हें सुरक्षित रखना होता था। यदि बड़े लेख जन सामान्य के प्रयोग के लिये उत्कीर्ण करने होते थे तो उन्हें साधारण धातुओं पर उत्कीर्ण कराया जाता था जैसे लोहा आदि। बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग गौरव प्रदर्शित करने के लिए किया जाता होगा। साथ ही अभिलेखों को स्थायी रखने के लिए भी धातुओं का प्रयोग किया जाता होगा। सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, काँसा, लोहा तथा टीन आदि का प्रयोग सामान्यतया अभिलेखीय सामग्री के रूप में किया जाता था।

सोना अत्यन्त बहुमूल्य एवं महँगा होने के कारण बहुत ही कम इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता था। जातकों में सोने पर लिखे हुए लेखों का उल्लेख मिलता है। राज परिवारों का विवरण तथा राजाज्ञाएँ जो राजकीय परिवारों से सम्बन्धित होती थीं। इन पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। रुरुजातक में ऐसा विवरण मिलता है। वर्नेल के विचार में राजकीय-पत्र तथा दान-पत्रों के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। जिस प्रयोजन के लिये सोने का उपयोग अभिलेख में किया जाता था उसी प्रयोजन के लिये चाँदी का भी प्रयोग यहाँ किया जाता था। भट्टिप्रोल स्तूप से चाँदी की सामग्रियों पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं। तक्षशिला से भी चाँदी की एक लपेटी हुई पट्ट पर उत्कीर्ण लेख मिला

है। इसी प्रकार जैन मन्दिरों में रजत पत्रों पर तान्त्रिक चिह्नों को उत्कीर्ण किया गया है। पीतल का प्रयोग अभिलेख उत्कीर्ण करने के लिए बहुत ही कम पाया गया है। कुछ पीतल की जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके पदाधार पर अत्यन्त छोटे लेख उत्कीर्ण किये गये हैं। काँसे की सामग्रियों पर भी अत्यन्त छोटे लेख उत्कीर्ण मिलते हैं प्रायः ऐसे लेख पीतल की तरह ही काँसे की मूर्तियों के पदाधार पर भी अंकित किये गये हैं तथा मन्दिर के घंटों पर भी खुदे हैं। विशेषतः दाता का नाम तथा संवत् उस पर उत्कीर्ण है। इसी प्रकार लोहे का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु इस धातुओं का प्रयोग अभिलेखीय प्रयोजन के लिए अत्यन्त अल्प हुआ है। इस प्रकार का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख हमें दिल्ली के मेहरौली नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यह एक लोहे का खम्भा है जिस पर तीन श्लोकों में एक मरे हुए राजा चन्द्र की कृति का उल्लेख किया गया है। टीन तथा शीशे का प्रयोग भी इस उद्देश्य से देखने को मिलता है। पर इनका प्रयोग अत्यन्त नगण्य है। ब्रिटिश संग्रहालय में एक बौद्ध पाण्डु लिपि टीन पर अंकित रखी गई है। शीशे का प्रयोग सातवाहन राजाओं ने इस संदर्भ में किया है। इन पर छोटे लेख उत्कीर्ण हैं।

पर इन सभी धातुओं की अपेक्षा तांबे का प्रयोग लेख उत्कीर्ण कराने के प्रयोजन ने प्राचीन भारत में सबसे अधिक किया गया है। बिहार तथा बंगाल से ताम्रपत्र बहुतायत की संख्या में प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत से भी ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण अभिलेख मिले हैं। इनका प्रचलन मौर्य काल से ही हम देखते हैं। सोहगौरा से मौर्यकालीन ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुआ है और तब से बारहवीं शताब्दी तक ताम्रपत्रों का प्रचलन रहा। कनिष्क के समय चौथी बौद्ध संगीत के निष्कर्ष ताम्र पत्रों पर ही उत्कीर्ण करके कश्मीर के कुण्डलवन में कहीं गाड़ दी गयी हैं जो आज तक उत्खन्नकर्ताओं के प्रयास से भी निकल नहीं सकी हैं। अवनतिकालीन गुप्त राजाओं के तथा पाल राजाओं के समय में विशेष रूप से ताम्र पर अंकित अभिलेख प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत में भी ताम्रपत्रों का प्रचलन था। ये अभिलेख कुछ तो पाषाण पर अंकित किये गये अभिलेखों की तरह विवरण देते हैं और कुछ भूमिदान का विवरण मात्र प्रस्तुत करते हैं। प्रायः अग्रहारा दान में भूमि दी जाती होगी उसे प्रमाणस्वरूप ताम्रपत्र प्रदान किया जाता होगा क्योंकि एक तो यह हल्का होता है दूसरे अन्य बहुमूल्य धातुओं की तरह महँगा नहीं होता है तथा इसके पत्र सरलतापूर्वक रखे जा सकते हैं। कभी-कभी तो ताम्रपत्रों पर ग्रन्थ भी लिखा जाता था। आज भी ताम्रपत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ तिरुपति में सुरक्षित है। फाहियान ने बहुत से विहारों के दान के संबंध में ताम्रपत्रों को देखा था। इनको तैयार करने के लिये हथौड़े से ताँबे के टुकड़ों को पीटकर इच्छित आकार का बना लेते थे। ये आवश्यकतानुसार हल्के तथा भारी दोनों ही प्रकारों के होते थे। इनको तैयार कर लेने के बाद इनके किनारे प्रायः ऊँचे उठा दिए जाते थे जिससे दूसरे पत्रों से रगड़ खाकर वे घिस न जायें। किनारे पर थोड़ी जगह छोड़कर सीधी रेखा में सम्भवतः स्याही से या खड़िया मिट्टी से कुछ लेख लिख दिया जाता होगा और तब उसको उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्ण कराया जाता होगा। कभी-कभी लेखक की असावधानी के कारण लेख की त्रुटियाँ ज्यों-कि-त्यों वहाँ दीखती हैं। पर कुछ ताम्रपत्रों पर अंकित अभिलेख पर लेखक की त्रुटियों को सुधारने का प्रयास किया गया है। यदि कोई अक्षर अशुद्ध होता था तो उसे काटकर शुद्ध बनाया जाता था और यदि कहीं कोई शब्द या अक्षर छूट जाता था तो वहाँ चिह्नित करके ऊपर या हाशिए पर उसे लिख दिया जाता था।

अभिलेखों के विभाजन के आधार

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि अभिलेखों का विभाजन या वर्गीकरण हम किस आधार पर करें। इस सन्दर्भ में हम उत्कीर्ण आधार सामग्रियों को स्वीकार कर सकते हैं, जैसे—शिलापट्ट पर खुदें हुए लेख-शिलालेख, ताम्रपत्र पर खोदे जाने वाले लेख-ताम्रलेख, स्तम्भ पर खोदे गये लेख-स्तम्भ लेख, मूर्तियों के पदाधार पर खोदे हुए लेख-मूर्तिलेख आदि। पर यदि इस दृष्टि से हम आधार को स्वीकार करके लेखन सामग्रियों की गणना करने लगें तो अनेक सामग्रियों पर अंकित लेख हमको प्राप्त होंगे जिनकी चर्चा हम 'अभिलेख की सामग्रियों' के अन्तर्गत कर चुके हैं। उनमें भी वे सामग्रियाँ कभी गौण हो जाती हैं और कभी प्रमुख होती है। किन्तु वह सामग्री जिसपर लेख खुदा होता है, जैसे—पत्थर की मूर्ति पर खुदा हुआ लेख—यहाँ पत्थर महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु महत्त्वपूर्ण है मूर्ति। अतः इसे हम यदि पत्थर की मूर्ति पर खुदे अभिलेख के नाम से वर्गीकृत करें तो फिर सोना, चाँदी, काँसा, ताँबा आदि अनेक धातुओं की मूर्तियों पर खुदे हुए अभिलेखों को भी अलग-अलग कोटि में रखना पड़ेगा। यह वर्गीकरण दो दृष्टियों से दोषपूर्ण है—एक कि इसके विभाजन में कोई वैज्ञानिकता नहीं है तथा दूसरे इसमें विविधता इतना अधिक हो जायगी कि वर्गीकरण का महत्त्व ही समाप्त हो जायगा। यही बात एक और उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। यदि कोई लेख स्तूप के शिलापट्ट पर खोदा गया है और हम कहें कि अमुक स्तूप के विशालपट्ट पर खुदा लेख है तो यह कोई वर्गीकरण नहीं हुआ और न इस वर्गीकरण में एक निश्चितता ही है। यदि हम इसे केवल स्तूप लेख ही कहें तो वर्गीकरण का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होगा।

पर यहाँ सन्देह यह होगा कि जब सामग्रियों के आधार पर अभिलेखों के वर्गीकरण की विधि अवैज्ञानिक है तो फिर अशोक के अभिलेखों की आधार-सामग्रियों के ऊपर कैसे विभाजित कर उनका नामकरण चतुदर्श शिलालेख, सप्त स्तम्भ लेख, लघु शिलालेख, लघु स्तम्भ लेख, गुहा लेख आदि किया गया है ? इस सन्दर्भ में यह बात विचारणीय है कि अशोक के अभिलेखों को हम धार्मिक लिपि की कोटि में रख सकते हैं। अशोक ने स्वयं उसे—धम्म लिपि कहा है क्योंकि उसके सभी अभिलेखों में मूलतः धम्म की ही चर्चा की गयी है। चूँकि उसकी धम्म लिपियाँ विभिन्न आधार-सामग्रियों पर अंकित की गयी हैं अतः उन्हें स्पष्ट रूप से विलग करने के लिए उसका नामकरण आधार सामग्री पर किया गया है। दूसरी ओर यह भी विचार करना चाहिए कि वर्गीकरण का आधार चाहे जो भी हम स्वीकार करें पर जब तक हम आधार सामग्री का नाम साथ-साथ नहीं जोड़ेंगे तब तक स्पष्टता नहीं प्राप्त हो सकती और वह भी जब हम किसी एक राजा के समय के अभिलेखों का वर्गीकरण कर रहे हों तब विशेष रूप से ऐसा करना आवश्यक होगा।

तो फिर दूसरा आधार बनाया जा सकता है अभिलेखों का प्रतिपाद्य विषय। जिन अभिलेखों का प्रतिपाद्य विषय एक प्रकार का हो उनको एक श्रेणी या कोटि में रखकर विषय के आधार पर उनका विभाजन किया जा सकता है। आगे हम देखेंगे कि अभिलेखों में कुछ तो राजाज्ञाएँ हैं; कुछ में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की चर्चा की गयी है तथा उसके सम्बन्ध में विधान का उल्लेख किया गया है। कतिपय अभिलेखों में राजाओं के कर्मचारियों द्वारा अपने स्वामी की प्रशस्ति गायी गयी है जिसके माध्यम से उनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी होती है। कभी-कभी राजा या महाजन लोग किसी धार्मिक कृत्य के समय अथवा अपनी किसी इच्छित वस्तु की पूर्ति पर अथवा स्वेच्छा से किसी मन्दिर, किसी ब्राह्मण आदि को दान देते थे। यह दान जिस किसी भी चीज

का हो उसको दाता अभिलेखों में अंकित करा देता था जिससे उसकी कीर्ति स्थायी रहे। इस प्रकार एक नहीं, अनेक विषय के विविध लेख प्राचीन काल में अंकित किये गये थे। इनके तथ्यों के आधार पर हम लेखों का वर्गीकरण कर सकते हैं।

यह वर्गीकरण आधार सामग्री के वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक व्यापक और पुष्ट है। इसके द्वारा एक प्रकार के तथ्य वाले अभिलेखों को एक कोटि में रखा जा सकता है। यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसके द्वारा वर्ग के नाम लेने मात्र से ही तथ्य का सामान्य परिचय प्राप्त हो जायगा। पर यदि आधार सामग्री के सहारे इनका विभाजन किया जाय तो केवल आधार मात्र का ज्ञान वर्गीकरण से होगा, तथ्य का परिचय नहीं मिल सकता जब कि अभिलेखों में महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका वर्ण्य विषय ही होता है। उदाहरणार्थ, यदि हम कहें कि अमुक अभिलेख शिला लेख है या स्तम्भ लेख है तो इसमें कई कठिनाई श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित हो जायगी। एक तो उनको इतना जान लेने मात्र से ही स्पष्ट नहीं होगा कि यह अभिलेख किस सन्दर्भ का है। दूसरे, इस वर्गीकरण में एकरूपता स्थापित करना भी एक समस्या है, जैसे—लघु स्तम्भ लेख, सप्त स्तम्भ लेख, अलग स्तम्भ लेख आदि। तीसरे, ऐसे विभाजन में भ्रम बना रहता है कि वास्तव में इस वर्ग के नाम का महत्त्व क्या है ? जैसे—सप्त स्तम्भ लेख कहने मात्र से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सात खम्भों पर अंकित लेख। जब तक कि पाठक इस बात से परिचित न रहे कि एक ही खम्भे पर सातों लेख खुदे हुए हैं।

अतः उचित यही है कि अभिलेखों का वर्गीकरण उनकी प्रतिपाद्य सामग्री के आधार पर ही किया जाय। यह अधिक ठोस, परिचयात्मक, निश्चयात्मक तथा वैज्ञानिक आधार प्रतीत होता है। पर यहाँ स्पष्टता को और भी व्यक्त करने के लिए अभिलेखों के नायक, प्राप्ति स्थान, सामग्री के साथ वर्ग का उल्लेख करना चाहिए। इससे पूर्ण बात स्पष्ट हो जायगी, यथा समुद्रा की प्रयाग प्रशस्ति स्तम्भ लेख कहने मात्र से स्पष्ट हो जायगा कि समुद्रगुप्त नामक राजा से सम्बन्धित प्रयाग नामक स्थान में स्तम्भ के ऊपर एक प्रशस्ति अंकित की गयी है। ऐसा नामकरण करने से विभाजन का उद्देश्य स्पष्ट हो जायगा कि श्रोता अभिलेख की मूलभूत विशेषताओं से उसका नाम सुनते ही परिचित हो जायगा।

अभिलेखों के प्रकार

धर्मशास्त्रों में भी अभिलेखों की चर्चा करते हुए इसके प्रकारों का उल्लेख किया गया है। डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने विषय प्रस्तुतीकरण के आधार पर इनको दो श्रेणियों में विभक्त किया है—विशिष्ट और संग्रहाकार। विशिष्ट कोटि में दो प्रकारों का उल्लेख किया गया है—लौकिक और राजकीय। राजकीय की भी चार कोटियाँ बताई गई हैं—शासन (भावी राजाओं की जानकारी के लिए भूमि के दान आदि का उल्लेख जब कोई राजा कराता है), जय-पत्र (किसी भी प्रकार के विजय के उपलक्ष में प्रमाण स्वरूप दिया गया लेख); आज्ञापत्र (जो अधीनस्त सामन्तों या अधिकारियों को आदेश दिया जाता है) तथा प्रज्ञापन (जिसके द्वारा अभ्यर्थियों के कार्य सम्पन्न होते हैं) किन्तु यह बहुत अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्म विभजन नहीं है। अतः पाण्डेय जी ने आगे इसका वैज्ञानिक विभाजन भी किया और नौ प्रकार के अभिलेखों की प्राप्ति की चर्चा की है। ये नौ प्रकार निम्न हैं—

(अ) **व्यापारिक लेख**—डॉ॰ पाण्डेय ने सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरों को व्यापारिक अभिलेख बताया है। उसमें अंकित लेख पढ़े नहीं जा सके हैं। अतः कुछ निश्चयपूर्वक कहना तो बड़ा असम्भव है

किन्तु विद्वानों का यह विचार है कि इनपर व्यापारियों के नाम तथा उनकी उपाधियाँ अंकित हैं। ये पार-पत्र के रूप में प्रयोग की जाती होंगी जब यहाँ के व्यापारी विदेशी व्यापार के लिए जाते होंगे। कुमार गुप्त और बन्धु वर्मा का मन्दसोर प्रस्तर अभिलेख भी इसी कोटि का है। इसके अतिरिक्त मिट्टी की बहुत-सी मुहरें विभिन्न स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुई हैं जो वस्तुओं पर क्रय-विक्रय की सुरक्षा तथा गोपनीयता को बनाये रखने के लिए लगाई जाती थीं।

(ब) तांत्रिक लेख—इस प्रकार के अभिलेख सर्वप्रथम सिन्धु घाटी में प्राप्त होते हैं। वहाँ की मुहरें जिनके ऊपर छिद्र बने हैं, कुछ इसी प्रकार की हैं। इन छिद्रों में सम्भवतः तागा पिरोकर पहनने का काम किया जाता होगा। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ये ताबीज रहे होंगे जिन्हें अभिमन्त्रित करने के लिए मूर्तियों के नीचे गाड़ा जाता होगा क्योंकि बहुत से ठिकरे सिन्धु घाटी में मूर्तियों के नीचे से निकाले गये हैं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उनपर अनेक प्रकार की विचित्र पशु आकृतियाँ बनी हुई मिली हैं।

(स) धर्म लेख—अशोक के अभिलेखों को धम्म लिपि कहा जाता है। इसके चौथे शिला लेख की ये पंक्तियाँ 'तिन अमुतपदानि इअ सु-अनुठितानि। नेयंति स्वगं दय चाग अप्रमाद' इस बात की स्पष्ट परिचायक है कि अशोक धर्म के सम्बन्ध में इन्हें लिखवाया था। विदिशियों से प्राप्त हेल्योदोरस का गरुड़-ध्वज लेख इसका और भी अधिक पुष्टि प्रमाण है। इस गरुड़-ध्वज से ज्ञात होता है कि यूनानियों में भी वैष्णव धर्म का प्रचार होने लगा था। इस प्रकार जहाँ ये अभिलेख धार्मिक भावना को पुष्टि करते हैं वहीं धर्म के सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

(द) प्रशासनिक लेख—गुप्त पूर्व शासकों के काल में प्रायः धार्मिक भावना से प्रेरित ही अभिलेख खुदवाये जाते थे। ये शिला-थम्भ, शिला-फलक तथा मूर्तियों के पीठ या पदाधार पर खुदवाये जाते थे। इसमें प्रायः शासकों के नाम तथा उसका मन्तव्य मात्र होता था। इनमें कतिपय स्थानीय भावना से सम्बोधित होते थे। उन्हें जहाँ कार्यान्वित करना होता था वहाँ के अधिकारी को सम्बोधित होता था, जैसे अशोक ने तोशली के महामात्र को सम्बोधित किया है। कभी-कभी इनके अंकन का उद्देश्य भी स्पष्ट किया जाता था जैसे हेल्योडोरस के अभिलेख में अंकित है कि—'देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते'—देवाधिदेव वासुदेव के निमित्त यह गरुड़ध्वज स्थापित किया गया। प्रसंगवत राजा की उपलब्धियाँ और जनकल्याणकारी कार्य का भी उल्लेख इनमें मिलता है जैसे अशोक की धम्मलिपियाँ—'देवानं पियपियदसि राजा.....' से प्रारम्भ होती है। इनमें कभी-कभी राजत्वकाल की भी चर्चा मिलती है, जैसे अशोक के एक अभिलेख में अंकित है—'दुवाडस वसा भिसितेन में.......' गद्दी पर बैठने के बारह वर्ष बाद। कभी-कभी पड़ोसी राजा और उनकी स्थिति का भी ज्ञान इससे मिलता है जैसे अशोक के एक अभिलेख में उसकी सीमा के बाहर पश्चिम तथा दक्षिण के राजाओं और राज्य का उल्लेख है। इसी प्रकार हेल्योडरस का गरुड़ध्वज लेख का—'कौत्सीपुत्रभागभद्रस' भी इसी ओर संकेत करता है कि तब मथुरा में कौत्सीपुत्र भागभद्र का शासन था जब तक्षशिला में यवन शासक अन्टीअलकाइडस था तथा दोनों के बीच दौत्य सम्बन्ध था। अशोक ने अपने अनेक लेखों में अपने अधिकारियों को सम्बोधित करके आदेश दिया है कि उन्हें इस प्रकार के नियमों का पालन करना चाहिये। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख है। इसमें सुदर्शन झील के निर्माण का इतिहास है तथा रुद्रदामन का यह दृष्टिकोण ज्ञात होता है कि जनता से लिया हुआ कर ही जनता के उपयोगी तथा हित में आना चाहिए। हर्ष के बाँसखेड़ा अभिलेख में तत्कालीन अधिकारियों को आदेश दिया गया है। इसी प्रकार का पूना ताम्रपत्र अभिलेख प्रभावती गुप्त का है।

(**य**) **प्रशस्तियाँ**—प्रशस्ति का अभिप्राय है प्रशंसा, गुणगान आदि। जो भी प्रशस्तियाँ प्राप्त हुई हैं वह दो प्रकार की हैं—एक में केवल राजा की प्रशंसा की गई है तथा दूसरे में दान आदि का उल्लेख किया गया है और उसके साथ राजा का गुणगान भी मिलता है। प्रथम प्रकार की प्रशस्ति में राजा का यशगान इसकी कीति के साथ मिलता है। हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति इसी प्रकार की कृति है। इसमें समुद्रगुप्त के दरबारी हरिषेण ने समुद्रगुप्त के विजय, चरित्र, नीति, धार्मिक धारणा, व्यक्तिगत रुचियों, परिवार और गौरव आदि का उल्लेख किया है। इसी प्रकार का दूसरा अभिलेख खारवेल का हाथी-गुम्फा से प्राप्त हुआ है। इसमें खारवेल का चरित्र तथा उसके कार्यों का वार्षिक विवरण दिया गया है। अशोक का 13वाँ शिलालेख भी इसी कोटि में परिगणित किया जा सकता है। इन प्रशस्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनके लिखने का निश्चित क्रम साधारणतया निर्धारित था। इसमें सबसे पहले वंशवृक्ष दिया जाता था, उसके बाद राजा का चरित्र और फिर उसकी उपलब्धियों का विवरण होता था और तब समकालीन राज्यों का उल्लेख किया जाता था तथा राजा का आदर्श और उसकी शासन व्यवस्था का विवरण होता था। इसके पश्चात उसकी व्यक्तिगत रुचि तथा दानशीलता आदि का भी उल्लेख किया था। किन्तु इस क्रम में अन्तर भी हो सकता था। कभी-कभी इसमें कुछ बातें छोड़ दी जाती थीं जैसे मेहरौली का चन्द्र अभिलेख भी यद्यपि प्रशस्ति है पर उसमें वंशवृक्ष आदि बहुत ही बातें नहीं दी गई हैं। प्रशस्ति होने के कारण इनमें अतिरंजना का होना स्वाभाविक है। ये लेख प्रायः पद्यात्मक, कभी गद्यात्मक और कभी चम्पू में रचे गये हैं। तत्कालीन परिस्थितियों का भी उल्लेख इनमें प्रसंगवत मिलता है यथा—जूनागढ़ अभिलेख में खुदा है—'पितरिदिवभ्युपेते विप्लतां वंश लक्षमीम्'। प्रसंगवत तिथियों का भी इसमें उल्लेख मिलता है।

(**र**) **समर्पणात्मक लेख**—कभी-कभी मूर्तियों पर, गुहा की दीवारों पर, मन्दिरों तथा धातु पत्रों पर कुछ लेख खुदे हुए मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे अमुक धर्मानुयायियों को समर्पित किये गये हैं। पिपरहवाँ का धातु पात्र लेख गौतम बुद्ध के धातु विशेष के समर्पण का उल्लेख करता है। कुछ में किसी धर्मानुयायी को आवास, धन, भोजन तथा अन्य सुविधाओं के लिए दान, भूमि तथा ग्राम दान का वर्णन है। इस प्रकार के अभिलेखों के लिखने में किसी निश्चित शैली का प्रयोग नहीं किया जाता था। बराबर पहाड़ियों में अशोक का अभिलेख उसके गुहादान को सम्बोधित करता है। इसी प्रकार का अशोक के पौत्र दशरथ का लेख नागार्जुनी गुफाओं में मिलता है। हुविष्क का मथुरा अभिलेख धार्मिक कार्य के लिए धन के अनुदान की चर्चा करता है। उषवदात्त के नासिक अभिलेख में तीन सहस्त्र गौदान की चर्चा की गई है। वासिष्ठिपुत्र पुलमावी के नासिक अभिलेख में भूमिदान की चर्चा की गई है।

(**ल**) **स्मृत्यात्मक लेख**—रूम्मनदेई आधुनिक लुम्बिनी नामक ग्राम में अशोक का एक अभिलेख है। इस पर अंकित है—'हिद बुद्ध जाते साक्यमुनीति।' अर्थात् (यहाँ बुद्ध, शाक्यमुनि उत्पन्न हुए थे)। इसका अभिप्राय है कि बुद्ध भगवान के जन्म स्थान पर उनके जन्म की स्मृति में यह अभिलेख अंकित कराया गया था।

(**व**) **साहित्यिक लेख**—कुछ लेख इस प्रकार के हैं जिन्हें शुद्ध साहित्यिक कृति माना जा सकता है। इसमें साहित्य का उतार-चढ़ाव और साथ ही किसी साहित्यिक अवयव के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। ऐसे साहित्यिक अभिलेखों में नाटक, काव्य, संगीत तथा धार्मिक विवरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार का 'ललित विग्रहराज' नामक अभिलेख अजमेर से प्राप्त है। तमिलनाडु से एक ऐसा अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसे संगीत शास्त्र का ग्रन्थ कहा जाता है।

(श) **दान-शासन लेख**—उत्तरगुप्त शासकों के समय एक विशिष्ट प्रकार के लेख लिखे जाने लगे थे जिन्हें दान-शासन के नाम से जाना जाता है। चूँकि शासक इस अभिलेख को मूल रूप से दान देने के सन्दर्भ में खुदवाता था इसलिए इन्हें दान-शासन कहा जाता है। इस प्रकार के अभिलेख पाँचवीं शताब्दी के पूर्व के मध्यकाल तक मिलते हैं। ऐसे दान पत्र प्रायः ताम्रपट्टों पर अंकित कराए जाते थे। कहीं-कहीं शिला खण्डों पर भी इनके अंकित किये जाने का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु वह अत्यन्त ही न्यून हैं। इसको प्रायः ताम्रपट्टों पर देने का कारण यह रहा होगा कि दानग्राही इसको सरलतापूर्वक तथा सुरक्षात्मक रीति से अपने पास रख सकें वह स्थायी संपत्ति इसकी बनी रहे। कभी-कभी ये दान पत्र बड़े लम्बे होते थे।

इनको सुविधाजनक रीति से रखने के लिए इन्हें छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर छोटे-छोटे ताम्रपट्टों पर अंकित कर दिया जाता था और क्रमशः ताम्रपट्टों को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया जाता था। जोड़ने के लिए दानों ताम्र पत्रों के सिरे पर एक के नीचले तथा दूसरे के ऊपरी भाग पर छिद्र बना दिया जाता था और लोहे की मोटी कील से उसे जोड़ दिया जाता था जिससे पीछे की ओर नीचे वाले ताम्रपट्ट को घुमाया जा सके। यह एक प्रकार से आधुनिक पुस्तकों की सिलाई का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है जिससे ताम्र के दो या अधिक पृष्ठ साथ-साथ मिले होते थे। इस परम्परा का प्रारम्भ पाल नरेश धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है। पीछे प्रायः बिहार तथा बंगाल के अधिकांश अभिलेख इसी प्रकार के अंकित मिलते हैं जैसे कमौली (वारणसी) का ताम्रपत्र, गहड़वाल नरेशों का बांसखेड़ा (शाहजहाँपुर) तामपत्र, नालंदा (पटना, बिहार) ताम्रपत्र, वैग्राम (बंगाल) तामपत्र आदि।

दान-शासन का प्रारम्भ 'स्वस्ति', 'सिद्धम्' या 'ओंस्वस्ति' से होता है। यह शुभ सूचक शब्द है जिनका प्रयोग आज भी चिट्ठी लिखने के पहले किया जाता है। इसके बाद लेख का मूल पाठ प्रारम्भ होता है।

मूल पाठ में प्रमुख रूप से निम्न बातों का उल्लेख मिलता है—

(अ) दान पत्र के जारी करने का स्थान

(ब) शासनकर्त्ता और उसकी वंशावली तथा उपलब्धियों का उल्लेख

(स) दानग्राही के वंश का विवरण

(द) दान की भूमि और उसकी चतुर्दिक सीमाएँ

(य) दान का प्रयोजन और तत्सम्बन्धी निर्देश

(र) कर और पदाधिकारियों को आदेश

(ल) तिथियों का अंकन

(व) धार्मिक श्लोक

दान पत्र में यह अंकित किया जाता है कि यह कहाँ से जारी किया गया है जैसे हर्ष का बांसखेड़ा अभिलेख जयस्कन्धावार से जारी किए जाने का विवरण देता है। फरीदपुर ताम्रपट्ट वारक मण्डल के कार्यालय से जारी किए जाने का उल्लेख करता है। इसके साथ राजा या दाता के वंशवृक्ष का परिचय देते हुए उस काल के शासनकर्त्ता तथा उसकी उपलब्धियों की चर्चा मिलती है। हर्ष के बांसखेड़ा ताम्रपत्र से उसकी पूरी वंशावली ज्ञात होती है तथा राजा की उपलब्धियों का परिचय मिलता है।

उसी प्रकार खालीमपुर दानपत्र से पाल वंश के शासकों का वंश वृक्ष धर्मपाल तक तथा उसकी उपलब्धियाँ और तत्कालीन सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान मिलता है। यहाँ यह भी दिया जाता है कि यह भूमि क्रय करके या अपनी सम्पत्ति को दान में दिया जा रहा है और इसकी सीमाएँ क्या हैं जिससे बाद में कोई विवाद नहीं खड़ा हो। इस दान के उपयोग का उद्देश्य भी उल्लेख इसमें किया जाता है जिससे स्पष्ट हो जाय कि दान देने का प्रयोजन क्या था ? इसीलिए बांसखेड़ा में अंकित है कि माता, पिता, भ्राता के पुण्य और यश की वृद्धि के लिए दान किया गया है—'पुण्यं यशोभिवृद्धये.......।' वैग्राम दानपत्र का कारण मन्दिर के रागभोग और सौष्ठव के लिए बताया गया है। इस दान के लागू रहने के काल को एक विशेष शब्द से सम्बोधित किया गया है—अक्षयनीवी। इसका अर्थ है कि इसका स्वरूप कभी क्षय न हो अर्थात् दाता यह चाहता था कि दान दी हुई सामग्री ग्रहीता के पास स्थायी रूप से बनी रहे। उसके बाद उसके वंशजों की परिस्थिति के बिगड़ने पर ऐसा न हो कि वे उसको फिर वापस करा लें। इसी भावना को और प्रभावक बनाने के लिए कभी एक और कभी कई श्लोक जोड़ दिए जाते थे जिसमें हर्ता को नरक का फल भोगने का भय दिखाया जाता था। पहाड़पुर ताम्रपत्र लेख में इसी आशय से पाँच श्लोक अन्त में दिए गए हैं, संक्षोभ के खोह ताम्रपत्र में चार श्लोक अंकित हैं और बांसखेड़ा में दो। इसमें दान की महत्ता का भी वर्णन किया जाता था। प्रायः इनमें ये पंक्तियाँ अवश्य रहती हैं—'स्वदत्तां परदत्तां यो हरेत वसुन्धराम्। सविष्ठायां भूमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते।' नरकेभय को दिखाने वाली यह पंक्ति भी प्रायः पाई जाती है—आक्षेपता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्।' अन्त में तिथि तथा संवत् का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो इसके जारी किए जाने की तिथि से दिए गए अधिकार को पुष्ट करती है। ये तिथियाँ कभी गुप्त संवत् में, कभी हर्ष संवत् में, कभी विक्रमी संवत् में प्रयोग की गई हैं। पर प्रायः गुप्त संवत् की तिथि ही इसमें अधिकांश मिलती हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात बड़ी स्पष्ट है कि ये सभी दानपत्र संस्कृत भाषा और गुप्तोत्तर कालीन ब्राह्मी लिपि में अंकित किए गए हैं।

अभिलेखों की लिपि तथा भाषा

अभिलेखों का सिलसिला भारतीय इतिहास में अशोक के समय से चलता हुआ दिखाई पड़ता है। यद्यपि सिन्धु घाटी में भी मिट्टी के ठिकरों पर अंकित लेख मिले हैं। इन लेखों में किस लिपि विशेष का प्रयोग हुआ है नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका अध्ययन समुचित रूप से अभी तक नहीं किया जा सका है। अनुमानतः इसे चित्र लिपि कहा जाता है। किन्तु इसका भारतीय लिपि शास्त्र के इतिहास में तब तक इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है जब तक की इसको प्रामाणिक रीति से पढ़ा नहीं जाय।

इसके बाद अशोक के काल से हमें व्यापक रूप से सम्पूर्ण भारत में अभिलेखों का चलन ज्ञात होता है। स्वयं अशोक के ही अभिलेख भारत के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हैं। इस अभिलेखों में दो प्रकार की लिपियों का मुख्यतः प्रयोग हुआ है—ब्राह्मी तथा खरोष्ठी। खरोष्ठी लिपि अशोक के राज्य के पश्चिमी भाग में प्रयोग की गई है तथा ब्राह्मी शेष भारत में। इन लिपियों के उद्भव तथा विकास की कथा का व्यापक अध्ययन पिछले अध्यायों में विस्तार से किया गया है। इसके अतिरिक्त अरामइक लिपि का प्रयोग इसके एक अभिलेख से ज्ञात होता है जो हाल में ही अफगानिस्तान से मिला है। पर इसे हम भारतीय अभिलेखों की प्रचलित लिपि स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इसका

यत्किंचित प्रयोग ही हमें प्राप्त होता है। इसके साथ ही ग्रीक अक्षर भी चंद विदेशी राजाओं के सिक्कों पर मिलता है। कभी-कभी अभिलेखों में भी ग्रीक लिपि का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु यह भी अत्यन्त न्यून है। मूलतः ब्राह्मी लिपि में ही प्राचीन भारत के अधिकांश अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो बदलते हुए अक्षरों में विभिन्न युगों में मिलते हैं। बदलते अक्षरों के आधार पर ब्राह्मी लिपि के स्पष्ट नामकरण के लिए वंश के साथ जोड़कर लिया गया है जैसे कुषाणब्राह्मी लिपि, गुप्तयुगीन ब्राह्मी लिपि आदि। इसके अतिरिक्त नवीं-दसवीं शताब्दी में आते-आते क्षेत्रीय लिपियों का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया जैसे तमिलनाडु में तमिल लिपि का प्रयोग प्रचलन आदि।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अशोक के समय में प्राकृत भाष का चलन था। उसके सभी लेखों में चाहे वे किसी भी लिपि के हों प्राँकृत भाषा ही प्रयोग की गई है। इसका कारण यह था कि अशोक के समय मगध की स्थानीय भाषा प्राकृत थी। इसे उसके राज्य की जनता आसानी से समझ सकती थी। परन्तु स्थान के अन्तर से इसमें भी किंचित अन्तर परिलक्षित होता है। अशोक के स्तम्भ लेखों की भाषा ठीक वही नहीं है जो शहवाजगढ़ी और मानशेहरा के शिलालेखों में तथा गिरनार के अभिलेखों में प्रयुक्त की गई है। इस अन्तर का कारण बोली का स्थानीय भेद ही बताया जा सकता है। इस आधार पर इस काल में तीन प्राकृत भाषाओं का चलन माना जा सकता है। उत्तर-पश्चिमी प्राकृत, पूर्वी प्राकृत और दक्षिण प्राकृत इनमें से बुद्ध का प्रवचन तो मध्य देशीय प्राकृत या (पूर्वी प्राँकृत) में अंकित किया गया था। अशोक के अभिलेख भी मूलतः इसी भाषा में हैं किन्तु स्थानीय अन्तरों के कारण उसके लेखों में ये विभेद उभरे हैं।

अशोक के बाद भी पहली शताब्दी तक प्राकृत भाषा का चलन मिलता है। उसके बाद संस्कृत का प्रयोग होना प्रारम्भ हो गया था। किन्तु ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के लिखे गये अभिलेखों की भाषा यद्यपि साहित्यिक प्राकृत है किन्तु उस पर संस्कृत का स्पष्ट छाप दिखाई पड़ता है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है हेल्यदोरस का विदिशा से प्राप्त गरुड़-ध्वज स्तम्भ लेख है। इसी समय दक्षिण भारत के जो लेख प्राप्त हुए हैं उनमें भी साहित्यिक प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण प्राप्त होता है। इनमें हम शक, सातवाहन राजाओं का अभिलेख देख सकते हैं। सातवाहन राजाओं के अभिलेखों की सबसे बड़ी विशेषता है इनकी प्राँकृत भाषा। यह भाषा प्रारम्भिक पल्लव शासकों से शासन काल तक चलती रही। इन अभिलेखों में कहीं-कहीं संस्कृत का स्वतन्त्र प्रयोग भी दिखाई पड़ता है, जैसे मथुरा से प्राप्त सोडास के अभिलेखों में संस्कृत के पदों का प्रयोग। कुषाण शासकों के अभिलेखों में भी इसी प्रकार का समिश्रण देखने को मिलता है।

किन्तु पहली शताब्दी से संस्कृत का प्रयोग अभिलेखों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यदि हम 150 ई० का लिखा हुआ रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख पढ़ें तो उसमें संस्कृत गद्य का बड़ा ही मनोहारी स्वरूप मिलता है। यद्यपि संस्कृत का स्पष्ट प्रयोग इसके पहले के कतिपय अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में हम धनदेव का अयोध्या अभिलेख ले सकते हैं। पर गुप्त काल से जो भी अभिलेख मिले हैं उनमें शुद्ध संस्कृत का प्रयोग प्राप्त होता है। साथ ही अलंकार और साहित्य का स्पष्ट प्रयोग इनमें दिखता है। वे पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों ही शैली में पाये गये हैं। चन्द्र का मेहरौली अभिलेख पूर्ण पद्यात्मक है जबकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख गद्य एवं पद्य दोनों से युक्त है।

इसके बाद के अभिलेखों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग दक्षिण भारत से होना प्रारम्भ हुआ। सबसे

पहली क्षेत्रीय भाषा है तमिल जिसका प्रयोग अभिलेख में किया गया है। तमिलनाडु में 8वीं और नवीं शताब्दी में इसका प्रयोग संस्कृत के साथ पल्लव राजाओं द्वारा प्रारम्भ हुआ। पर इसका प्रयोग कुछ तमिल गुफाओं में बहुत पहले से हम पाते हैं जिनकी तिथि दूसरी या तीसरी शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। आंध्र प्रदेश में तेलगू भाषा में अभिलेख छठी शताब्दी में लिखे जाने लगे तथा इसी समय के अभिलेख कन्नड़ भाषा में मैसूर क्षेत्र से भी पाये गये हैं। पर दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग बहुत बाद की देन है। 11वीं शताब्दी तक उत्तर भारत के अभिलेख शुद्ध संस्कृत में अंकित किये गये हैं। उसके बाद ही स्थानीय बोलियों का प्रयोग इसमें हमें मिलता है। इनमें भी अन्य बोलियों की अपेक्षा मराठी का प्रयोग अभिलेखों में अधिक प्राप्त होता है। फिर बंगला, उड़ीसा आदि की भाषाएँ भी अभिलेखों में देखने को मिलती है।

अभिलेख लिखने का अवसर

अभिलेखों के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम यह जानकारी प्राप्त करें कि प्रायः किन-किन परिस्थितियों में साधारणतया अभिलेख अंकित किये जाते थे क्योंकि न तो अभिलेख का अंकन किसी एक उद्देश्य से किया गया है और न किसी एक प्रकार के व्यक्तियों द्वारा कराया गया है। किन्हीं अभिलेखों में दान की चर्चा है तो किन्हीं में विजय की। इससे स्पष्ट है कि उल्लेख कराने का अवसर भिन्न-भिन्न रहा होगा। इसी प्रकार किन्हीं को राजाओं ने उत्कीर्ण कराया है, किन्हीं को कर्मचारियों ने और किन्हीं को श्रेष्ठियों ने।

अशोक के अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसने अनुशासन के लिए अपने कुछ अभिलेख मुद्रित कराये थे तभी कुछ को धम्मानुशासन कहा जाता है। इसके धर्म के सम्बन्ध में भी इनमें आज्ञाएँ दी गई हैं कि धम्म क्या है? उसके पुत्र पौत्रों को इनका पालन किस प्रकार करना चाहिए? कुछ उनके राज्यानुशासन है। इस प्रकार के अभिलेख तभी अंकित कराये जाते होंगे जब किसी अधिकारी विशेष को कोई आदेश देना होता होगा। वैसे एक स्थान पर वह आदेश देता है कि मैं इस प्रकार की आज्ञा देता हूँ कि जो भी कोई अपनी बात लेकर मेरे पास आवेगा उसका मैं तत्काल निर्णय कर दूँगा। पर मेरे 'परिषा' को यदि यह अनुचित लगे तो वह उसकी सूचना तत्काल हमको दे दें। मैं उसके निवारण की व्यवस्था करूँगा। इस प्रकार जब राजाओं को कोई व्यापक आज्ञा देनी होती थी तो वह उसके लिए लेख खुदवा देते थे।

बराबर की गुफाओं में कुछ लेख प्रियदर्शी नामक राजा द्वारा खुदवाए गए है। ये लेख गुफाओं को आजीवकों को दान देनेके लिए अंकित किये गये हैं। इसी प्रकार भरहुत तथा साँची के स्तूप के किनारे बनी वेष्टिनी पर दाताओं का नाम तथा श्रेष्ठी का सिर अंकित किया गया है। दामोदरपुर तथा बंगाल के अनेक अन्य स्थानों से अग्रहरा दान के उद्देश्य से खोदे गए अनेक ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। पाल नरेश देवपाल द्वारा नालन्दा विश्वविद्यालय के दान के अवसर पर खुदवाया हुआ नालन्दा ताम्रपत्र इसी कोटि का अभिलेख।

जब राजा किसी स्थान विशेष को जीतते थे तो प्रायः विजय-यात्रा के अवसर पर वे लेख उत्कीर्ण करा देते थे। इस प्रकार के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जैसे—पुलकेशिन द्वितीय का अयहोल अभिलेख, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव का भोर म्यूजियम प्लेट, वीरसेन शाव द्वारा उत्कीर्ण कराया गया चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का उदयगिरि गुहा लेख आदि।

राजाओं की प्रशंसा या गुणगान के अवसर पर भी लेख उत्कीर्ण कराया जाता था। इस प्रकार

का एक लेख प्रयाग में स्थित अशोक स्तम्भ से प्राप्त हुआ है जिस पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति अंकित है। 'चन्द्र' का मेहरौली अभिलेख भी इसी प्रकार की कृति कहा जा सकता है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय का गौरवगान मिलता है।

किसी विशेष घटना के अवसर पर भी कभी-कभी अभिलेख खुदवाए जाते थे। इस सन्दर्भ में हम रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख ले सकते हैं। इस अभिलेख का मूल विषय है सुदर्शन झील का रुद्रदामन द्वारा पुननिर्मित कराना। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में बन्धुवर्मा द्वारा अंकित कराया गया मन्दसोर अभिलेख है जिसके अंकित कराने का अवसर है वहाँ मग ब्राह्मणों द्वारा सूर्य मन्दिर का निर्माण कराना।

कभी-कभी धार्मिक प्रचार के लिए भी अभिलेखों को खुदवाया जाता था। अशोक की धम्मलिपियाँ इसी उद्देश्य से लिखी गई हैं। अशोक ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं इन्हें स्थान-स्थान पर इसलिए खुदवाता हूँ कि लोग इनको बार-बार पढ़ें और इसमें निर्देशित तथ्यों का पालन करें। सम्भवतः इसी उद्देश्य से हेल्योदोरस नामक यवन दूत ने मथुरा में गरुड़-ध्वज की स्थापना की थी।

कुमारगुप्त प्रथम के भीतरी मुद्रा अभिलेख में केवल उसका वंशवृक्ष दिया गया है लगता है कि वंश का परिचय देने के लिए भी कभी-कभी राजा लोग लेख उत्कीर्ण करवाते थे।

संस्कारों के अवसरों तथा त्योहारों पर भी लेख खुदवाने का चलन था। इस प्रकार के लेख मध्यकाल में बहुतायत से मिलते हैं। गढ़वाल नरेश जयचन्द ने अपने राजकुमारों के जन्म तथा चूड़ाकर्म के समय बहुत अधिक दान दिया था एवं उसके उपलक्ष में लेख भी अंकित कराया था। गहड़वाल तथा कलचूरी नरेशों में माता-पिता के श्राद्ध के अवसर पर बहुत अधिक दान देने का चलन था। वे इस अवसर पर दान की पुष्टि में अभिलेखों को उत्कीर्ण कराते थे। इसी प्रकार हिन्दू त्योहार जैसे—संक्रान्ति, अक्षय तृतीय, रामनवमी आदि के अवसरों पर भी दान देने का प्रचलन था। जो राजा ऐसे त्योहारों पर दान देते थे वे भी कभी-कभी इसके संबंध में लेख भी उत्कीर्ण करा देते थे।

वैशाली लिछवियों का स्थान था। वह व्यापारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था। वहाँ उत्खनन में श्रेणियों द्वारा उत्कीर्ण करायी गयी अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं। आर्थिक वृद्धि के द्योतक अनेक सिक्के विभिन्न लेख युक्त पाये गये हैं। इन पर राजा का नाम उनकी विरुद उत्कीर्ण है। कई प्रकार के एक ही राजा के सिक्के इस बात के द्योतक हैं कि आर्थिक स्थिति की उन्नति के लिए वे चालू किये गये थे जिन पर भिन्न-भिन्न लेख उत्कीर्ण पाये गये हैं। इन प्रमुख अवसरों पर सामान्यतया लेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

अभिलेख लिखने के स्थान

यह तो स्पष्ट ही है कि कोई भी राजा अपना अभिलेख अपने राज्य के अन्तर्गत ही खुदवाता या गड़वाता है। किन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि अपने राज्य के बाहर भी कुछ राजाओं ने अपने अभिलेख स्थापित कराये हैं जैसे—हेल्योदोरस नामक यवन शासक का कर्मचारी अन्टीअल्काइडस वादिशा में गरुड़-ध्वज की स्थापना कराया था तथा उस पर उसका लेख खुदा हुआ मिलता है। इसी प्रकार अशोक का एक अभिलेख अरमेइक भाषा में अफगानिस्तान में मिला है। परन्तु ऐसे अभिलेख अत्यन्त न्यून हैं और जो हैं भी वे किन्हीं सार्थक आधारों पर स्थापित किये गये हैं। पर यह भी विचारणीय है अपने राज्य में विभिन्न स्थानों पर कोई भी राजा अपना अभिलेख

अंकित कराता था उसके अंकित के पीछे घटना का चाहे जो भी महत्त्व रहा हो स्थान का महत्त्व भी रहता था।

अशोक के स्तम्भ लेख उसके राज्य की सीमा प्रदेशों पर अंकित कराये गये हैं जैसे—शहबाजगढ़ी, मानशेहरा, कालसी, धौली, जौगड़, सोपारा आदि। उसने इनकी स्थापना का आशय भी स्पष्ट किया है कि मैंने सीमा प्रदेशों पर इसलिए इनको अंकित कराया है कि हमारे सीमा के बाहर रहने वाले लोग भी हमारे विचारों को बार-बार पढ़ें समझें और इसका अनुसरण करें। इसी प्रकार गुप्तबुद्ध, का दामोदरपुत्र ताम्रपत्र लेख पूर्वी बंगाल के दिनाजपुर जिले से प्राप्त हुआ है। यह बुद्धगुप्त की पूर्वी सीमा निर्धारित करता है तथा कुमारगुप्त के कलाईपुरी, वैग्राम, दामोदरपुर आदि अभिलेख इसकी पूर्वी सीमा के पास ही हैं। इसी आशय से सम्भवतः पल्लव नरेशों का तक्षशिला लेख, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख और नहपान का नासिक अभिलेख उक्त स्थानों से प्राप्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि सीमा प्रदेश पर कभी-कभी अभिलेख अंकित किये जाते थे।

अशोक के कुछ अभिलेख धार्मिक स्थानों से प्राप्त हुए हैं जैसे—लुम्बिनी, सारनाथ आदि। लुम्बिनी में भगवान का जन्म हुआ था। सारनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र परिवर्तन मुद्रा में प्रथम भाषण दिया था। अतएव दोनों स्थान भगवान बुद्ध से संबंधित हैं। इसलिए वहाँ अशोक ने अपने लेख अंकित कराये क्योंकि वह स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। इसी प्रकार वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण अयोध्या में धनदेव का अभिलेख मिला है क्योंकि वैष्णण धर्म से सम्बन्धित वह स्थान था। मथुरा भी वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ से भी बहुत से अभिलेख प्राप्त हुए हैं। विभिन्न मूर्तियों के आधार पीठ पर जो लेख मिलते हैं वह भी इसी भावना की पुष्टि के परिचायक हैं कि धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होने के कारण धर्मस्थानों में जो मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं उन पर लेख भी अंकित करा दिया जाता था।

प्राचीन भारत में व्यापारिक मार्ग थे। उनसे भारत के दूर-दूर प्रदेशों की व्यापारिक मंडियों से जोड़ा गया था। इन व्यापारिक मार्गों में कुछ चौराहे बने थे। जहाँ मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे वहाँ विभिन्न दिशा से आने वाले यात्री तथा व्यापारी परस्पर मिलते थे। ऐसे प्रमुख स्थान के वैशाली, सांची, मन्दसोर, कौशाम्बी आदि थे। इसीलिए वैशाली में विभिन्न राजाओं की मुहरें, मन्दसोर में अभिलेख, सांची में स्तम्भ लेख और कौशाम्बी में अशोक तथा समुद्रगुप्त के लेख प्राप्त हुए हैं, जो अब प्रयाग में स्थित है।

राजा जब विजय के लिये प्रयाण करते थे तो कहीं-न-कहीं अपनी सेना का कैम्प लगाकर आक्रमण करते थे जिसे जयस्कन्धावर कहते थे। इन कैम्पों में जो अत्यन्त प्रमुख कैम्प होते थे वहाँ से राजा लोग विज्ञप्ति निकालते थे। ये विज्ञप्तियाँ अभिलेखों में अंकित कर स्थापित कर दी जाती थीं। इस प्रकार की एक विज्ञप्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरि गुफा में अंकित है। वहाँ लिखा है कि 'पृथ्वी जयार्थेन राज्ञीवै सहागतः।' इस प्रकार के लेख वल्लभी, बाँसखेड़ा, खालीमपुर तथा मुंगेर नामक स्थानों से भी प्राप्त हुए हैं।

राजधानी अथवा उसके पड़ोस के प्रमुख नगरों में प्रायः राजाओं के अभिलेख मिले हैं जैसे गुप्त राजाओं का कार्यक्षेत्र मूलतः बिहार था। इसीलिए बिहार के विभिन्न स्थानों से उनके लेख प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार उसके पड़ोस में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के भीतरी नामक स्थान से प्रभावती गुप्ता, स्कन्दगुप्त आदि के लेख मिले हैं। लगता है यह भी प्रशासनिक महत्त्व का स्थान रहा होगा।

इसी प्रकार उत्तर-गुप्त शासकों के सम्बन्ध का अभिलेख गया तथा मौखरी शासकों का अभिलेख हरहाँ नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। तक्षशिला जो कुषाण राजाओं की राजधानी थी वहाँ से भी कुषाण अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

सांस्कृतिक महत्त्व के स्थानों पर भी राजा लोग अपने लेख अंकित करवाते थे। यह प्रायः दान सम्बन्धी होते थे। नालन्दा भारत का एक सांस्कृतिक स्थल था। यह शिक्षा का भी एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहाँ अनेक राजाओं द्वारा अंकित कराये गये अभिलेख प्राप्त हुए हैं। खजुराहो से प्राप्त लेखों को भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं।

विजित स्थानों अथवा ऐसे जगहों पर जहाँ कोई महत्त्व का काम किसी राजा के समय में किया जाता था तो वहाँ वह राजा लेख खुदवाता था। इसका कारण सम्भवतः रहा होगा कि उसकी यादगार बना रहे। इस सम्बन्ध में अशोक का कलिंग स्तम्भ लेख द्रष्टव्य है। उसकी स्थापना वहाँ कलिंग विजय के कारण ही की गई थी। इसी प्रकार दामोदरपुर में जो दानपत्र मिले हैं वह इसीलिए कि वहाँ बहुत बड़ी संख्या में राजाओं ने अग्रहारा दान दिया था।

इस प्रकार विभिन्न उद्देश्यों को लेकर स्थानों का चयन अभिलेखों को अंकित कराने के लिए किया जाता था।

अभिलेखों में कमियाँ

अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसको अशोक की तरह बहुत कम ही राजा अपनी ही देख-रेख में खुदवाये हों। प्रायः दरबारी, सामन्त, राजकवि आदि स्वेच्छानुसार इसकी रचना करके उत्कीर्णक को दे देते थे जो उसे निर्दिष्ट स्थान पर उत्कीर्ण कर देते थे। इस रचना में रचयिता राजा का पक्षपाती व्यक्ति ही होता था। इसलिए वह घटनाओं का निष्पक्ष विवरण देते हुए भी अतिरंजना से बिलकुल निर्लिप्त रहता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः उसके गुणों के वर्णन में अतिरंजना का सहारा लेता ही होगा जिससे उसका स्वामी राजा उससे प्रसन्न हो जाय। यह मानव स्वभाव है। इससे वंचित होने वाला विरक्त कोई रचयिता होगा ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

लेखक राजा की वंशावली की चर्चा करता है। पर उसमें भी वंशानुक्रम का ही अनुकरण करता है, राज्यानुक्रम का नहीं। गुप्त अभिलेखों में देखते हैं कि श्रीगुप्त के बाद घटोतकच्छ, फिर चन्द्रगुप्त, तब समुद्रगुप्त और फिर चन्द्रगुप्त आदि का उल्लेख किया गया है। वहाँ रामगुप्त, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई था, उसका नाम लेखक ने छोड़ दिया है। सम्भवतः इसलिए कि चन्द्रगुप्त और रामगुप्त भाई थे जिनमें रामगुप्त अशक्त एवं क्लीव शासक था। इसी दोष के कारण रामगुप्त की ऐतिहासिकता आज भी इतिहासकारों के बीच एक विवाद की कड़ी बनी हुई है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति को लीजिए तो वहाँ समुद्रगुप्त की दिग्विजय का उल्लेख किया गया है। इस चर्चा में हरिषेण नामक कवि, जो इस लेख का रचयिता है, सबसे पहले उसकी दक्षिण-विजय की चर्चा करता है और बाद में उत्तर भारत की विजयों का वर्णन करता है। यह वास्तव में बड़ा अस्वाभाविक है कि एक शासक, जो इतना बड़ा राजनीतिज्ञ था कि दक्षिण में अपनी स्थिति समझने के कारण ही वहाँ के शासकों को जीतकर भी स्वतन्त्र कर दिया था, भला कैसे उत्तर में अपनी राजधानी को अरक्षित छोड़कर दक्षिण में विजय के लिए आया होगा। यह रचयिता का दोष ही प्रतीत होता है जो विद्वानों के बीच विवादास्पद समस्या बन चुका है कि इस शासक ने पहले उत्तर में विजय की थी अथवा दक्षिण में ?

कभी-कभी समस्तपद भी हमारे अध्ययन में कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। समुद्रगुप्त का ही लेख लें तो वहाँ एक स्थल है 'पैष्टिपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्त'। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जाती है—पैष्टिपुर का राजा महेन्द्र गिरि तथा कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त अथवा पैष्टिपुर, महेन्द्रगिरि और कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त। इसमें कौन सत्य के अधिक समीप है यह स्वतः यह समस्या बन गई है। इसके निराकरण के अभाव में एक निश्चित धारणा प्रतिपादित करना बड़ा ही कठिन है।

गुप्तवंशीय शासन वृक्ष में स्कन्दगुप्त के बाद के राजाओं में कुमारगुप्त नामक एक राजा का ज्ञान मिलता है। इस नाम के स्कन्दगुप्त के बाद शासन करने वाले राजा के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं एक सारनाथ की बुद्ध मूर्ति के पदाधार पर अंकित है जिसमें गुप्त सम्वत् 154 है तथा दूसरा गाजीपुर के भीतरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ है जो तिथि विहीन है। यह बड़ा अनिश्चित है कि ये दोनों अभिलेख क्या एक ही व्यक्ति के हैं अथवा दो अलग-अलग व्यक्तियों के? इसी समस्या ने इतिहास जगत में झगड़ा खड़ा किया है कि स्कन्दगुप्त के बाद उत्तराधिकार क्रम किस प्रकार निर्धारित किया जाय। यदि दोनों अभिलेखों में राजाओं की तिथियाँ दी गई होतीं तो यह समस्या न उत्पन्न होती। इसी प्रकार की तिथि सम्बन्धी दूसरी समस्या है कि कुछ राजवंश जिनमें किसी सम्वत का प्रचलन नहीं था उनके भी अभिलेखों में तिथियाँ दी गई हैं किन्तु यह उल्लेख नहीं किया गया है कि वे किस सम्वत् से सम्बन्धित हैं। अतः उनकी वास्तविक गणना बड़ी ही दुरूह हो गई है। इस सम्बन्ध की तीसरी समस्या है कि बहुत दिनों तक किसी भी काल गणना का चलन नहीं था। उस समय अभिलेखों में किसी भी तिथि क्रम के उल्लेख का अभाव राजाओं या राजवंशों की काल गणना के लिए समस्या बन गई है।

ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख प्रायः अभिलेखों में मिलता है। किन्तु वहाँ संकेत मात्र ही उल्लेख किया जाता है जबकि उसका व्यवस्थित विवरण सर्वदा अपेक्षित है। इसका कारण यह है कि स्थान इतना सीमित होता है कि लेखक के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह तथ्य का व्यवस्थित विवरण दे सके। यही कारण है कि शक-सातवाहन अभिलेखों के अध्ययन से संकेत मात्र प्राप्त होता है कि दोनों के बीच युद्ध हुआ था। पर उस युद्ध का व्यापक वर्णन किसी एक अभिलेख में न होकर बिखरा पड़ा है, जिनको संजोकर तथा दूसरे स्रोतों से उनको पुष्ट करके ही इस सम्बन्ध में हम व्यवस्थित जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

कभी-कभी अभिलेख अधूरी बात कहकर मौन हो जाते हैं। वहाँ इतिहासकार के सम्मुख समस्या बन जाती है कि उसका व्यवस्थित ज्ञान कैसे प्राप्त करें। इस सम्बन्ध में हम मेहरौली के 'चन्द्र' नामक राजा को ले तो स्पष्ट होगा कि वहाँ इस राजा के विजय का वर्णन किया गया है किन्तु यह नहीं बताया गया है कि इसका पूरा नाम क्या था ? यह किस वंश का था ? इसके माँ-बाप कौन थे ? यह कहाँ का रहने वाला था ? तथा इसके शासन की तिथि क्या थी ? इसके अभाव में इतिहासकार बहुत दिनों तक अटकल लगाते रहे कि वह शासक चन्द्रगुप्त मौर्य था अथवा चन्द्रगुप्त प्रथम या द्वितीय में से था या पुष्करण का राजा चन्द्र था।

बादामी के महाकूट स्तम्भ लेख में चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन की विजय का उल्लेख किया गया है। उसने अंग, वंग, कलिंग, मगध, मद्रक, केरल, मूसक, पाण्डय आदि को इस विवरण के अनुसार जीता था। पर उसके लड़के पुलकेशिन द्वितीय के अयहोल अभिलेख में अपने पिता द्वारा किए गए विजयों की चर्चा में केवल नल, मौर्य और कदम्बो का ही उल्लेख है। इन विरोधी विवरणों में पुलकेशिन द्वारा की गई विजय का उल्लेख उचित प्रतीत होता है। सम्भवतः कीर्तिवर्मन के लिए उपर्यंकित अभिलेख

का वर्णन कल्पना मात्र ही रहा होगा। अतएव अभिलेखों के अध्ययन तथा एवं कल्पना के बीच पाठक को रेखा खींचना आवश्यक होता है।

कभी-कभी उत्कीर्णक के दोष के कारण अभिलेखों में दोष आ जाता है। इनमें कुछ अक्षर इतने अस्पष्ट तथा धुन्धले खुदे गये मिलते हैं कि उसके कारण पाठ को शुद्ध करना तथा उचित जानकारी प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसका स्पष्ट उदाहरण है स्कन्दगुप्त के समय पुष्यमित्रों के आक्रमण का उल्लेख जो उसके भीतरी स्तम्भ लेख में हुआ है। धुंधलेपन के कारण यह स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता कि वहाँ यवधेय मित्र अंकित हैं अथवा आमित्र अथवा पुष्यमित्र। जो भी तथ्य हो इतना तो स्पष्ट है कि मित्र नामान्त किसी शासक ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। यदि यह स्पष्ट अंकित होता तो इतिहास की यह गुत्थी सुलझाने में कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता।

उत्कीर्णक के दोष के कारण अभिलेखों में कभी-कभी ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है कि उस राजा या राजवंश के सम्बन्ध में जिसके लिये अभिलेख अंकित किया जा रहा है गलत जानकारी प्राप्त हो जाती है अथवा साथ-साथ विरोधी विचार मिलने लगते हैं।

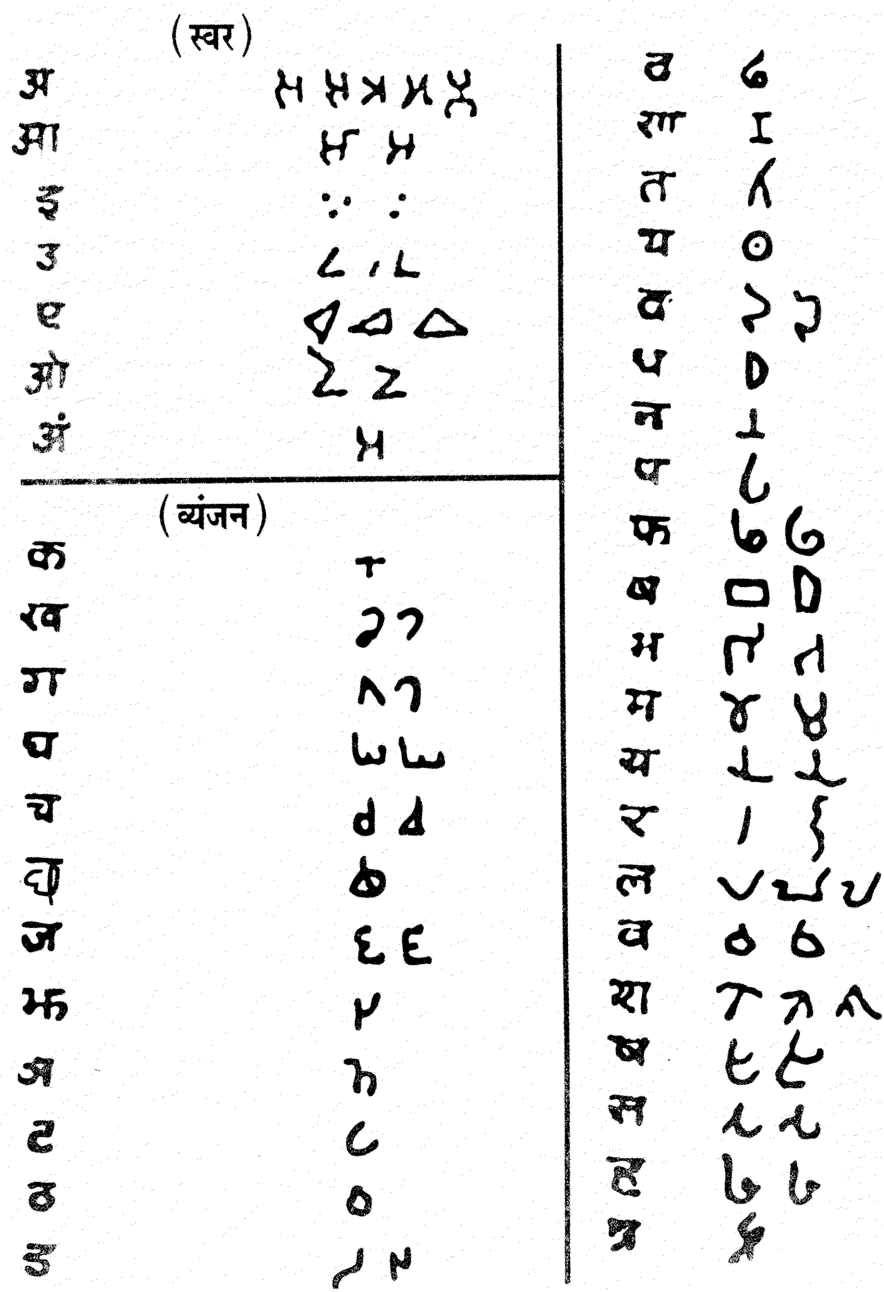
किन्तु इन कमियों के कारण यह सोच बैठना कि अभिलेख महत्त्वहीन या भ्रामक विवरण देते हैं अत्यन्त निराधार है। ऐसी कमियाँ तो प्रायः प्रत्येक मानव निर्मित सामग्री में रहती हैं। इनको विवेक द्वारा परिषोधित करके इनसे तथ्य निकाल लेना ही अध्ययन की विशेषता है। समसामयिक होने के कारण ये किसी भी दूसरे स्रोत के अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा इसमें पाठ भेद वाला दोष जो साहित्यिक ग्रन्थों में बहुतायत से मिलता है, नहीं मिलता। अतः ये हमारे इतिहास के अध्ययन के अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

●

भारतीय पुरालिपी (प्लेट्स)

प्लेट संख्या-1

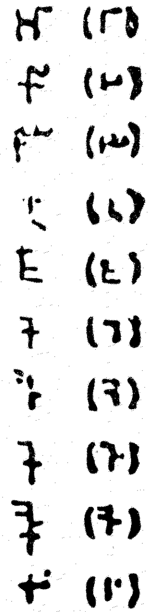
अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि



प्लेट संख्या–2

[मात्राऐं]

आ
कि
की
कु
कू
के
कै
को
कौ
कं



ब्रा
ह्मि
णा
र्व
शा
शि
स्ता
स्मा
तु
क
ले
खे



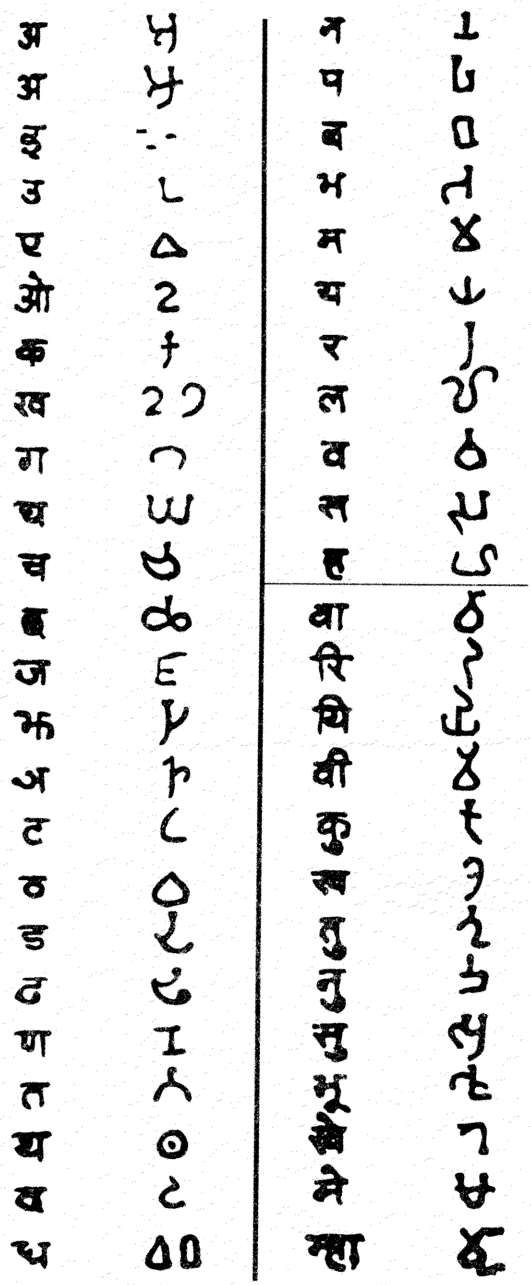
[संयुक्ताक्षर]

ष्टे
ढी
ध्य
ष्ठै
ष्ठी



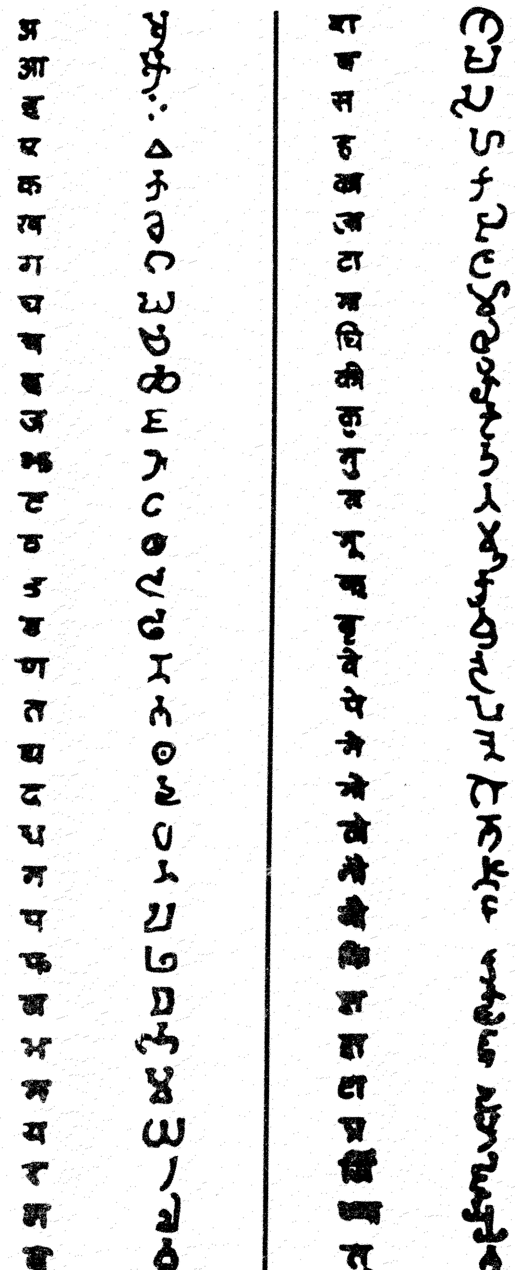
प्लेट संख्या–3

रा सातवाहन राजाओं की लिपि पि



प्लेट संख्या–4

शक क्षत्रप राजाओं के अभिलेख की लिपि



प्लेट संख्या–5

वाकाटक वंशीय राजाओं की लिपि

अक्षर

अ
आ
इ
उ
ए
क
ख
ग
घ
च
ज
ट
ड
ण
त
थ
द
ध
न
प
ब
भ

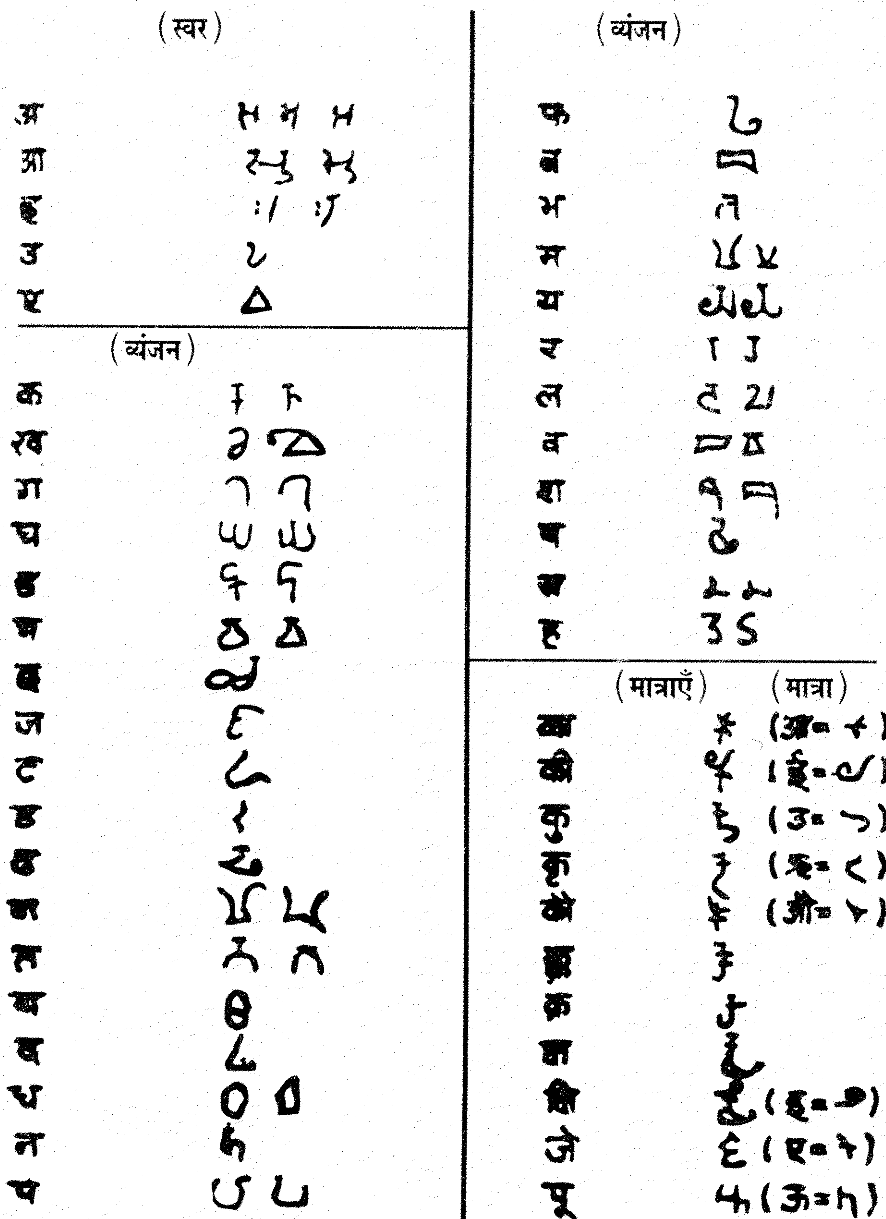


म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह
रा
ति
मि
ली
पु
रु
भू
कृ
पे
पै
मो
ग्रि
ड्न



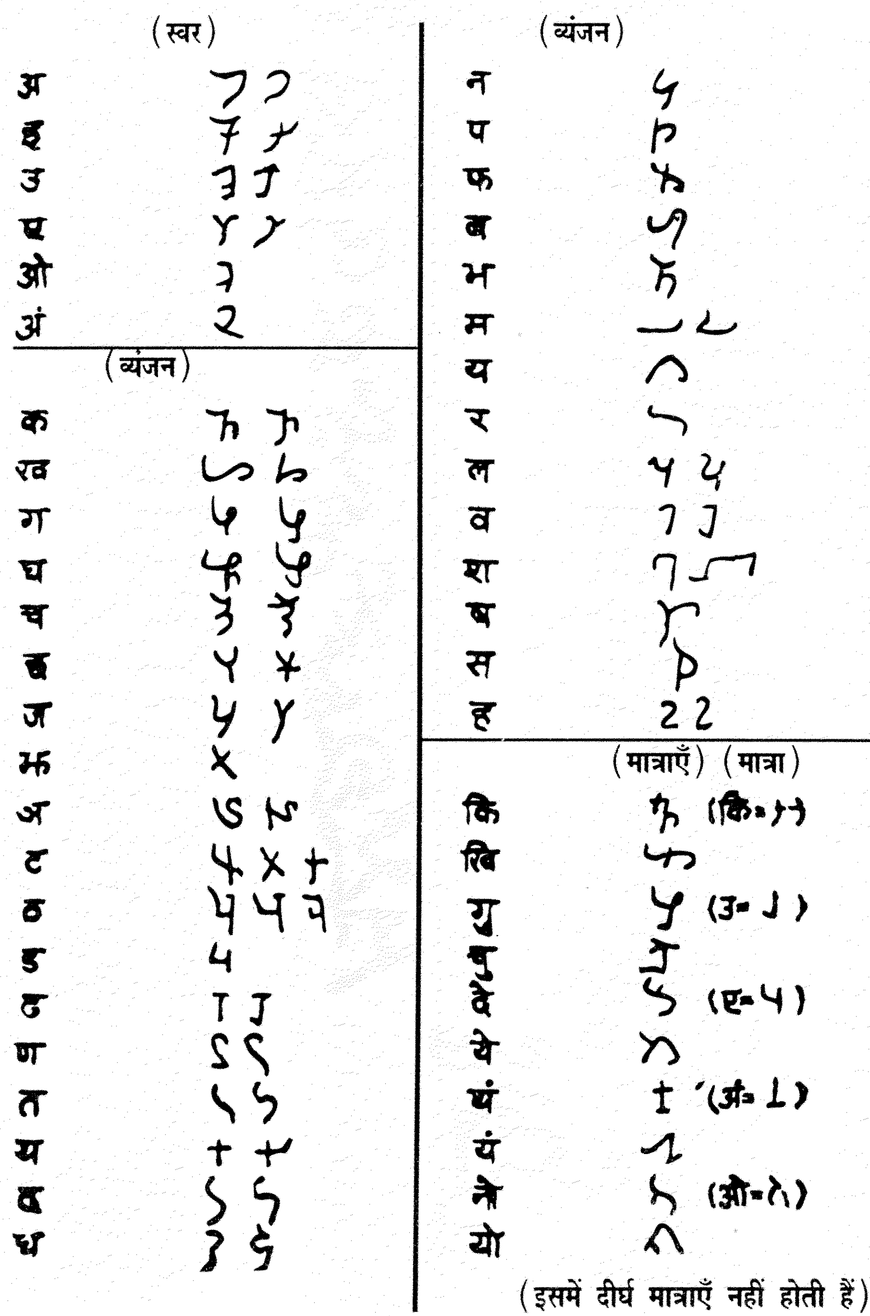
प्लेट संख्या – 6

गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि



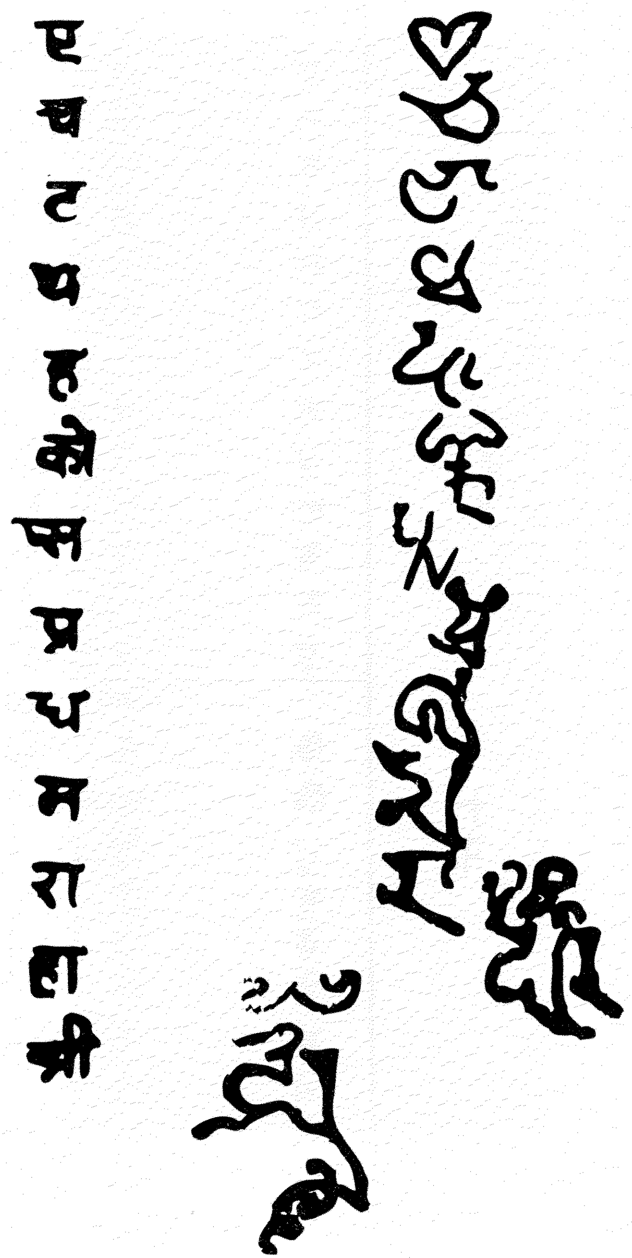
प्लेट संख्या–7

भारतीय खरोष्ठी लिपि



प्लेट संख्या–8

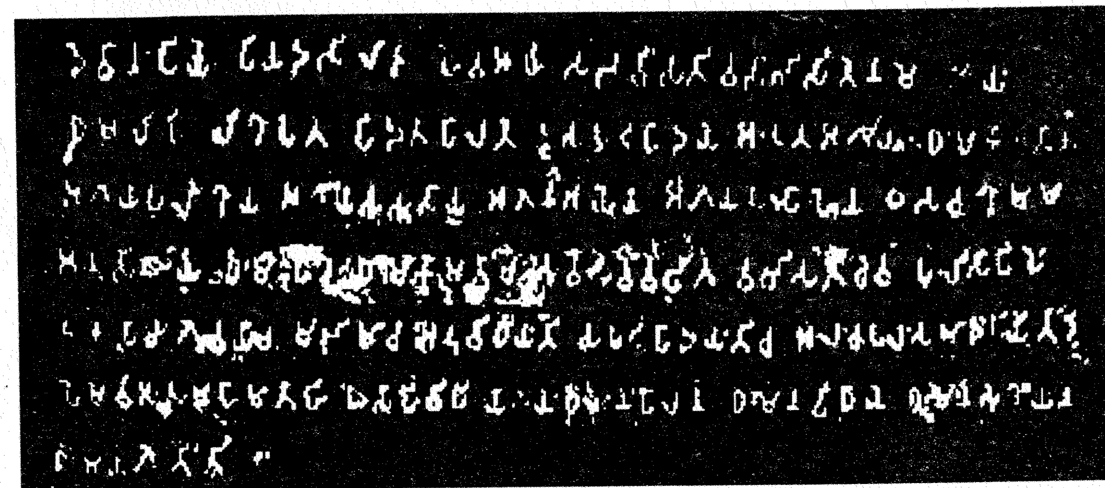
हर्ष के दान पत्र में संयुक्त अक्षर



प्लेट संख्या–9

अनुवाद :

1. देवानं पिये पियदसिलाज हेवं आहा सुडविसति वस, भिसितेन में इयं
2. धमलिपि लिखापिते हिदत पालते (दु) संपटिपादये अंनत अगाया धमका (म) ताया
3. अग (ा) य पलिखाया अगाय सुसूयाय अगेन भयेना अगेन उसाहेना एस चु खो मम
4. अनुसथिय धमापेखा धमकामता च सुवे सुवे बढ़िता बढिसति चेवा पिलिसापि च मे



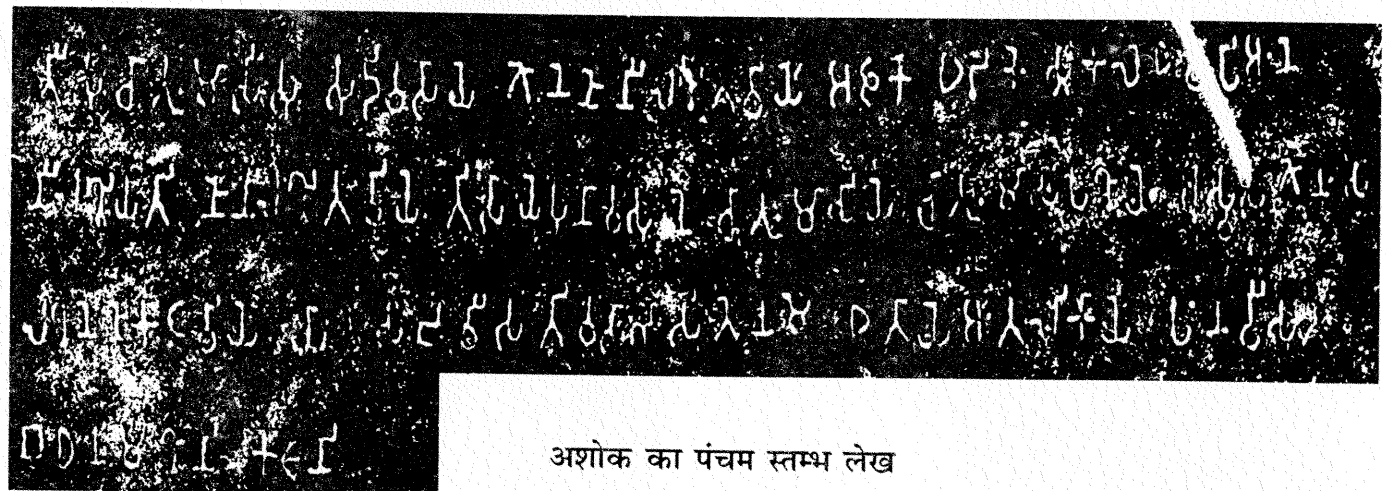
अशोक का प्रथम स्तम्भ लेख

5. उकसा च गेवाया च मझिमा चा अनुविर्धियंति सुपटिपादयंति चा अलचा पलं समाद पयितवे
6. हेमेवे अंत महामातापि एसाहिविधि या इयं धमेन पालना धमेन विधाने धमेन सुखियना
7. धमेन गोतीति

प्लेट संख्या–10

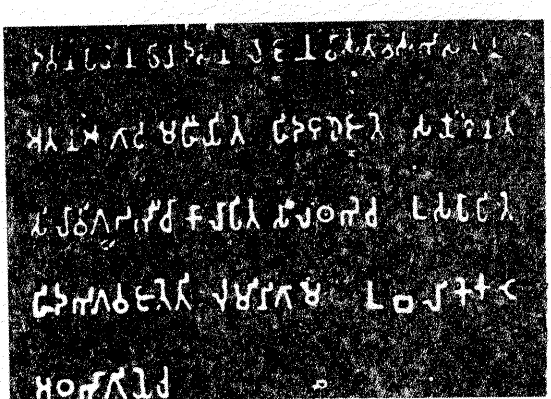
अनुवाद :

1. तीसु चातुमासीसु सुदिवसाये गोनेनोनीलिखितविये अजके एडके सूकले एवापि अने
2. निलखियति नो निलखितविये तिसायेपुनावसुने चातुमासिये चातुमासिपखाये अस्वसागोनसा
3. लखने नो कटविये या वसडुवीसति वसअभिसितेन मे एताये अहलिकाये पंनवीसति
4. बंधन मोखानि कटानि



अशोक का पंचम स्तम्भ लेख

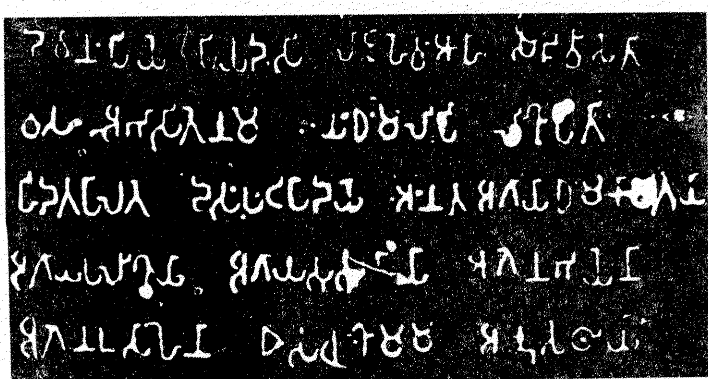
प्लेट संख्या–11



रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ लेख

अनुवाद :

1. देवानं पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
2. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते साक्यमुनी ति
3. सिला विभडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
4. हिद भगवं जाते ति लुमिनिगामे उवलिके कटे
5. अठभागिये च



अशोक का देहली-टोपरा प्रथम स्तम्भ लेख

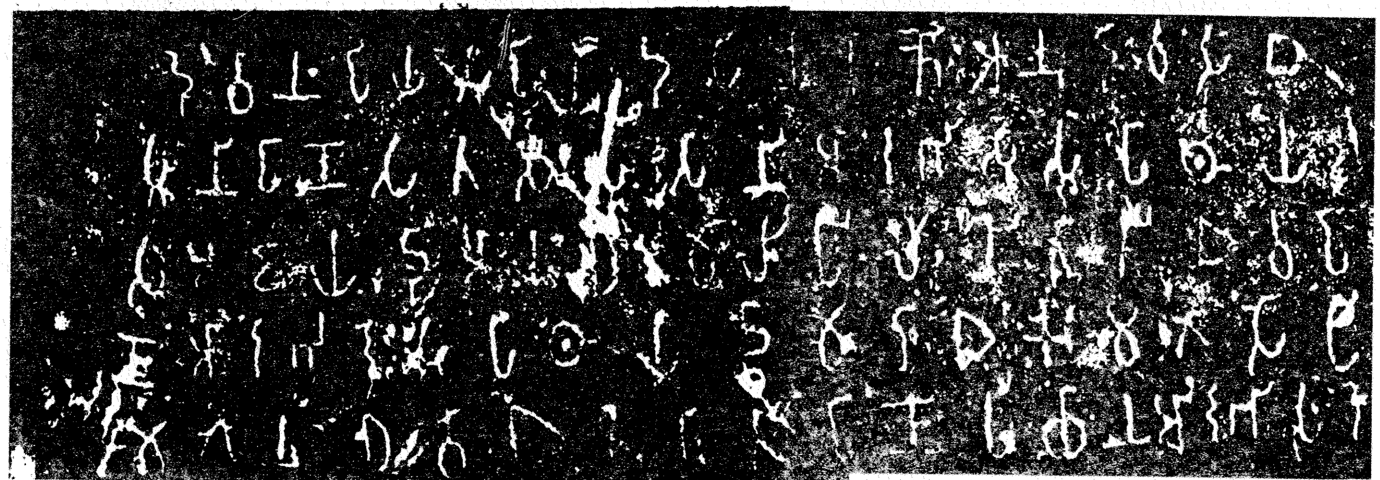
अनुवाद :

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा सडुवीसति
2. वस अभिसितेन मे इयं धमलिपि लिखापिता
3. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धर्मकामताया
4. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेना
5. अगेन उसाहेना एस चु खो मम अनुसथिया

प्लेट संख्या–12

अनुवाद :

1. देवानं पियन पियदसिनो रञो अनुदिवसं ब
2. हूनि पाण सत सहसुनि अरभि सुपाथाय
3. से अज यदा अयं धंमलिपि लिखिता रि (× ती) एव पा
4. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सोपि



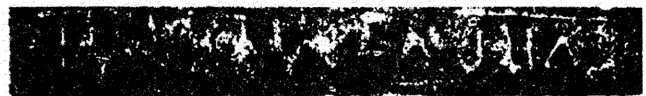
अशोक का प्रथम शिलालेख

5. मगो न धूवो एते पित्री पाणा पछा न आरंभिसेर

प्लेट संख्या–13

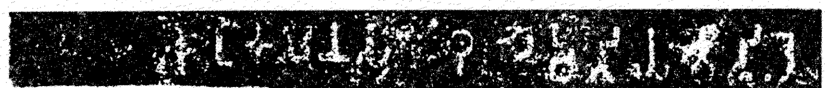
(I)

तेरसु लिखिते पुऽन वलतेरए



(II)

बुधस कोनाकमंजस बुधे दुतियं वढिते



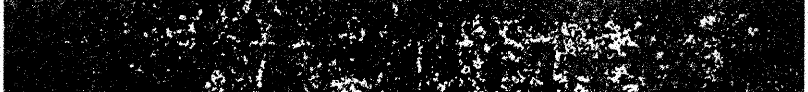
(III)

1. वासिस भिखुस पुगुलस
2. सवबुधानं पुजाये शिला का (र)



(IV)

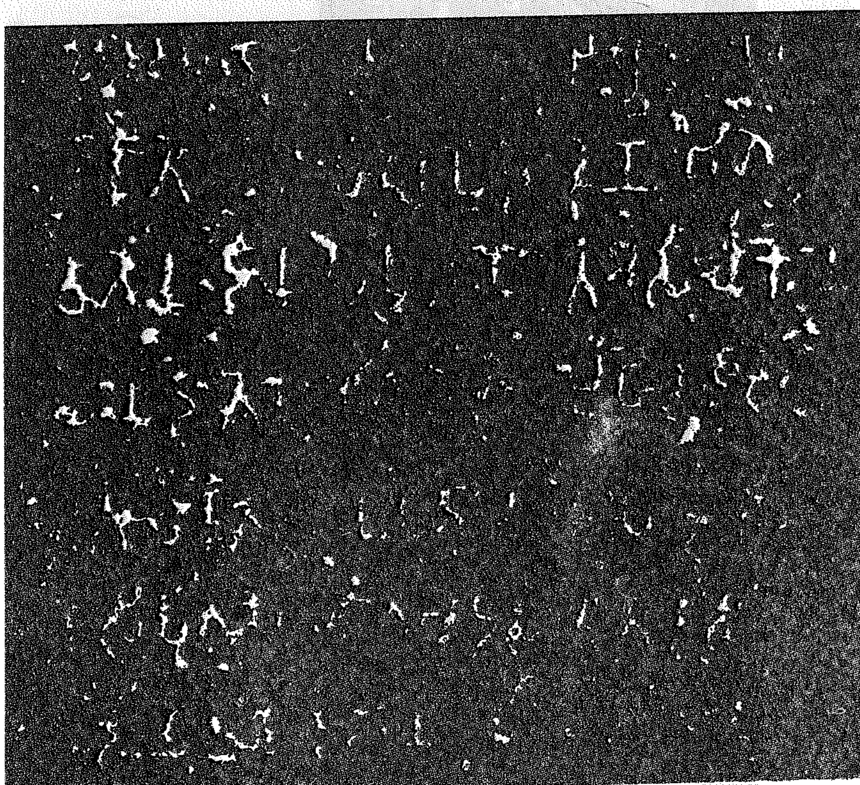
शाला प्राचीनीकन सरुकमान पुत्रेण खरासले



प्लेट संख्या–14

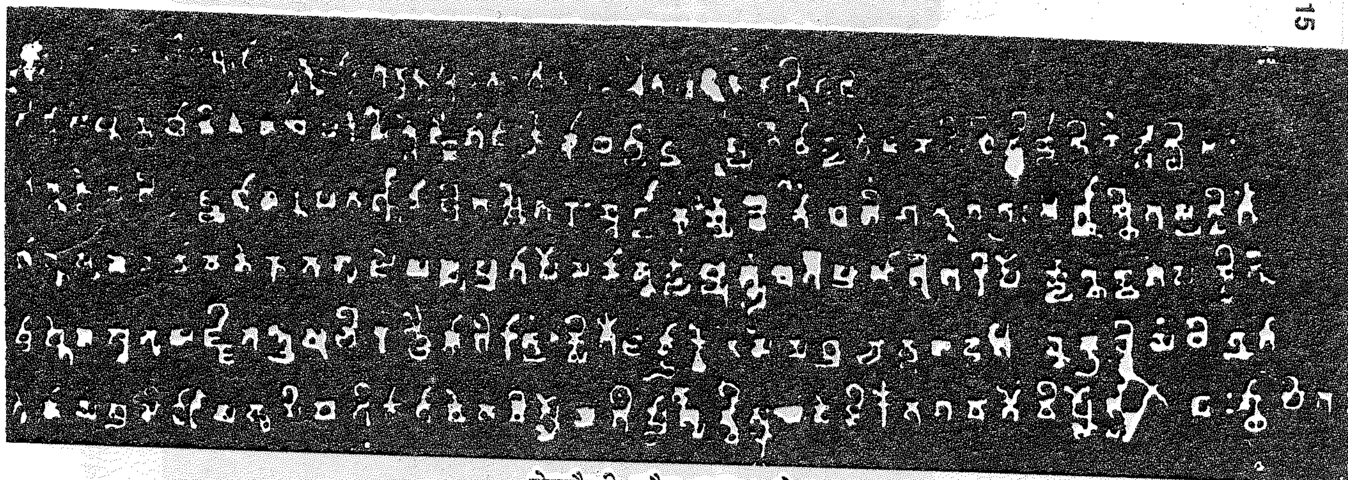
अनुवाद :

1. देव देवसवा वसगरुड़ध्वजे अयं
2. कारिते इ हेलिओदोरेण भाग
3. वतेन दियस पुत्रेण तख्वसिलाकेन
4. योनदूतेन गतेन महाराजस
5. अंतलिकितस उपता सकास रञो
6. ..सीपु..स ग भद्रस त्रातारस
7. वसेन च-तुदसेन राजेन वधमानस



बेसनगर गरुड़ स्तम्भ लेख

प्लेट संख्या–15



मेहरौली लौह–स्तम्भ लेख

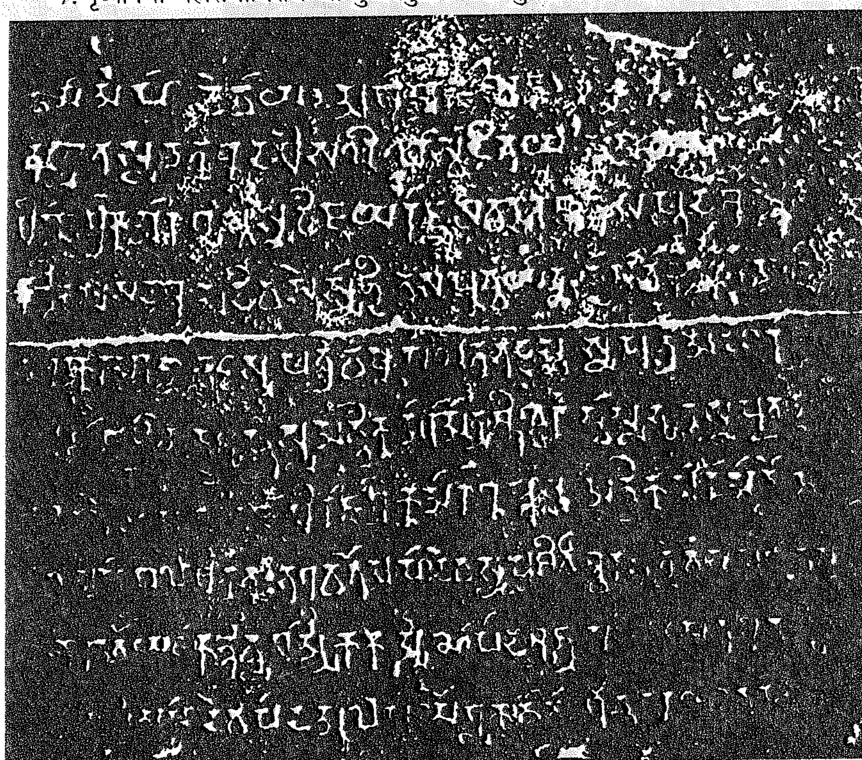
अनुवाद :

1. यस्द्धर्तयतः प्रतीपमु-रमा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहववर्तिनोसभिलिखिता खड्गेन कीर्त्ति-जे।
2. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन-मरे सिन्धोर्ज्जिता-वाह्लिका यस्याध्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्यानिलैर्द्दक्षिणः।
3. खि-न्नस्यैव विसज्या गां नरपतेर्ग्गाभाश्रितस्येतरां मूर्त् (त्) या कमर्मजितावनि गतवतः कीर्त् (त) या स्थितस्य क्षितौ।
4. शान्तस्यैव महावने हुतभुजौ यस्य प्रतापो महान्नाद्यप्युत्सृजति प्रणाशितरियोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिज्।
5. प्राप्तेनस्वभुजाज्जितञ्च सुचरितञ्चैकाधिराज्यं क्षितौ चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र-दृशीं बक्त्रश्रियं विभ्रता।
6. तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णो (ष्णौ) मति प्रान्शुव्विष्णुपरे गिरौ भगवाते विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।

प्लेट संख्या–16

अनुवाद :

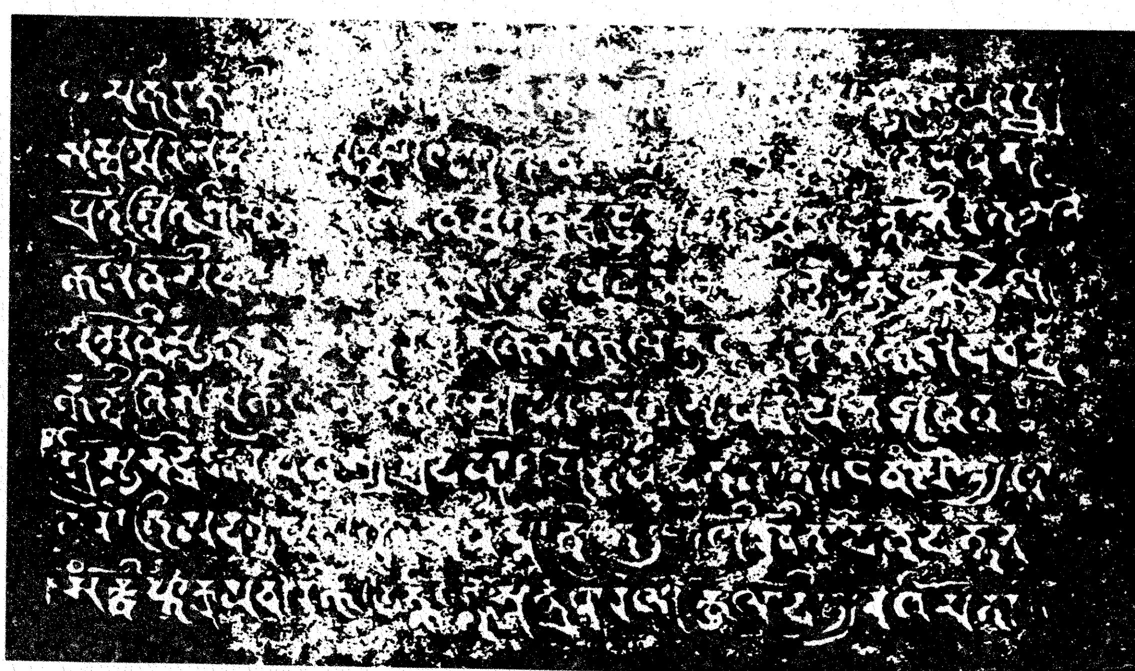
1. नगो महादेवाय (..............)
2. नुष्यातस्य चतुधुदधि सलिलास्वादित य (.............)
3. धिराज श्री कुमारगुप्तस्य विजयराज्य संवत्सर-शतेसप्तशोत्तरे–
4. कार्तिक मास दशम दिवस स्यान्दिवसपूर्व्वायां (...) वाजि
5. सगोत्र कुमा-र भट्टस्य पुत्रो विष्णुपालित-भट्टस्तस्य पुत्रो महरज
6. अधिजाजा श्री चन्द्रगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यमृत्तस्यपुत्रः
7. पृथ्वीषेणा महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्ये-न



प्रथम कुमार गुप्त का करमदण्डा लेख

8. नन्तरं च महाबलाधिकृतः भगवती महादेवस्य पृथ्वीश्वर इत्येवं समाख्यातस्या
9. स्यैव भगवतो यथाकर्त्तव्य धार्म्मकर्म्मणा पादशुश्रूणाय भगवच्छै
10. लेखश्वरस्वाभि महादेव पादमूले अयोध्यक नानागोत्रचरणतपः

प्लेट संख्या–17



विष्णुगुप्त का मंगराव अभिलेख

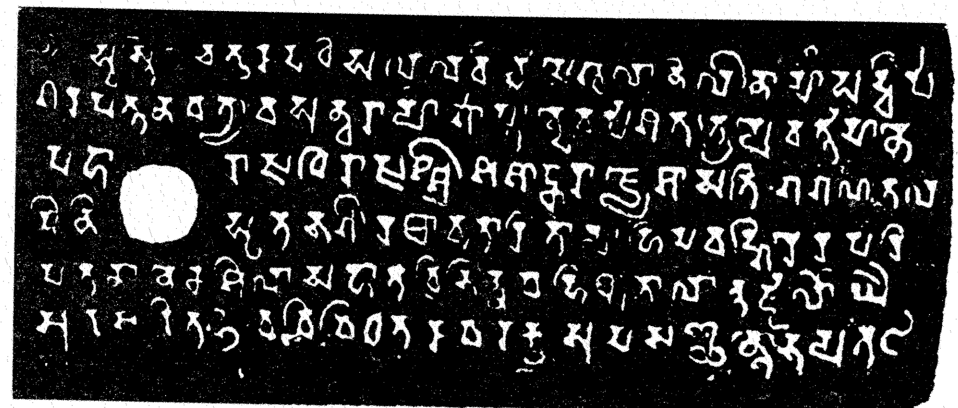
अनुवाद :

1. श्री महाराजाधिराज परमेश्वर श्री विष्णुगुप्त देव प्रवर्द्धमान विजय राज्ये
2. संवत्सरे गुप्तवंशे संवत् 110 (×) 7 श्रावण शुदि 2 चन्दस्थील तपोवन
3. प्रतिष्ठित श्री मित्र केशव देव प्रतिबद्ध पुष्पपट्टे स्वसिद्धान्तभिरत अने
4. कशिवसिद्धातन तीर्थावमाहने पवित्रो कृतः तनुः कट्टुकदेशी
5. य अविमुक्तजः अंगारग्राम के सकल कुटुम्बिनां सकासादा चन्द्रा
6. कीक्षिति समकालीनं तैलस्य पलमेकमुयकीय भगवतः
7. श्री सुमद्रेश्वर देवस्य प्रदीयार्थ प्रतिपादितवान एवं योन्यथा
8. करोति यदत्रापार्य स्तनदवाप्नोतीति लिखिता देवदत्तेने
9. संक्षिप्ता क्रमचीरिका उत्कीर्णा सूत्रधोरण कुलादित्येनधीमता

प्लेट संख्या–18

अनुवाद :

1. (...) स्वीस्ति—चतुरुदधि सलिल वीचि मेखलानिलीनायं सद्वीपा
2. गरपत्तनवत्पा वसुन्धराया गौप्ताब्दे वर्षाशतत्रये वर्तमाने
3. महाराजाधिराज श्रीशशंकाराज्ये शासति गगण तले
4. विमिसृता भगीरथावतारिताया हिमवादीरेर परि
5. पतनानेक शिला सहात विभिन्न वहि पातालान्तर्ज्जु लौघै



शशांक का गंजाम ताम्र-पत्र

6. सुरसरित इब विविध तरुवर कुसुम सञ्छन्नो भयतटा

भाग — 2

अभिलेख

(मूलपाट, संस्कृत छाया, हिन्दी अर्थान्तर और ऐतिहासिक महत्त्व)

अध्याय 1

अशोक-पूर्व अभिलेख

1. पिपरहवा बौद्ध अस्थि-कलश अभिलेख
(Piparahwa Budhist Vase-Inscription)

स्थान : पिपरहवा, जिला—सिद्धार्थनगर, नैपाल सीमा के पास, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत (पूर्वी वर्ग)

लिपि : प्राङ् मौर्य-ब्राह्मी

काल : बुद्ध निधन के ठीक बाद (= 5वीं शती ई॰ पू॰)[1]

विषय : बुद्धावशेष पर वैयक्तिक अभिलेख

संदर्भ : सरकार, स॰ ई॰, भाग 1, पृ॰ 81

मूल पाठ

सुकिति भतिनं[2] सभगिनिकनं सपुतदलनं।
इयं सलिल निधने[3] बुधस भगवते सकियनं[4]॥

1. सिलौनी परम्परा के अनुसार बुद्ध का महापरिनिर्वाण 483 ई॰ पू॰ में हुआ था। उसी समय की यह घटना लगती है। अतः इस लेख का काल 5वीं शती ई॰ पू॰ रखा जाना ठीक है। डॉ॰ सरकार ने इसे 3 शती ई॰ पू॰ का माना है किन्तु इसकी यथार्थता प्रमाणित नहीं होती।

2. सुकिति भतिनं = (सं॰) सुकृति भ्रातृणां = (हिन्दी) सुकृति के भाई। (Dr. R. B. Pandey, H. & L. I. 85 p. 1) कुछ विद्वानों ने 'सुकिति' और 'भतिन' को दो अलग-अलग व्यक्तिवाचक संज्ञा मानकर 'सुकीर्ति और भक्ति' अनुवाद किया है। (Dr. Sircar, S. I. संस्कृत छाया p. 81) कुछ लोगों ने 'सुकीर्ति के भाई' अनुवाद किया है। किन्तु डॉ॰ पाण्डेय का पक्ष ही अधिक सटीक है क्योंकि 'सुकृति' बुद्ध का एक विशेषण था। '......... कपिलवत्थुवासी सक्या कोसिनारकानं मल्लानं दूतं पहेसि। .... मयम्पि अरहाम भगवाते सरीरानं भागं,' (महापरि॰ सु॰ 285) इससे स्पष्ट है कि शाक्यों के पास बुद्ध का शरीरावशेष था। यह अवश्य बुद्ध के परिवार वालों के पास रखा गया होगा। अतः 'सुकृति भ्रातृणां' ही अधिक उपयुक्त लगता है।

3. सलिल निधने = (सं) शरीर निधानं = (हिन्दी) अस्थि पात्र। भगवान के फूले को पात्र में रखकर उस पर स्तूप बनाया जाता था।

4. सकियनं = (सं॰) शाक्यानां। किन्तु फ्लीट महोदय ने इसे संस्कृत 'स्वकीयानां' माना है। पर यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि बुद्ध शाक्यवंशी थे। चूंकि सकियनं 'भगवते' के बाद आया है अतः शाक्यानां ही ठीक है। डॉ॰ सरकार ने 'सकियनं' के अन्तिम पद को 'यान' पढ़ा है। पर डॉ॰ पाण्डेय ने 'य' के साथ 'ा' की मात्रा का होना ठीक नहीं माना है क्योंकि पूरे अभिलेख में दीर्घ मात्रा का अभाव है जो अशोक-पूर्व के अभिलेखों में पाया जाता है।

संस्कृत छाया

सुकृतिभ्रातृणां सभगिनीकिनां सुपुत्रदाराणाम्।[1]
इदं शरीरनिधानं बुद्धस्य भगवतः शाक्यानाम्।।

हिन्दी अर्थान्तर

सुकृति के भाइयों, भगिनियों, पुत्र-दाराओं सहित।
यह शरीर निधान भगवान बुद्ध का शाक्यों के।।

ऐतिहासिक महत्त्व

अस्थिकलश पर अंकित यह अभिलेख पिपरहवा स्तूप से प्राप्त हुआ है। यह स्तूप उत्तर-प्रदेश के सिद्धार्थनगर जनपद के पिपरहवा नामक स्थान में था जो नैपाल की सीमा पर कपिलवस्तु से ग्यारह मील दूर है। उसी स्तूप में रखे गए अस्थि-कलश की गर्दन पर यह लेख उत्कीर्ण है। यह अस्थि-कलश पत्थर का है। लगता है कि पत्थर के एक मोटे भोट को काटकर इसे बनाया गया हो। इसकी लिपि ब्राह्मी है तथा भाषा प्राकृत। इसकी तिथि विवादास्पद है, पर लिपि और अभिलेख के विवरण के अनुसार लगता है कि यह अशोक पूर्व का ही रहा होगा। फिर भी कुछ निश्चित रूप से कहना बहुत सम्भव नहीं है क्योंकि यह लेख एक पंक्ति में उस पात्र पर लिखा है और उसमें भी कुछ अक्षर जो नहीं आ पाये हैं तो उनको पंक्ति के ऊपर लिखा गया है। इसका छन्द थामस के अनुसार आर्या और फ्लीट के अनुसार उपगीति है। रीजडेविस, ब्यूलर आदि इस लेख की प्रथम पंक्ति को द्वितीय और द्वितीय को प्रथम मानते हैं। पर फ्लीट का यह पाठ अधिक उचित लगता है।

इस अभिलेख में 'सलिल निधने' अर्थात् शरीर निधानं अंकित है। उस शरीर निधान के ऊपर एक स्तूप बनाया गया था। स्तूप निर्माण की यह परम्परा वैदिक कालीन प्रतीत होती है क्योंकि ऋग्वेद में भी स्तूप शब्द का उल्लेख है। भगवान बुद्ध ने दिव्यावदान में स्वयं कहा है कि मेरे मृतक शरीर पर चातुमहापदे पर उसी प्रकार स्तूप बनावए जायँ जैसे राजाओं के मरने पर बनवाया जाता है। जैन साहित्य में भी स्तूप की चर्चा की गई है। वहाँ मथुरा के प्राचीन स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है। इसी परम्परा में बुद्ध के आदेशानुसार पीछे बौद्ध स्तूप बनने प्रारम्भ हुए। इसका निर्माण बुद्ध के शरीर की राख पर किया जाता था जिसे एक पात्र में रखकर उस पर धूहा की तरह की मिट्टी की आकृति बना दी जाती थी, जिसका स्वरूप क्रमशः बाद के दिनों में सुन्दर होता चला गया। इसी परम्परा में कुछ बौद्ध गृहस्थों द्वारा पीछे पूजा के भी स्तूप बनाए गए जो किसी मनौती आदि के पूरा होने पर निर्मित किये जाते थे। किन्तु मूल स्तूप अनुश्रुति के अनुसार प्रारम्भ में आठ थे जो बुद्ध के शरीर धातु पर बने थे क्योंकि बुद्ध के शरीर (राख) के आठ भाग किए गए थे और उन्हीं पर ये आठों स्तूप आठ गणराज्यों में निर्मित हुए। इनमें से सात स्तूप क्षत्रिय राजाओं द्वारा निर्मित किए गए और आठवाँ ब्राह्मण द्वारा। इस अनुश्रुति की पुरातात्विक पुष्टि भी साँची के दक्षिणी तोरण द्वार की निचली बड़ेरी पर अंकित कला से होती है जिसमें अस्थि के लिए युद्ध का अंकन है। इस युद्ध में एक घेरा है जिसमें एक हाथी पर अस्थि-कलश रखा है और उस पर छत्र लगा है। उसके दोनों ओर सेनाएँ

1. डॉ० सरकार ने इसकी संस्कृत छाया निम्न की है—
सुकीर्ति-भक्तयोः स-भगिनीकयोः स-पुत्र-दारयोः।

युद्ध के लिए उद्यत खड़ी दीखती हैं। यह घेरा कुशीनगर को व्यक्त करता है। महापरिनिर्वाण सुत्त से ज्ञात होता है कि बुद्ध के मरने के बाद उनकी अस्थि के लिए आठ गणराज्यों के बीच झगड़ा हुआ था। इनमें थे—वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बूलिय, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, पावापुरी के मल्ल, कुशीनारा के मल्ल तथा द्रोणक के ब्राह्मण। झगड़े में कुशीनारा के मल्लों को छोड़कर शेष सात गणराज्यों का एक गुट बना था। इसको निबटाने के लिए बुद्ध के फूले का आठ भाग किया गया और इन प्रत्येक प्रत्याशी को एक-एक भाग सौंप दिया गया जिन्होंने क्रमशः इन पर स्तूप बनवाया। ये स्तूप राजगृह, वैशाली, कपिवस्तु, अलकप्प, रामग्राम, वेठद्वीप, पावापुरी तथा कुशीनारा में बने। जो भाग कपिलवस्तु के शाक्यों को सौंपा गया था उसी पर पिपरहवा में यह स्तूप शाक्यों द्वारा बनवाया गया था। तभी इस स्थान से प्राप्त अभिलेख में 'सकियानं' उत्कीर्ण है जिसका अर्थ है—शाक्यानां (शाक्यों)। चूँकि बुद्ध शाक्य थे इसी से इनके फूले का एक अंश शाक्यों का दिया गया था। इसकी पुष्टि इस अभिलेख में उत्कीर्ण 'सुकिति-भतिनं' अर्थात् सुकृति भ्रातृणां (भगवान बुद्ध के भाइयों द्वारा) से होती है जो स्पष्ट करता है कि ये ही इस सलिल निधान के संस्थापक तथा इस स्तूप के निर्माता थे।

इस अभिलेख के 'सकियानं' से यह भी सिद्ध होता है कि पिपरहवा ही शाक्यों की प्राचीन कपिलवस्तु नामक बस्ती थी। इस बात की पुष्टि अभी पिपरहवा नामक स्थान के एक विहार से प्राप्त मुहरों से होती है जिस पर लिखा है—ॐ देवपुत्र विहार कपिलवस्तु भिक्षु संघस्य' ('आज' दि० 16 अप्रैल 76 पृष्ठ 5 से)। अतः अब यह सन्देह नहीं रह जाता कि कपिलवस्तु कहीं अन्यत्र था।

शरीर-निधान की यह परम्परा बहुत काल तक भारत में प्रचलित रही। स्वातघाटी में स्थित पैठान ग्राम से इसी उद्देश्य का एक अस्थि पात्र प्रथम शताब्दी ई० पू० का किसी यवन शासक, मेरीद्रख थियोडोरस द्वारा स्थापित मिला है। लगभग इसी काल का एक धातु-पत्र बजौर नामक स्थान से भी प्राप्त हुआ है जो विजयमित्र के शासन के पाँचवें वर्ष का है, जब मिनाण्डर शासन करता था। पेशावर के समीप कुर्रम नामक स्थान से दूसरी शताब्दी ई० का एक लेखयुक्त ताम्र धातु-पत्र मिला है तथा इसी समय का एक रजत धातु-पत्र तक्षशिला से जिहोणिक के काल का भी प्राप्त हुआ है।

पिपरहवा अभिलेख पुरातन बस्ती जिले में, शाक्य परिवार के लोगों द्वारा भगवान बुद्ध के फूले पर स्तूप बनवाना स्पष्ट करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि शाक्य गणराज्य का विस्तार आधुनिक सिद्धार्थनगर जनपद तक था। इसकी पुष्टि कनिंघम लिखित 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल' से भी होती है जहाँ उसने कपिला की चर्चा की है।

यहाँ उल्लिखित है कि इसके स्थापित करने वाले बुद्ध के भाई हैं जिन्होंने पुत्र, भगिनी और दारा के साथ इसे स्थापित किया था। यह एक सामाजिक एवं धार्मिक कार्य कहा जा सकता है जिसमें पुरुष के साथ स्त्रियों के भी भाग लेने का ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक-धार्मिक कार्यों में उस समय पुरुष के साथ स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। ये सभी एक ही परिवार के सदस्य प्रतीत होते हैं जो संयुक्त परिवार की स्थिति को व्यक्त करता है जिसमें पत्नी, पुत्र, भाई और बहन सभी साथ रहते थे।

इस लेख का प्रारम्भ 'सुकितिभतिन' से होता है। इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। कुछ ने इसका अर्थ सुकीर्ति के भाई लिया है। सरकार ने इन्हें दो व्यक्तिवाचक शब्द मानकर उन्हें दो व्यक्तियों का नाम माना है। राजबली पाण्डेय ने सुकीर्ति को भगवान बुद्ध का विशेषण मानकर

इसका अर्थ 'बुद्ध के शाक्य जातीय भाइयों ने' किया है। कुछ ने इससे 'बुद्ध के भक्त' (भतिनं) अर्थ निकाला है। एस॰ लेवी ने इसका अर्थ धार्मिक व्यक्ति लिया है और इसे भतिनं का विशेषण माना है तथा यह सम्भावना व्यक्त की है कि इस मंजूषा में बुद्ध की राख नहीं है वरन् बुद्ध के सम्बन्धियों की है। ए॰ बार्थ ने इसका अर्थ सुकीर्ति और उनके भाई बहनों द्वारा पवित्र शाक्य वंशीय बुद्ध का शरीर निधान माना है। जो भी हो यह स्पष्ट है कि शरीर निधान की पूजा उस समय होती थी जैसा कि अशोक के अहरौरा के लघु शिलालेख एवं भट्टिप्रोलू कांस्य मंजूषा अभिलेख से ज्ञात होता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इसकी तिथि बड़ी विवादास्पद है। इसे प्रायः चौथी शती ई॰ पू॰ या तीसरी शती ई॰ पू॰ में रखा जाता है। परन्तु डॉ॰ दिनेशचन्द्र सरकार ने इसमें व्याप्त व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर इसे अत्यन्त प्राचीन माना है। उन्होंने बताया है कि इसमें दीर्घ स्वरों का नितान्त अभाव है। एफ॰ डब्ल्यू॰ थामस के अनुसार यह अभिलेख इतना लघु है कि व्याकरण के सम्बन्ध में इसके विषय में नहीं कहा जा सकता। जो भी हो इतना तो स्पष्ट ही है कि बुद्ध के मरने के बाद इसकी तिथि रखी जा सकती है क्योंकि यह लेख बुद्ध के अस्थि-कलश पर अंकित है। पर यह अशोक पूर्व ही रखा जा सकता है क्योंकि यह अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि में अंकित है। डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

2. सोहगौरा ताम्र-पत्र अभिलेख[1]

(Sohgaura Copper-Plate Inscription)

स्थान : सोहगौरा, जिला—गोरखपुर, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत

लिपि : आदि ब्राह्मी[2]

काल : लगभग चौथी शताब्दी ई॰ पू॰[3]

विषय : आपतकाल के लिए दो कोष्ठागारों की स्थापना तथा प्रयोग समबन्धी आदेश

सन्दर्भ : आयसवाल, इ॰ इण्डि॰ 22, पृ॰ 2।

मूल पाठ

1. सवतियान[4] महमतन[5] ससने मनवसिति-क-

---

1. यह ताम-पत्र अब कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी में रखा गया है। उत्कीर्ण लेख के ऊपर दो मंजिले भवन का अंकन इस ताम्र-पत्र पर किया गया है जो सम्भवतः अभिलेख में उद्घृत दो कोष्ठागारों का द्योतक है। साथ ही वेष्टिनी में वृक्ष, कमल की कलियाँ तथा पर्वत पर चन्द्रमा की आकृति भी अंकित है, जो आहत मुद्राओं (Punch-mark coins) पर सामान्यतया पाई जाती हैं।
2. डॉ॰ सरकार ने अक्षरों के आधार पर इसे अशोक कालीन ब्राह्मी से बाद की ब्राह्मी लिपि बताया है। (S. I. p. 82 कह. 1.) पर यह उससे पहले का प्रतीत होता है। अतः इसे आदि ब्राह्मी कह सकते हैं।
3. डॉ॰ पाण्डेय ने इसे प्राङ्-मौर्य अभिलेख माना है। (H. & L. I. p. 2. fn. I) पर डॉ॰ सरकार ने इसे अशोक के बाद का माना है। किन्तु किसी पुष्ट आधार के अभाव में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।
4. सवतियन = (सं॰) श्रावस्तीयानां = (हिन्दी) श्रावस्ती। यह बौद्ध काल में उत्तर कोशल, जो उत्तर प्रदेश में स्थित था, की राजधानी थी।
5. डॉ॰ सरकार इसे 'महमगन' पढ़ते हैं।

2. ड[1] [।] सि (f) लमते[2] वसगमे[3] व एते दवे कोठगलनि (।)

3. तियवनि[4] [।] माथुल-चचु-मोदाम-भलकन[5] व[6]

4. ल कयियति अतियायिकय [।] नो गहितवय [॥]

संस्कृत-छाया

श्रावस्तीयानां महामात्राणां शासनं मानवशीति कटतः। श्रीमान् वंशग्रामः एतौ द्वौ कोष्ठागारौ त्रिवेणी-माथुर-चञ्चु-मोदाम-भल्लकानां (ग्रामाणां) वरं कार्येते आत्ययिकायां। नो ग्रहीतव्यम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. श्रावस्ती के महामात्र के शासन काल में मानवशीति के चौराहे पर।
2. श्रीमान् और वंश्राम में दो कोष्ठागार।
3. त्रिवेणी, माथुर, चञ्चु, मोद, भल्लक ग्रामों के
4. हित के लिए आपत्ति काल में। नहीं ग्रहण करना चाहिए (अनापत्ति काल में)।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह काँस्यपत्र अभिलेख उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर जनपद के बाँसगाँव तहसील के सोहगौरा नामक गाँव से प्राप्त हुआ था और अब कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी में रखा गया है। इसकी भाषा प्राकृत है तथा लिपि अशोकन ब्राह्मी प्रतीत होती है। इसके ऊपरी भाग पर सात आकृतियाँ उकेरी गई हैं—(1) वेदिका में वृक्ष, (2) तीन मंजिला भवन, (3) नाल युक्त कमल पुष्प की कलियाँ (4) मेरु पर्वत पर चन्द्रमा (5) सूर्य और चन्द्र (6) वेदिका में वृक्ष तथा (7) तीन मंजिला भवन। इन्हीं के नीचे चार पंक्तियों का यह लेख अंकित है। ऐसा अनुमान है कि दो मंजिले भवन की दो आकृतियाँ अभिलेख में वर्णित दो कोष्ठागारों की सूचक हैं। ये सभी चिह्न प्राचीन भारत से प्राप्त सबसे पुरानी, आहत मुद्राओं पर भी अंकित किए गए हैं। इनके होने से इस तिथि विहीन लेख की तिथि निर्धारित करने में बड़ी सुविधा मिल सकेगी।

---

1. डॉ॰ सरकार ने इसे 'कद' पढ़ा है।
2. 'सिलिमते' से अभिप्राय है 'श्रीमान्'। पर कुछ विद्वानों ने इसका अनुवाद 'श्रीमान्न' भी किया है। डॉ॰ जायसवाल ने इसे 'सीरिमात्र' = कृषक मात्र के लिए माना है।
3. 'वसगमे' से अभिप्राय 'बांसगाँव' से हो सकता है। यह गोरखपुर में स्थित सोहगौरा से थोड़ी ही दूर पश्चिम है। डॉ॰ जायसवाल ने इससे अर्थ 'उष्मागमे'—केवल ग्रीष्म काल में प्रयोग के लिए किया है।
4. 'तियवनि' = तीन कमरों का। पर डॉ॰ पाण्डेय ने इसे 'तियवेनि' पढ़ा है और इसका अर्थ निकाला है = त्रिवेणी तथा मथुल चचु आदि ग्रामों के साथ इसे भी एक ग्राम माना है। बरुआ ने इसे 'तिन यवनि' अर्थात् तृण और यव माना है।
5. डॉ॰ व्यूलर ने इसका अनुवाद किया है 'तीन कमरे भार से भरे (भलकन) मधू (मधु), भूने चावल (लच) अजवायन (अजमोद) तथा आम्र (अम)।' डॉ॰ बरुआ के अनुसार यहाँ इनमें तीन गाँवों का संकेत है—त्रिवेणी, मथुरा तथा चचु। पर डॉ॰ पाण्डेय ने यहाँ त्रिवेणी, माथुर, चञ्चु, मोदा तथा मल्लक ग्रामों की स्थिति का उल्लेख पाया है।
6. ब्यूलर, सरकार आदि ने इसे 'छल' पढ़ा है तथा इसका अर्थ 'संग्रह' किया है। डॉ॰ जायसवाल ने इसका अर्थ 'वितरित करने के लिए' लिया है। डॉ॰ पाण्डेय ने इसे 'वल' पढ़ा है तथा इसका अर्थ श्रेष्ठ कार्य के लिए किया है।

इस लेख का पहला ही शब्द है सवतियन = श्रावस्तियानां। यह प्राचीन काल में उत्तरी कोशल का एक प्रमुख नगर था। यह आधुनिक गोंडा जिले में स्थित सहेट-महेट नामक स्थान का बोध कराता है। यह स्थान भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित है क्योंकि जब बौद्ध धर्म के विरोध में ब्राह्मणों की एक सभा हो रही थी तो सहस्रों कमलों पर उड़ते हुए भगवान बुद्ध वहाँ गगन मंडल में दीखने लगे। इससे सभा में बैठे ब्राह्मण बुद्ध में असामान्य गुण के प्रति आस्थावान् हुए। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ। इसी से इस दृश्य को जो कहीं-कहीं पत्थरों पर उकेरा गया है साधारणतया श्रावस्ती का आश्चर्य कहते हैं। यह स्थान छठीं शताब्दी ई० पू० में कोशल राज्य का एक प्रमुख केन्द्र था। इसके महामात्र का उल्लेख इस अभिलेख के प्रारम्भ में ही किया गया है। यह स्पष्ट करता है कि इस अभिलेख की रचना के समय श्रावस्ती एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एवं प्रशासनिक केन्द्र था जहाँ के शासन के लिए महामात्र नामक अधिकारी नियुक्त किया गया था। तभी कहा गया है 'महामगन ससने' अर्थात् महामात्र के शासन में। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था में महामात्र शासन का एक प्रमुख अधिकारी होता था। इसकी महत्ता को देखते हुए ही सम्भवतः अशोक ने अपने राज्य के महत्त्वपूर्ण अधिकारियों के पदनाम के साथ इस शब्द को जोड़कर उनका महत्त्व और अधिक बढ़ा दिया जैसे (स्त्रियाध्यक्ष + महामात्र) स्त्रियाध्यक्षमहामात्र आदि। यह शब्द भी इस अभिलेख की तिथि निर्धारण में, हम आगे देखेंगे कि, सहायक हो सकेगा।

इसकी भाषा अस्पष्ट होने के कारण विद्वानों ने इसका अनुवाद अलग-अलग तरह से किया है। व्यूलर के अनुसार इन तीनों खण्डों वाले दोनों कोष्ठागारों की, जो सुविख्यात वंश ग्राम में स्थित हैं, आपत्तिकाल के लिए मधूक, भुना हुआ अन्न (लच), अजमोद, आम के भारक के जमा करने की आवश्यकता होगी। फ्लीट के अनुसार—'मानवसी के चौराहे पर बने ये दोनों कोष्ठागार तियवनि, मथुरा और चंचु के अन्न भारकों के रखने के लिए बनाए गए हैं।' बरुआ के अनुसार—'चारा (तिन) और गेहूँ (यवनि) तथा कलछुल, खेमे, हल एवं रस्सी के बोझ के लिए बने ये दोनों कोष्ठागार आवश्यकता के समय प्रयोग में आते हैं।' पर इनकी संगति के विषय में संदेह है।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय जन कल्याणकारी राज्य की स्थिति थी। राजा तथा उसके कर्मचारी जनहित की दृष्टि से प्रायः कार्य करते थे। इसी से राज्य की ओर से अन्नागार की व्यवस्था का यहाँ उल्लेख है जिसका प्रयोग केवल अकाल आदि आपत काल के निवारण करने का निर्देश दिया गया है। इस प्रकार के अन्नागारों की राजकीय व्यवस्था प्राचीन भारत के सिन्धु घाटी के समय से ही हम देखते हैं। सिन्धु सभ्यता में कई कमरों का बना एक विशाल अन्नागार हड़प्पा की खुदाई से मिला है जिसके पास ही एक बांध है जिस पर चक्कियों के निशान हैं तथा उसके पड़ोस में श्रमिकों की बस्ती के अवशेष मिले हैं जो अन्नागार में संचित अनाज को पीसने की व्यवस्था के लिए बसाए गए होंगे।

यह एक प्रशासनिक अभिलेख ज्ञात होता है जिसका उद्देश्य है जनता पर शासक का दृष्टिकोण स्पष्ट करना क्योंकि इसमें यह बताया गया है कि इन अन्नागारों का उद्देश्य है आपत्ति काल से रक्षा। पर साथ ही सावधान भी किया गया है कि साधारण दिनों में इसका प्रयोग नहीं किया जायगा। इसमें न शासक का नाम है न किसी व्यक्ति का उल्लेख। अतः यह पूर्ण प्रशासनिक ही कहा जा सकता है। यह जनकल्याणकारी राज्य की ओर संकेत करता है।

इससे तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। यहाँ वर्णित है कि ये दोनों ('कोठगलनि'=) कोष्ठागार (मनवशीति कद=) मनवशीति के चौराहे पर स्थापित थे। कोष्ठागार का होना अन्न की बहुलता तथा विशेष प्रयोजन के लिए कर उगाही व्यवस्था का पोषक है। यह भी ज्ञात होता है कि कर अन्न में भी लिया जाता था केवल द्रव्य में ही लेने का विधान नहीं था। चौराहे का उल्लेख व्यक्त करता है कि तब व्यापारिक मार्ग भी थे जो दूर-दूर तक जाते थे। ये एक दूसरे से प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों पर मिलते थे। उसी स्थान पर चौराहे बने होते थे। चौराहों को विशेष आर्थिक महत्त्व का केन्द्र माना जाता था तभी ये कोष्ठागार चौराहों पर ही स्थापित किए जाते थे। अभिलेख के ऊपर बने चिह्नों की चर्चा हमने पहली ही की है। उनसे ज्ञात होता है कि कार्षापण या आहत मुद्राओं का चलन इस समय था क्योंकि उनके चिह्न यहाँ अंकित किए गए हैं। ये अंकित चिह्न इस अभिलेख की आर्थिक सुदृढ़ता के प्रतीक कहे जा सकते हैं। इससे कृषि अवस्था का भी परिचय मिलता है क्योंकि अन्नागार में रखी गई वस्तुओं का भी उल्लेख यहाँ किया गया है यथाः मधु, भुना चावल, अजवायन तथा आम के भार के संग्रह—(मथुल च [च]—मोदम भलकन-छवल कयियति)। यहाँ भुना चावल का उल्लेख खेती में चावल के उत्पादन की प्रचुरता को तथा जनता में उसके प्रति रुचि को स्पष्ट करता है। यही बात अजवायन के उल्लेख से भी ज्ञात होती है। मधु के प्रयोग तथा आम के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उद्यान की ओर भी लोगों की रुचि थी तथा उस समय भी उद्यान तथा पशु-पक्षी आर्थिक व्यवस्था के अंग माने जाते थे। मधुमक्खी पालन का उद्योग भी यहाँ रहा होगा तभी मधु के भण्डार का उल्लेख किया गया है अथवा समाज में मधु एकत्रित करने का व्यवसाय होगा। इसी प्रकार आज भी नट घूम-घूम कर मधुमक्खियों के छत्तों से मधु निकाल कर अपनी जीविका चलाते हैं। सम्भवतः अन्न के साथ मधु भी सामान्य भोज्य पदार्थ रहा होगा। इसे हम लेह्य की कोटि में रखते हैं। यदि उपर्यंकित पंक्ति का अर्थ हम फ्लीट के अनुसार त्रिवेणी, मथुरा और चञ्चु मानें तब भी इतना तो स्पष्ट ही है कि आर्थिक दृष्टि से यह काल समृद्धि का था और सड़कों से मिलने का स्थान, चौराहा, विशेष आर्थिक महत्त्व का केन्द्र कहा जा सकता है।

इसकी अंतिम पंक्ति है—नो गहिगतवयं अर्थात् नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह आदेशात्मक है। इसका अभिप्राय है कि सामान्य समय में इस संग्रह का उपयोग नहीं करना चाहिए। यह अकाल की अवस्था का बोध कराता है कि प्राचीन भारत में अकाल पड़ते थे और इसकी सम्भावना से राज्य की ओर से अन्नागार, उससे उत्पन्न होने वाले संकटों को रोकने के लिए बनाये जाते थे। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि आज की तरह उस समय भी पूर्वी उत्तर प्रदेश का भाग बाढ़ तथा अकाल की चपेट में रहता था।

इस अभिलेख में दो कोष्ठागारों के निर्माण का उल्लेख है जिनमें तीन कमरों के होने की चर्चा की गई है। यह भवन वास्तुकला का अभिलेखीय प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसका कलात्मक प्रमाण भी साथ-ही-साथ अंकित है, जैसा ऊपर वर्णित है कि इसी पट्ट पर तीन मंजिले भवन की दो आकृतियाँ अंकित है। यहाँ 'वसगमे' शब्द का उल्लेख हुआ है जहाँ ये कोष्ठागार बने थे। वसगमे से अभिप्राय है आज के 'बांसगाव' नामक स्थान से जो सोहगौरा से 6 मील की दूरी पर स्थित है। इससे लगता है कि आज के गोरखपुर जनपद का बांसगाँव तहसील भी श्रावस्ती के महामात्रों के कार्यक्षेत्र के अन्दर आता था।

इस काल में (3 शती ई॰ पू॰) धातु विद्या पर प्रकाश पड़ता है क्योंकि जिस पत्र पर यह अभिलेख मिला है वह या तो कांसे का है या तांबे का। साथ ही भड़भूजे का व्यवसाय समाज में था तभी चावल के भुने जाने की चर्चा है। मधु का भी व्यवसाय किया जाता था। लगता है मधु के प्रति लोगों की सामान्य रुचि रही होगी। अतः समाज में वैश्यों के भी महत्त्व को यह उजागर करता है।

इस लेख की तिथि अज्ञात है। इसमें कोई भी ऐसा आधार वर्णित नहीं है जिसके सहारे हम इसकी तिथि का अनुमान लगा सके। अतः तिथि निर्धारण के लिए लिपि के आधार का ही सहारा लेना एक मात्र रास्ता है। लिपि के आधार पर तो इसे अशोक के आस-पास का मान सकते हैं। पर अशोक के समय विशिष्ट महामात्रों का ज्ञान उसके अभिलेखों से होता है जबकि यहाँ किसी भी विशिष्ट महामात्र का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह उसके समय के कुछ पहले का कहा जा सकता है जब महामात्रों के कार्यों का इतना व्यापक विभाजीकरण नहीं हो सका था। फिर भी इसे मौर्य काल के ही समीप रखना उचित है क्योंकि मौर्य कालीन सिक्कों पर पर्वत के ऊपर अर्धचन्द्र अंकित है जिससे मिलता-जुलता चिह्न इस पट्ट पर भी बना है। अन्य चिह्न जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है वे भी आहत सिक्कों के ही चिह्न हैं जिनकी भी तिथि लगभग इसी काल की मानी जा सकती है। अतः इसे चौथी तथा तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ के बीच में कहीं रखा जा सकता है।

3. महास्थान खण्डित प्रस्तर पट्टिका अभिलेख
(Mahasthan Fragmentary Stone Plaque Inscription)

स्थान : महास्थान, जिला—बोगरा, पूर्वी पाकिस्तान

लिपि : ब्राह्मी

भाषा : प्राकृत

काल : लगभग 300 ई॰ पू॰

संक्षिप्त विषय-वस्तु : षड्वर्गीय क्षेत्र के लिए अन्न भेजने तथा आत्ययिकों के लिए कोष्ठागार में अन्न तथा धन-संचय

सन्दर्भ : डी॰ आर॰ भण्डारकर, इ॰ इण्डि॰ XXI, पृ॰ 85।

मूल पाठ

1. × नेन [।] [स] बगि[1] यानं [तल दन स] सपदिन। [सु]
2. [म] ते। सुलखिते पुडनगलते। ए [त]
3. [नि] वहिपयिसति। संवगियानं [च] [दि] ने × ×
4. [धा] नियं। निवहिसति। दग-तिया [ि] यके × ×
5. × [यि] कसि। सुअ-तियायिक [सि] पि गंड [केहि]।
6. × [यि] केहि एस कोठागाले कोसं ×
7. × × ×

1. भण्डारकर ने इसे संवंगियानां (बंगाल के लोग) पढ़ा है। सरकार ने सवर्ग मानकर एक स्थान का नाम बताया है।

संस्कृत छाया

महामात्राणां वचनेन। षडवर्गीयाणां तिलः दत्तः सर्षपञ्च दत्तम्। सुमात्रः सुलक्ष्मीतः पुण्ड्रनगरतः एतत् विवाहयिष्यति षडवर्गीयेभ्यश्च दत्तं.....धान्यं निवक्ष्यति उदकात्ययिकाय देवात्ययिकाय शुकात्ययिकाय अपि गण्डकैः धान्यैश्च एष कोष्ठागारः कोषश्च (परिपूरणीयौ)।

हिन्दी अर्थान्तर

1. [महामात्र के वचन] से संवर्गीयों के लिये तिल दिया गया और सरसों दी गयी। सु
2. मात्र भली प्रकार लक्ष्मी युक्त पुण्ड्रनगर से यहाँ
3. भिजवायेगा और संवर्गीयों[1] के लिए दिये गये
4. धान्य को बतायेगा। उदकात्ययिक
5. देवात्ययिक और शुकात्ययिक हेतु मुद्रा और
6. धान्य से यह कोष्ठागार और कोष परिपूरणीय है।
7. ....

●

1. संवर्गीय = एक स्थान का नाम। बरुआने इसका अर्थ षडवर्गीय = बौद्ध धर्म के षडवर्गीय सम्प्रदाय के लोग किया है। भण्डारकर ने इसका पाठ संवङ्गीयानां के आधार पर इसका अर्थ संवङ्गीय लोग किया है।

अध्याय 2

अशोक के अभिलेख

(अ) चतुर्दश शिलालेख

1. प्रथम शिलालेख
(First Rock Edict)

स्थान : गिरनार, जिला—जूनागढ़, महाराष्ट्र

भाषा : प्राकृत (पालि)

लिपि : ब्राह्मी

काल : अशोक कालीन (लगभग 272–32 ई० पू०)

विषय : हिंसा और समाज का विरोध; व्यक्तिगत जीवन

मूलपाठ

1. इयं धंम-लिपी देवानंप्रियेन
2. प्रि यदसिना राञा लेखा पिता (।) इध न किं—
3. चि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं (।)
4. न च समाजो कतव्यो (।) बहुकं हि दोसं
5. समाजम्हि पसति देवानंपिंप्रियो प्रियदसि राजा (।)
6. अस्ति पि तु एकचा समाजा साधु-मता देवानं—
7. प्रियस प्रियदसिनो राञो (।) पुरा महानसम्हि[1]
8. देवानंपि(प्र)यस पि(प्रि) यदसिनो राञो अनुदिवसं ब-
9. हूनि प्राण-सत-सहस्रानि आरभिसु सूपाथाय (।)
10. से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्रा—
11. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि
12. मगो न ध्रुवो (।) एते पित्री प्राणा पछा न आरभिसरे (॥)

संस्कृत छाया

इयं धर्मलिपिः देवानांप्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता। इह न कश्चित् जीवः आलभ्य प्रहोतव्यः। न च समाजः कर्तव्यः। बहुकं हि दोषं समाजे देवानांप्रियः प्रियदर्शी राजा पश्यति। संति अपि या एकत्याः

---

1. सरकार ने मूलपाठ के आधार पर–मेहानसेम्हि पढ़ा है।

समाजाः साधुमताः देवानांप्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः। पुरा महानसे देवानं प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः अनुदिवसं बहूनि प्राणशतसहस्राणि आलभ्यन्त सूपार्थाय। तत् अद्य यदा इयं धर्मलिपिः लिखिता त्रयः एव प्राणाः आलभ्यन्ते सूपार्थाय–द्वौ मयूरौ, एकः मगः[1]। सोपि मगः न ध्रुवः। एतेऽपि त्रयः प्राणाः पश्चात् न आलप्स्यन्ते॥

हिन्दी अर्थान्तर

1-2. यह धम्म-लिपि देवानंप्रिय (देवताओं में प्रिय) प्रियदर्शी राजा (अशोक) द्वारा लिखवाई गयी। यही कोई भी

3. जीव बलि के लिए नहीं मारा जायगा।[2]

4. न कोई समाज[3] ही किया जायगा। बहुत-सा दोष

5. समाज में देवानंप्रिय प्रियदर्शी राजा देखता है।

6-7. फिर भी निश्चित प्रकार के समाज को ही देवानंप्रिय प्रियदर्शी राजा उचित मानता है। पहले भोजनालय में

8-9. देवानंप्रिय प्रियदर्शी के प्रत्येक दिन सहस्रों जानवर (प्राणी) सूप (व्यञ्जन) के लिए मारे जाते थे।[4]

10-11. पर आज से जब यह धर्मलिपि लिखवाई गई तब से तीन ही प्राणी — दो मोर और एक मग व्यञ्जन के लिए मारे जाते हैं।

12. इनमें भी मग का मारना निश्चित नहीं है। पीछे ये भी तीन प्राणी नहीं मारे जायेंगे।

2. द्वितीय शिलालेख
(Second Rock Edict)

स्थान : गिरनार

भाषा :
लिपि :
काल : } पूर्ववत्

विषय : अशोक के लोक-कल्याण के कार्यों तथा योजनाओं का प्रतिपादन; वैदेशिक नीति का संकेत; विदेशी राज्यों से सम्बन्ध तथा राज्य विस्तार का परिचय।

मूल-पाठ

1. सर्वत विजितम्हि देवानंप्रियस पियदसिनो राञो

---

1. मृग का अर्थ यहाँ किसी भी चौपाए पशु से लिया जा सकता है। यह बाध्यता नहीं है कि केवल हिरण के लिए इसका प्रयोग किया गया हो। उसी प्रकार मयूर से अभिप्राय पक्षी समुदाय से है केवल पक्षी विशेष मयूर के लिए ही नहीं। बुद्धघोष ने मझिम-निकाय के भयभेखसुत्त पर इसी प्रकार टीका की है। Ashoka Edicts in New Light, Barua, p. 88.
2. वैदिक बलि व्यवस्था का यह स्पष्ट विरोध व्यक्त करता है।
3. समाज = मेला, उत्सव आदि। धार्मिक सभाओं को भी समाज कहते थे। स्क० पु०, ब्रह्म खण्ड 1|4।
4. महा० में वर्णित है कि रन्तिदेव के भोजनालय में 2000 पशु प्रतिदिन मारे जाते थे। 3|207|8-10|

2. एवमपि र्पप्रचंतेसु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो[1] आ तंब—
3. पंणी अंतिय को योन-राजा ये व़ा पि तस अंतियकस सामीपं[2]
4. राजानो सर्वत्र देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता
5. मनुस-चिकीछा च पसु-चिकीछा च (।) ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च
6. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च (।)
7. मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च (।)
8. पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापितपरिभोगाय पसु-मनुसानं (॥)

संस्कृत छाया

सर्वत्र विजिते देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनोः राज्ञोः ये चा न्ता यथा चोडाः पाण्ड्याः सत्यपुत्रः केरलपुत्रस्ताम्रपर्णी अन्तियोको नाम योनराजो ये चान्ये तस्यान्तियोकस्य सामान्ता राजानः सर्वत्र देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिना राज्ञो द्वे चिकित्से कृते मनुष्य-चिकित्सा च पशुचिकित्सा च। औषधानि मनुषोपगानि च पशुपगानि च यत्र यत्र न सन्ति सर्वत्र हारितानि च रोपितानि च। एवमेव मूलानि च फलानि च यत्र यत्र न सन्ति सर्वत्र हारितानि च रोपितानि च। मार्गेषु वक्षा रोपिता उदपानादि च खानितानि प्रति भोगायं पशुमनुषाणाम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सर्वत्र विजय करके
2. इस प्रकार प्रत्यन्तों में भी—चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्र—
3. पर्णी, अन्तियोक नामक यवन राजा तथा उस अन्तियोक के निकट जो
4. राजा हैं सर्वत्र देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो चिकित्साओं को स्थापित किया—
5. मनुष्य-चिकित्सा तथा पशु-चिकित्सा। और वे औषधियाँ जो मनुष्योपयोगी तथा
6. पशूपयोगी हैं जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लाई गईं और लगाई गईं।
7. जहाँ-जहाँ मूल तथा फल नहीं हैं सर्वत्र लाए गए तथा लगाए गए।
8. मार्गों में मनुष्यों तथा पशुओं के लिए कूएँ खुदवाए गए तथा वक्ष लगवाए गए।

3. तृतीय शिलालेख

(Third Rock Edict)

स्थान : गिरना

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्

काल : अशोक के राज्यारोहण के 12 वर्ष बाद

---

1. सरकार ने केरलपुतो पढ़ा है। मानशेहरा, केललपुते, केरडपुत्रो शहबाजगढ़ीं, केरलपुत्र अंकित है।
2. व्यूलर ने पहले इसे पढ़ा था – सामीनं। पर पीछे पढ़ा – सामंता। हेल्श के अनुसार पहले सामंता उत्कीर्ण था सामीपं या सीमीपा) जो पीछे लिखा गया।

विषय : युत, रजुक, प्रादेशिक को अपने क्षेत्र में प्रत्येक पाँचवें वर्ष घूम-घूम कर उपदेश देना।

संदर्भ : पूर्ववत्।

मूल-पाठ

1. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह (।) द्वादस-वासाभिसितेन मया इदं आञपितं (।)
2. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु वासेसु अनुसं—
3. यनं नियातु एतायेव अथाय इमाय धंमानुसस्टिय यथा अञा—
4. य पि कंमाय (।) साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मिता[1]-संस्तुत-ञातीनं बाम्हण—
5. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अप-भांडता साधु (।)
6. परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च (॥)

संस्कृत छाया

देवानांप्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। द्वादशवर्षाभिषिक्तेन मया इदमाज्ञप्तम्। सर्वत्र विजिते मम युक्ताः राजुकाः प्रादेशिकाश्च पञ्चसु पञ्चसु वर्षेषु अनुसंयानाय निर्यान्तु, एतस्मै अर्थाय अस्यै धर्मानुशस्तये यथा अन्यस्मा अपि कर्मणे। साधुः मातुपित्रयोः शुश्रूषा। मित्रसंस्तुतज्ञातीनां च ब्राह्मण श्रमणानां च साधु दानम्। प्राणानामनालम्भः साधू। अपव्ययता अल्पभाण्डता साधु। परिषदोऽपि च युक्तान् गणने आज्ञापयिष्यन्ति हेतुतश्च वयञ्जनतश्च।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानं प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा।

2. गद्दी पर आसीन होने के बारह वर्ष बाद निम्न आदेश दिया गया।

3. मेरे सम्पूर्ण राज्य में युक्त, राजुक, प्रादेशिक अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक पाँचवें वर्ष यात्रा (अनुसंयान) के लिए निकलें और धम्म के निम्न निर्देशों का प्रचार करें और अन्य राज्य सम्बन्धी कार्य करें।

4-5. माता-पिता की सेवा (आज्ञापालन) सर्वोचित (साधु) है। मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति सद्भाव सर्वोचित है। प्राणियों की हत्या से विरत होना सर्वोचित है। व्यय तथा संग्रह में कमी करना सर्वोचित है।

6. राज्य परिषद राज्याधिकारियों को आदेशित करें कि वे इन आदेशों का शब्दानुसार और भावानुसार पालन करें।

---

1. हुल्श ने मित्र पढ़ा है, मिता तथा उनकी संभावना है कि यह लिखा है।

4. चतुर्थ शिलालेख
(Fourth Rock Edict)

स्थान :
भाषा :
लिपि :
काल :
} पूर्ववत्

विषय : अशोक द्वारा धम्म के उपदेश की महत्ता एवं संदेश।

मूल-पाठ

1. अतिकातं अंतरं बहूनि वास-सतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ज्ञातीसु
2. असंप्रतिपती ब्राम्हण-स्रमणानं असंप्रतीपती (।) त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो
3. धंम-चरणेनभेरी[1] घोसो अहो धंम-घोसो[2] (।*) विमान-दसंणा च हस्ति-दसणा[3] च
4. अगि-खंघानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं। यारिसे बहूहि वाससतेहि
5. न भूत-पूवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारं–
6. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रह्मण-समणानं संपटिपती-मातरि पितरि
7. सुस्रुसा थैर-सुस्रुसा (।) एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते (।)
8. प्रियदसि राजा घंमचरणं इदं (।) पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो
9. प्रवधयिसंति इदं घंम-चरणं आव सवट-कपा[4] धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति (।)
10. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं (।) धंमाचरणे पि न भवति असीळस (।) त इमम्हि अथम्हि
11. वधी च अहीनी च साधु (।) एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च
12. लोचेतव्या[5] (।) द्वादसवासाभिसितेन देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा इदं लेखापितं (॥)

---

1. हुल्श ने इसकी समाप्ति धंम-घोसो से न करके दूसरी पंक्ति के दसयित्ता जनं से किया है।
2. व्यूलर तथा सेनार्ट ने पढ़ा।
3. इसका अभिप्रायः भगवान बुद्ध से है दसणा; जो हाथी के रूप में माया के गर्भ में प्रवृष्ट हुए थे तथा हुल्श ने पढ़ा दर्सणा। इसका अभिप्राय दिव्य विमान से है।
4. संस्कृत = सवर्त कल्प = प्रकाश
5. संस्कृत = रोचेत

संस्कृत छाया

अतिक्रान्तमन्तरनं बहूनि वर्षशतानि वर्धितः एव प्राणालम्भ विहिंसा च भूतानां ज्ञातीनामसंप्रतिपत्तिः श्रमणब्राह्मणामसंप्रतिपत्तिः। तदद्य देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनो राज्ञो धर्मचरणेन भेरीधोषोऽथो धर्मघोषो विमान दर्शनानि हस्तिनोऽग्निस्कन्धा अन्यानि च दिव्यानि रूपाणि दर्शयितुं जनस्य। यादशं बहुभिर्वषशतैर्न भूतपूर्व तादशमद्य वर्धितो देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनो राज्ञो धर्मानुशिष्ट्या अनालम्भः प्राणानामविहिंसा भूतानां ज्ञातिषु संप्रतिपत्तिव्रर्ह्मिणश्रमणानां संप्रतिपत्तिर्मातापित्रोः शुश्रूषा एतच्चान्यच्च बहुविधं धर्मचरणं वर्धितम्। वर्धयिष्यति चैव देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजेदं धर्मचरणम्। पुत्राश्च नप्ताश्च प्रनप्ताश्च देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनो राज्ञः प्रवर्धायिष्यन्ति चैव धर्मचरणमिदं यावत्कल्पं धर्मे शीले च तिष्ठन्ती धर्ममनुशासिष्यन्ति। एतद्धि श्रेष्ठं कर्म यद्धर्मानुशासनं, धर्मचरणमपि न भवत्यशीलस्य। तदस्यार्थस्य वद्धि युञ्जन्तु हानिं च मा आलोचयन्तु। द्वादशवर्षाभिषिक्तेन देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखितम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. अतीत में सैकड़ों वर्षों से पशुओं का वध, जीवधारियों के प्रति निर्दयता तथा श्रमण और ब्राह्मणों के प्रति असम्मान बढ़ता रहा है।

2. किन्तु अब देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी द्वारा धम्म के प्रसार के कारण युद्धभेरी के स्थानपर धम्मघोष सुना जाता है तथा जनता में प्रदर्शित किया जाता है विमान, रथ, हाथी, अग्नि, ज्योति तथा दिव्यरूप।

3. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के धम्म के प्रचार के कारण जो सैकड़ों वर्षों से नहीं देखा जाता था अब यह देखा जाता है कि लोगों में पशुवध का निषेध, जीवधारियों के प्रति निर्दयता का अभाव, सम्बन्धियों के प्रति श्रद्धा, ब्राह्मण और श्रमणों के प्रति आदर तथा माता-पिता के प्रति कर्तव्यपराणयता जाग्रत हो गई है।

4. इस रीति से तथा अनेक रीतियों से धम्म का प्रचलन विकसित हुआ है। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सदा धर्म के चलन को विकसित करेंगे तथा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र धम्म के विकास में सदा योगदान देंगे इस कल्प के अन्त तक। वे स्वयं धम्म का अनुसरण करेंगे, आचार का पालन करेंगे तथा लोगों को धम्म का उपदेश देंगे और सदाचार का भी।

5. यह अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य है—धम्म का उपदेश देना। जो सद्‌चरित्र से रहित है वह धर्माचरण नहीं कर सकता। धर्म का विकास सदा गौरवपूर्ण (साधु) है, इसकी उपेक्षा नहीं। इसी उद्देश्य से यह लेख लिखा गया है।

6. कि लोग सम्मिलित रूपसे धर्म के विकास में अपने को समर्पित करें इसके ह्रास मे नहीं। यह आलेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने राज्यारोहण के बारह वर्ष बाद खुदवाया है।

पाँचवाँ शिलालेख
(Fifth Rock Edict)

स्थान : मानसेहरा, पंजाब

भाषा तथा लिपि : पूर्ववत्

काल : राज्यारोहण का 13वाँ वर्ष (लगभग 256 ई० पू०)

विषय : धार्मिक सहिष्णुता, धर्ममहामात्र के कार्य; प्रशासनिक सुधार।

मूल-पाठ

1. देवानंप्रियेन[1] प्रियदशि रज एवं अह (।) कलणं दुकरं (।) ये अदिकरे कयणस से दुकरं करोति (।) तं मय वहु कयणे कटे (।) तं मअ पुत्र च
2. न तरे[2]च पर च तेन ये अपतिये मे अवकपं[3] तथ अनुवटिशति से सुकट कषति (।) ये चु अत्र देश पि हयेशति से दुकट कसति (।)
3. पये हि नम सुपदरे[4] व (।) से अतिक्रतं अंतरं न भुतप्रुव ध्रममहमत्र नम (।) से त्रेडश-वषभिसितेन भय ध्रममहमत्र कट (।) ते सव्र पषडेष[5]
4. वपुट ध्रमधिस्टानाय च धमवध्रिय हिद-सुखये च ध्रमयुतस योन-कंबोज-गधरन[6] रठिक-पितिनिकन ये व पि अञे अपरत[7] (।) भटमये–
5. षु ब्रमणिभ्येषु अनथेषु वुध्रेषु-हिद-सुखये ध्रमयुत-अपलिबोधये व्यापता ते (।) बधन-वधस पटिविधनये अपलिबोधसे मोक्षये च इयं
6. अनुबध प्रजव[8] ति व कट्रभिकर ति व महळके[9] ति व वियप्रट ते (।) हिदं बरिहेषु च नगरेषु सव्रेषु ओरोधनेषु भतन[10] च स्पसुन[11] च
7. येव पि अञे ञतिके सव्रत्र वियपट (।) ए इयं ध्रम-निशितो ति व ध्रमधिथने ति व दन-संयुते ति व सव्रत्र विजितसि मअ ध्रम-युतसि विपुट ते
8. ध्रम-महमत्र (।) एतये अथ्रये अयि ध्रम-दिपि[12] लिखित चिर-ठितिक होतु तथ च मे प्रज अनुवटतु (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवं आह। कल्याणं दुष्करं। यो यदि कुर्यात कल्याणस्य स दुष्करं

---

1. यहां प्रिये पाठ ही उचित लगता है।
2. गिरनार पाठ = पीता (= पीत्राः)
3. गिरनार पाठ = आव संवट कपा (= यावतसंवर्तकल्प)
4. व्यूलर = सुपदरे व
5. पाठ = डेषु
6. ये उत्तर पश्चिमी भारत में रहते थे।
7. अपरात्त = उथरी कोंकण। यह पश्चिमी भारत का भाग था जहाँ भोज, पिटैनिक आदि रहती थीं।
8. कालसी पजाब; शहबाज़गढ़ी (संस्कृत नाम) प्रजावत्
9. गिरनार में थैरेसु (= स्थविरेषु) का प्रयोग हुआ है।
10. कुछ लोगों ने भतुन (= भातृणां) पढ़ा है।
11. अवरोध = कन्यान्तःपर
12. लिपि का प्रयोग ईरानी प्रभाव के कारण शहबाज़गढ़ी तथा मानशेहरा में दिपि जातियाँ।

करोति। तस्मा बहु कल्याणं कृतं तन्मम पुत्राश्च नप्तारश्च परं च तानि हि यान्यपत्यानि मे यावत्कल्पं तथा अनुवर्तिष्यन्ते तत्सुकृतं करिष्यन्ति। यः तु अत्र देशमपि हापयिष्यति स दुष्कृतं करिष्यति। पापं हि नाम सुप्रचारम्। तदतिक्रान्तमन्तरं न भूतपूर्वाः धर्ममहामात्राः नाम। त्रयोदश वर्षाभिषिक्तेन मया धर्ममहामात्राः कृताः। ते सर्व पार्षदेषु व्यापताः धर्माधिष्ठानाय चधर्म-वद्धया हित सुखाय च धर्मयुक्तस्य यवनकम्बोज गांधाराणाम् राष्ट्रिक पिटनिकानाम्, ये वापि अन्ये अपरान्ताः। भतार्येषु ब्राह्मणेभ्येषु अनाथेषु वद्धेषु हित सुखाय धर्म युक्तस्य अपरिवाधाय व्यापताः ते वन्धनवधस्य प्रतिविधानाय अपरिवाधाय मोक्षाय च। एवमनुबन्धं प्रजावन्त इति वा कृताधिकारा इति वा महान्त इति वा व्यापताः। त इह वाह्येषु च नगरेषु सर्वेषु अवरोधनेषु भ्रातणां स्वसणां च ये वापि अन्ये ज्ञातिषु सर्वत्र व्यापताः। एवं धर्मनिश्चिता इतिवा दान संयुक्ता इति वा सर्वत्र विजिते मम धर्मयुक्त व्याप्तठास्ते धर्ममहामात्राः। एतस्मै अर्थाय इयं धर्मलिपिलेखिता चिरस्थितिका भवतु। तथा च मे प्रजा अनुवर्तन्ताम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। कल्याण दुष्कर है। जो कल्याण करना आरम्भ करता है वह दुष्कर कार्य करता है। इसलिए मेरे द्वारा बहुत कल्याण किया गया है। मेरे पुत्र,

2. पौत्र तथा उसके बाद जो इस प्रकार कल्प-पर्यन्त मेरा अनुसरण करेंगे वे ठीक करेंगे। जो इसके एक भाग का भी विरोध करेगा वह बुरा (दष्कृत्य) करेगा।

3. क्योंकि पाप अत्यन्त सरलता से प्रसारित होने वाला है। बहुत समय व्यतीत हुआ, अतीत में धर्ममहामात्र न थे। पर अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष मैंने धर्ममहामात्रों को नियुक्त किया। वे सभी धार्मिक सम्प्रदायों में

4. धर्मरक्षा तथा अभिवद्धि के लिए, लोगों के हित और सुख के लिए तथा धार्मिक यवनों, कम्बोजों, गांधारों तथा राष्ट्रिकों पिटैनिकों तथा अन्य अपरान्त (पश्चिमी सीमाप्रान्तों) भतकों तथा आर्यों; ब्राह्मणों, वैश्यों, अनाथों, वद्धों में उनके हित-सुख के लिए और धर्मयुक्तों में लोभ से उनकी मुक्ति के लिए व्याप्त है।

5-8. बन्धन बद्ध (बन्दी=कैदी) को सहायता, अपरिबाधा और मुक्ति के लिए भी बाल-बच्चों वालों, जादू-टोना से आविष्ट लोगों और बड़े लोगों में वे व्यास हैं। यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों में, सब अवरोधनों में, भाइयों-बहनों और अन्य जाति के लोगों में वे सर्वत्र व्याप्त हैं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्म महामात्र धर्मयुक्तों की (सहायता के लिए नियुक्त) हैं जिससे धर्म के प्रति श्रद्धा, धर्म की स्थापना, अथवा दान का विभाजन हो। इस प्रयोजन के लिए यह धंमिलपि अंकित कराई गई जिससे कि यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इसका अनुसरण करे।

6. छठा शिलालेख
(Sixth Rock Edict)

स्थान : गिरनार, सौराष्ट्र

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : अशोक का राज्य के प्रति कर्तव्य

मूल-पाठ

1. देवा नंपियो पियद सि राजा एवं आह (।) अतिकातं अंतरं
2. न भूतप्रुव स वे काले अथ-कंमे व पटिवेदना वा (।) त मया एवं कतं (।)
3. सवे काले भूंजमानस मे ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व
4. विनीतम्हि च उयानेसु च सर्वत्र पटिवेदका स्टिता अथे मेजनस
5. पटिवेदेथ इति (।) सर्वत्र च जनस अथे करोमि (।) य च किंचि मुखतो
6. आञपयामि स्वयं दापकं वा स्रावापकं वा य वा पुन महामात्रेसु
7. आचायिके[1] अरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं
8. आनंतरं पटिवेदेत मे सर्वत्र सर्वे काले (।) एवं मया आञपितं (।) नास्ति हि मे तोसो
9. उस्टानम्हि अथ-संतीरणाय व (।) कतव्य-मते हि मे सर्व-लोक-हितं (।)
10. तस च पुन एस मूले उस्टानं च अथसंतीरणांच (।) नास्ति हि कंमतरं
11. सर्व-लोक-हितत्पा[2] (।) य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं (।)
12. इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधेयंतु (।) त एताय अथाय
13. अयं धं म-लिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय इति तथा च मे पुत्रा पोता च पं(प्र)पोतां(त्रा) च
14. अनुवतरां सव-ळोक-हिताय (।) दुकरं तु इदं अञत्र अगेन पराक्रमेन (॥)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। अतिक्रान्तमन्तरं न भूतपूर्वे सर्वे कालमर्थकर्म वा प्रतिवेदना वा। तन्मया एवं कृतं सर्वकालम् अदतो मे अवरोधने गर्भागारे वर्चसि विनीते उद्याने सर्वत्र प्रतिवेदका अर्थे जनस्य प्रतिवेदयन्तु मे। सर्वत्र जनस्यार्थे करिष्याम्यहम्। यद्यपि च किंचिन्मुखत आज्ञापयाम्यहं दापकंवा श्रावकं वा यद्वा पुनर्महात्रैः आत्ययिके आज्ञापितं भवति तस्मै अर्थाय विवादे निर्ध्यातौ वा सत्यां परिषदा आनन्तर्येण प्रतिवेदायितव्यं मे सर्वत्र सर्वकालम्। एवमाज्ञापितं मया। नास्ति हि मे तोषो वा उत्थानाय अर्थसंतरणाय च। कतंव्यं मतं हि मे सर्वलोकहितम्। तस्य पुनरेतन्मूलमुत्थानम् अर्थसंतरणं च। नास्ति हि कर्मान्तरं सर्वलोकहितने। यत्किंचित् पराक्रमेहं, किमित ? भूतानामानण्यमेयाम् इह च कांश्चित् सुखयामि परत्र च स्वर्गमाराधयितुम्। तदेतस्मा अर्थायेयं अर्धलिपिलेखिता चिरस्थिका भवतु। तथा च मे पुत्रदारं पराक्रमतां सर्वलोकहिताय। दुष्करं चेदमन्यत्राग्रयात् पराक्रमात्।

हिन्दी अर्थान्तर

1-3. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—बहुत समय व्यतीत हुआ अतीत में सब समय राजा को आवश्यक कर्म अथवा कार्य की सूचना नहीं होती थी। अतः मैंने ऐसा किया कि सब समय चाहे मैं भोजन करता रहूँ, अनतःपुर में रहूँ, शयनगह में रहूँ, पशुशाला में रहूँ, पालकी में रहूँ या

---

1. देखें—आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणी मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्, कौटिल्य, अर्थ. पृ. 13
2. दूसरे पाठ में हितेन है।

4-6. उद्यान में रहूँ सर्वत्र प्रतिवेदक मुझसे जनता के कार्य की प्रतिवेदना करें। मैं सर्वत्र जनता का कार्य करूँगा। जो कुछ मैं मौखिक आज्ञा देता हूँ स्वयं दान या विज्ञप्ति के सम्बन्ध में अथवा कोई आवश्यक कार्य महामात्रों को

7-9. सौंप दूँ और इसके बारे में परिषद में विवाद खड़ा हो अथवा पुनर्विचार के लिए प्रस्ताव हो तो अविलम्ब मुझे सर्वत्र और सब काल में प्रतिवेदन मिलना चाहिए। इस प्रकार मैंने आज्ञा दी है। मुझे उत्थान और कार्य सम्पादन में संतोष नहीं है। सर्वलोक हित-मेरा कर्तव्य है और मेरा मत है।

10-14. उसका मूल है उत्थान और कार्य सम्पादन। सर्व लोक हित से दूसरा कोई बड़ा कर्म नहीं है। जो कुछ भी पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए कि जीवधारियों के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। मैं उनको इस लोक में सुखी बनाऊँ और वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सके। अतः इस प्रयोजन के लिए यह धम्मलिपि लिखवाई गई जिससे कि यह चिरस्थायी हो तथा मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सर्वलोकहित के लिए इसका अनुसरण करें। उत्तम पराक्रम के बिना यह दुष्कर है।

7. सातवाँ शिलालेख
(Seventh Rock Edict)

स्थान : शहबाज़गढ़ी

भाष :
लिपि :
काल : } पूर्ववत्

विषय : धार्मिक दष्टिकोण

मूल-पाठ

1. देवनंप्रियो प्रिय [द्र] शि रज सवत्र इच्छति सव्र–
2. प्रषंड वसेयु (।) सवे हि ते सयमे भव-शुधि च इछंति (।)
3. जनो चु उचवुच-छंदो उचवुच-रगो (।) ते सव्रं व एकदेशं व
4. पि कषंति (।) विपुले पि चु दने यस नस्ति सयम भव–
5. शुधि किट्रञत द्रिढ-भतित निचे पढं[1] (॥)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा सर्वत्र इच्छति सर्वे पाषण्डाः वसेयुः। सर्वे ते संयमं च भावशुद्धिं च इच्छन्ति। जनः तु उच्चावचछन्दः उच्चावचरागः। ते सर्वं वा कांक्षन्ति एकदेशं वा करिष्यन्ति। विपुलं तु अपि दानं यस्य नास्ति संयमः भावशुद्धिः वा कृतज्ञता वा दढ़भक्तिता च नित्या वा वाढम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1-2. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा सर्वत्र इच्छा करते हैं कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय बसें।

1. सामान्य रूप में सर्वत्र के बाद इच्छति का प्रयोग होता है।

वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं।

3. किन्तु लोगों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच भाव होते हैं। वे या तो समपूर्ण कार्य करेंगे अथवा उसका अंश।

4-5. जो बहुत दान नहीं कर सकता उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़भक्ति नित्य आवश्यक है।

8. आठवाँ शिलालेख
(Eighth Rock Edict)

स्थान : गिरनार, सौराष्ट्र

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : विहार यात्रा के स्थान धम्म यात्रा

मूल-पाठ

1. अतिकातं अंतरं राजानो विहार-यातां ञयासु (।) एत मगव्या अञानि च एतारिसानि
2. अभीरमकानि अहुंसु (।) सो देवानंपियो पियदसि राजा दसवसभिसितो संतो अयाय संबोधि (।)
3. तेनेसा धंम-याता (।) एतयं होति बाम्हण-समणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे च
4. हिरंण-पटिविधानो च ञानपदस च जनस दस्पनं[1] धंमानुसस्टी च धमपरिपुछा च
5. तदोपया (।) एसा भुय-रति भवति देवानंपियसप्रियदसिनो राञो भागे अंञे (।।)

संस्कृत छाया

अतिक्रान्तम् अन्तरं राजानः विहारयात्राम् इयासुः। अत्र मगया अन्यानि च एतादशानि अभिरामाणि अभूवत्। तत् देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा दशवर्षाभिषिक्तः सन् इयाय सम्बोधिम्। तेन एषा धर्मयात्रा। तत्र इदं भवति ब्राह्मणश्रमणनां दर्शनं च दानं च स्थविराणां दर्शनं च। हिरण्यप्रतिविधानं च जानपदस्य च जनस्य दर्शनं धर्मानुशिष्टिः च धर्मपरिपच्छा च। तदुपेया। एषा भूया रतिः भवति देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः भागः अन्यः।

हिन्दी अर्थान्तर

1. बहुत समय व्यतीत हुआ, राजा लोग विहार यात्रा में जाते थे। इसमें मगया और अन्य इसी प्रकार के

2. आमोद होते थे। किन्तु देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के दसवें वर्ष बोधगया गये।

---

1. इसका पाठ दर्सनं या दसनं हो सकता है।

3. इससे धर्मयात्रा की प्रथा प्रारम्भ हुई। इसमें यह होता है—ब्राह्मण और श्रमणों का दर्शन तथा उन्हें दान, वद्धों का दर्शन और

4. धन से उनके पोषण की व्यवस्था, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का आदेश और धर्म के सम्बन्ध में परिप्रश्न।

5. देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा के शासन के दूसरे भाग में यह प्रचुर रति होती है।

9. नवाँ शिलालेख
(Ninth Rock Edict)

स्थान : गिरनार

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धम्म मंगल

मूल-पाठ

1. देवानं पियो प्रियदसि राजा एवं आह (।) अस्ति जनो उचावचं मंगलं करोते आवाधेसु वा
2. आवाहवीवाहेसु वा पुत्रवाभेसु वा प्रवासंगिहवा एतम्हि च जनों उचावचं मंगलं करौते (।)
3. एत तु महिडायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोति (।) त कतव्यमेवतु मंगल (।) अपफलं तु खो
4. एतरिंस मंगलं (।) अयं तु महाफले मंगले य धंममंगले (।) ततेत दासमतकम्हि सम्यप्रतिपती गुरूनं अपचिति साधु
5. पाणेसु सयमो साधु बम्हणसमणानं साधु दानं एतंच अञ च एतारिसं धममंगलं नाम (।) तवतत्यं पिता व
6. पुतेन वा मात्रा वा स्वाभिकेन वा इदं साधु इदं कतव्य मङ्गलं आवतस अथस निष्टानाय (।)
7. साधु दन इति (।) न तु एतरिसं अस्तादानं व अनगहो व यारिसं धंमदान व धमनुगहोव (।) त तु खो मित्रेनव सुहृदयेन वा
8. अतिकेन व सहायन व ओवादितत्यं तम्हि पकरणें इदं कचं इदं साथु इति इमिना सक
9. स्वगं अराधेतु इति (।) कि च इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधी (।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवं आह। अस्ति जनः उच्चावचं मङ्गलं करोति। आवाधे वा आवाहे विवाहे वा पुत्रलाभे वा प्रवासे वा एतस्मिन् च अन्यस्मिन् च जनं उच्चावंच मङ्गलं करोति। अत्र तु महिलाः बहुझं च बहुविधं च क्षुद्रकं च निरर्थकं च मङ्गलं कुर्वन्ति। तत् कर्तव्यं तु मङ्गलम्। अल्पफलं तु खलु एतादशं मङ्गलं। इदं तु महाफलं मङ्गलं यत्र धर्ममङ्गलम्। तत् इदं दास भतकेषु सम्प्रतिपत्तिः

गुरुणां अपचितिः साधु प्राणेसु संयमः साधु ब्राह्मणश्रमणेभ्यः साधु दानम्। एतत् च अन्यत च एतादशं धर्ममङ्गलं नाम। तत् वक्तव्यं पित्रा वा पुत्रेण वा भ्रात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कर्तव्यं मङ्गलं यावत् तस्य अर्थस्य निष्ठानाय। अस्ति च अपि उक्तं साधुदानम् इति। न तु एतादशं अस्ति दानं वा अनुग्रहो वा यादशं धर्मदानं वा धर्मानुग्रहो वा। तत् तु खलु मित्रेण व सुहृदयेन वा स्वर्गम् आराधयितुम् इति। किञ्चि अनेन कर्तव्यतरं यथा स्वर्गालब्धिः।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवनां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। लोग बाधाओं

2. आवह-विवाह, पुत्रोत्पन्न होने और प्रवास के समय छोटे-बड़े मंगल कार्य करते हैं। इसी तरह के अन्य अवसरों पर भी लोग छोटे-बड़े मंगलकार्य करते हैं।

3. ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ बहुत प्रकार के छोटे एवं निष्प्रयोजन मंगल कार्य करती हैं। मंगल कार्य करना तो कर्तव्य है। किन्तु ये

4. मंगल कार्य अल्प फलवाले होते हैं। धर्ममंगल ही महाफल वाला होता है। वे हैं—दास और भतकों के प्रति शिष्टाचार, श्रेष्ठ लोगों का आदर साधु है।

5. प्राणियों के प्रति संयम साधु है। ब्राह्मण-श्रमणों को दान देना साधु है। ये और इसी प्रकार के दूसरे धर्ममंगल हैं। इसलिए

6. पिता, पुत्र, भाई और स्वामी द्वारा कहना चाहिए कि यह साधु है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह मंगल कर्तव्य है। ऐसा कहा गया है—

7. दान करना साधु है। ऐसा कोई दान और अनुग्रह नहीं है जैसा धर्मदान और धर्म-अनुग्रह। इसलिए मित्र, सुहृद्

8. जाति, सहायक सभी को उपदेश करना चाहिए कि इन अवसरों पर यह कर्तव्य है, यह साधु है। इससे

9. स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है। स्वर्ग की प्राप्ति से बढ़कर अन्य क्या अधिक करणीय है।

10. दसवाँ शिलालेख
(Tenth Rock Edict)

स्थान : गिरनार

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धम्म

मूल-पाठ

1. देवानंपि(प्रि)यो पि(प्रि)यदसि राजा यसो व कीति व न महाथावह । मञते अञत तदात्त(त्व)नो दिघाय च मे [ज] नो
2. धंम-सुसुं सा सस्रुसता[1] धंम-वुतं च अनुविधियतां (।) एतकाय देवानंपियो पियदसि राजा यसो व किति व इछति (।)

---

1. यहाँ शुश्रूषताम् का अभिप्राय है सेवताम्

3. यं तु किचि परिकामते देवानं प्रियदसि राजा त सवं पारत्रिकाय किंति सकले अपपरिस्रवे अस (।) एस तु परिसवे य अपुंञं (।)
4. दुकरं तु खो एतं छुदकेन व जनेन उसटेन व अत्र अगेन पराक्रमेन सवं परिचजित्पा (।) एत तु खो उसटेन दुकरं (।।*)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा यशः वा कीर्ति वा न महार्थावतां मन्यते–अन्यत्र तदात्मनः दीर्घाय च मे जनः धर्मशुश्रूषा शुश्रूषतां धर्मोक्त च अनुविधीयताम्। एतस्मै देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा यशः वा कीर्ति वा इच्छति यत् च किञ्चित् प्रक्रमते देवानां प्रियदर्शी राजा तत् सर्व पारत्रिकाय किमिति ? सकलः अल्पपरिस्रव स्यात्। एषः तु परिस्रवः यत् अपुण्यम्। दुष्करं तु खलु एतत् क्षुद्रकेण वा जनेन उच्छितेन वा अन्यत्र अग्रयात् पराक्रमात् सर्व परित्यज्य। एतत् तु खलु उच्छ्तेन दुष्करम।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा यश अथवा कीर्ति को श्रेष्ठ नहीं मानते। इसके अतिरिक्त इस समय और भविष्य में मेरी प्रजा

2. धर्माचरण के लिए प्रेरित हो और धर्म की विधियों का पालन करे। इसीलिए देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा यश अथवा कीर्ति की इच्छा करते हैं।

3. देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा जो भी पराक्रम करते हैं वह सब परलोक के लिए है। जिससे सब लोग अल्प पाप वाले हों। जो पाप है वही परिश्रव है।

4. उत्तम पराक्रम और सभी कर्मो के परित्याग के बिना छोटे और बड़े किसी व्यक्ति से यह सम्भव नहीं है। इनमें से बड़े और भी दुष्कर हैं।

11. ग्यारहवाँ शिलालेख
(Eleventh Rock Edict)

स्थान :
भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धम्म की व्याख्या।

मूल-पाठ

1. देविनंप्रियो पियदसि राजा एवं आह (।) नास्ति एतारिसं दानं यारिसि धंमदानं धंमसंस्तवो वा संविभागो वा धंमसंबंधो व (।)
2. तत इदं भवति दास भतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरा साधुं सुस्रुसा मितसस्तुतजातिकानं बाम्हणस्रमणानं साधु दानं
3. पाषानं अनारसो साधु (।) एत वतव्यं पिता व पुत्रेन व भाता व मितस्तुतजातिकेन न आव परीवेसियेहि इद साधु इद कतव्यं (।)

4. सो तथा कुरु इलोकचस आरधो होति परत च अनंतं पुइञं भवति तेनं धंमदानेन (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा एवम् आह्। नास्ति एतादशं दानं यादशं धर्मदानं धर्मसंस्तवः वा धर्मसंविभागः वा धर्मसम्बन्धः वा। तत् इदं भवति दासभतकेषु सम्प्रतिपत्तिः मातरि पितरि साधु शुश्रूषा मित्र–संस्तुत–ज्ञातिकेभ्यः ब्राह्मण-श्रमणेभ्यः साधु दानं, प्राणानां अनालम्भः साधु। एतत् वक्तव्यं पित्रा वा पुत्रेण वा भ्रात्रा वा मित्र-संतुत ज्ञातिकैः वा यावत् प्रतिवेश्यैः इदं साधु इदं कर्तव्यम्। स तथा कुर्वन इहलोकः आलब्द्धः भवति परत्र च अनन्तं पुण्यं भवति तेन धर्मदानेन।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। ऐसा कोई दान नहीं है जैसा धर्मदान, जैसा धर्म मित्रता, जैसी धर्म की उदारता, जैसा धर्म का सम्बन्ध।

2. दास और भत्यों के प्रति शिष्टाचार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, जाति और ब्राह्मण-श्रमणों को दान देना साधु है।

3. प्राणियों का अबध साधु है। पिता, पुत्र, भाई, मित्र, परिचित, जाति तथा पड़ोसी से यह कहना चाहिए कि—यही साधु है यही कर्तव्य है।

4. जो ऐसा आचरण करता है उसे इस लोक की प्राप्ति होती है तथा परलोक में भी उसे धर्मदान से अनन्त पुण्य होता है।

12. बारहवाँ शिलालेख
(Twelfth Rock Edict)

स्थान : शाहबाजगढ़ी

भाष :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धार्मिक सहिष्णुता की नीति; नए अधिकारियों की नियुक्ति।

मूल-पाट

1. देवनंप्रियो प्रियद्रशि रय सत्र-प्रषंडनि[1] प्रव्रजितनि ग्रहथनि च पुजेति दनेन विविधये च पुजये (।) नो चु तथ दन व पुज व
2. देवनंप्रियो मञति यथ किति सळ-वढि[2] सिय सत्र-प्रषंडनं (।) सळ-वढि तु बहुविध (।) तस तु इयो मुळ यं वचोगुति[3] (।)
3. किति अत-प्रषंड-पुज व पर-पषंड-गरहन व नो सिय अपकरणसि लहुक व सिय तसि तसि प्रकरणे (।) पुजेतविय व चु पर-प्रषं-

---

1. प्रषंडनि = विशिष्ट धर्मानुयायी।
2. सार-वढ़ी शाला-वढि कालसी में
3. व्यूलर का पाठ

4. ड तेन तेन अकरेन (।) एवं करतं अत-प्रषंड वढेति पर-प्रषडंस पि च उपकरोति (।) तद अञथ करमिनो अत-प्रषंड

5. क्षणति पर-प्रषडस च अपकरोति (।) यो हि कचि अत-प्रषडं पुजेति पर-प्र-षडं गरहति सव्रे अत-प्रषड-भतिय व किति

6. अत-प्रषंडं दिपयमि ति सो च पुन तथ करतं सो च पुन तथ करतं बढतरं उपहंति अत-प्रषडं (।) सो सयमो वो सधु (।) किति अञमञस ध्रमो

7. श्रुणेयु च सुश्रुषेयु च ति (।) एवं हि देवनंप्रियस इछ किति सव्र-प्रषंड बहु-श्रुत च कलणगम च सियसु (।) ये च तत्र तत्र

8. प्रसन तेषं वतवो देवनंप्रियो न तथ दनं व पुज व मञति यथ कितिसल-वढि सियति सव्र-प्रषडनं (।) बहुक च एतये अठये

9. वपट धम-महमत्र इस्त्रिधियक्ष-महमत्र व्रचभूमिक अञे च निकये (।) इमं च एतिस फलं यं अत-पषड-वढि भोति

10. ध्रमस च दिपन (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा सर्वान् पाषण्डान् प्रव्रजितानं गहस्थांश्च पूजयति दानेन विविधया च पूजाय। न तु तथा दानं वा पूजां वा देवानां प्रियो मन्यते यथा किमिति। सारवद्धिः स्यादिसि सर्वपाषण्डानाम् । सारवद्धिर्नां बहुविधा। सत्य त्विदं मूलं यद् वचोगुप्तिः किमिति ? तथा आत्मपाषण्डे पूजा वा परपाषण्डगर्हा च न स्यात् अप्रकरणे लघुता वा स्यात्। तस्मिस्तस्मिन् प्रकरणे पूजयितव्यास्तु परपाषण्डास्तेन तेना कारेण। एवं कुर्वन् आत्मपाषण्डान् बाढं बर्धयति परपाषण्डानपि वोपकरोति। तदन्यथा कुर्वन आत्मपाषण्डं च छिनति परपाषण्डानपि वापकरोति। यो हि कश्चिदात्मपाषण्डान् पूजयति परपाषाण्डान् वा गर्हयति सर्व आत्मपाषण्डभक्तया वा किमिति ? आत्मपाषण्डादीपयेम। स च पुनस्तथा कुर्वन वाढतरमुपहन्त्यात्मपाषण्डे। समवाय एवं साधुः, किमिति अन्यमनसो धर्म श्णुयुश्चशुश्रूषेरंश्चेति। एवं हि देवानां प्रियस्येच्छा, किमिति ? सर्व पाषण्डा बहुश्रुताः कल्याणागमाश्च भवेयुरिति। ये च तत्र तत्र प्रसन्नास्तैर्वक्तव्यम्। देवानां प्रियो न तथा दानं वा पूजां वा मन्यते, यथा किमिति सारवद्धिः स्यात् सर्वपाषण्डानामिति। बहुकाश्च एतस्मै अथपि वापता धर्ममहामात्राः स्त्र्यध्यक्षमहामात्रा ब्रात्यभूमिका अन्ये चा निकायाः। इदं चैतेषां पदात्मपाषण्डवद्धिश्च भवति धर्मस्य च दीपना।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों, संन्यासियों एवं गहस्थों को दान एवं विविध प्रकार के पूजा द्वारा आदर करता है। दान तथा पूजा को

2. देवाताओं का प्रिय उतना नहीं मानता जितना की सब धर्मों की सारवद्धि को। पर यह सारवद्धि कई प्रकार की है। उसका मूल है वाकसंयम।

3. जिससे अपने पाषण्ड की बड़ाई और दूसरे पाषण्ड की निन्दा बिना अवसर न करें या उसके सम्बन्ध में सामान्य विवरण न दें। उचित अवसर पर दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के लोगों का भी आदर करना चाहिये।

4. ऐसा करने से व्यक्ति अपने पाषाण्ड की वद्धि तो करता ही है और पर पाषण्ड का भी उपकार करता है। इसके विपरीत करने पर वह अपने धर्म की

5. हानि करता है और दूसरे धर्म का भी अपकार करता है। जो अपने धर्म में भक्ति के कारण अपने धर्म का सम्मान करता है और पर धर्म की निन्दा करता है कि

6. अपना धर्म प्रकाशित हो वह ऐसा करते हुए अपने धर्म को बहुत हानि पहुँचाता है। इसलिए सभी धर्मों में व्याप्त एकता ही साधु है कि

7. दूसरे विचार वाले भी धर्म को सुनें और उसकी सुश्रूषा करें। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पाषण्ड बहुश्रुत तथा हितकर सिद्धान्तों वाले हों। जो उन-उन

8. सम्प्रदायों से सन्तुष्ट हैं उनसे कहना चाहिये कि देवताओं का प्रिय दान और पूजा को उतना महत्त्व नहीं देता जितना सभी धर्मानुयायिओं की सारवद्धि को। इस निमित्त बहुत से अधिकारी नियुक्त हैं यथा—

9. धर्ममहामात्र, स्त्रियाध्यक्षमहामात्र, ब्रजभूमिक और अन्य अधिकारी। इसका यह फल होगा कि अपने धर्म की वद्धि होगी।

10. और धर्म का प्रकाशन।

13. तेरहवाँ शिलालेख
(Thirteenth Rock Edict)

स्थान : शाहबाजगढ़ी

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धर्मभावना का जागरण, कलिंग युद्ध; सीमान्त राज्य; राजा के धार्मिक विचार; प्रशासनिक तथा सामाजिक दष्टिकोण।

मूल-पाठ

1. अठ-बष-अभंसितस देवनप्रिअस प्रिअद्रशिस रञो कलिग विजित (।) दिअढ-मत्रे प्रण-शत-महस्रे ये ततो अपवुढे शत-सहस्र-मत्रे तत्र हते बहु-तवतके व मुटे (।)
2. ततो पच अधुन लधेषु कलिगेषु तिव्रे ध्रम-शिलन[1] ध्रम-कमत ध्रमनुशस्ति च देवनंप्रियस (।) सो अस्ति अनुसोचनं देवनप्रिअस विजिनिति कलिगनि (।)
3. अविजितं[2] हि विजिनमनो यो तत्र वध व मरणं व अपवहो व जनस तं बढं वेदनिय-मतं गुरु-मतं च देवनंप्रियम (।) इदं पि चु ततो गुरुमततरं देवनंप्रियस ये तत्र

---

1. व्यूलर के अनुसार : ० पलनं (=०पालनं)
2. इस विजय के पूर्व कलिंग अशोक के अधीन नहीं था। बरुआ के अनुसार इसके पहले कलिंग कभी मगध द्वारा जीता नहीं गया था। पर यह गलत है क्योंकि हाथीगुम्फा अभिलेख से स्पष्ट है कि महापद्मनन्द ने कलिंग पर विजय किया था।

4. वसित ब्रमण व श्रमण व अंजे व प्रषंड ग्रहथ व येसु विहित एष अग्रभुटिसुश्रुष मत-पितुषु सुश्रुष गुरुन सुश्रुष मित्र-संस्तुत-सहय-

5. ञतिकेषु दस-भटकनं सम्म-प्रतिपति द्रिढ-भतित तेष तत्र भोति अपग्रथो व वधो व अभिरतन व निक्रमणं (।) येष व पि सुविहितन सि(ने) हो अविप्रहिनो ए तेष मित्र-संस्तुत-सहय-ञतिक वसन

6. प्रपुणति तत्र तं पि तेष वो अपग्रथो[1] भोति (।) प्रतिभगं च एतं सव्रं मनुशनं गुरुमत्तं च देवनंप्रियस (।) नस्ति च एकतरे पि प्रषडस्पि न नम प्रसदो (।) सो यमत्रो जनो तद कलिगे हतो च मुटो च अपवुढच ततो

7. शत-भगे व सहस्र-भगं व अज गुरु-मतं वो देवनंप्रियस (।) यो पि च अपकरेयति क्षमितविय-मते व देवनंप्रियस यं शको क्षमनये (।) य पि च अटवि देवनंप्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अपुनिजपेति (।) अनुतपे पि च प्रभवे

8. देवनंप्रियस वुचति तेष किति अवत्रपेयु न च हंञेयसु (।) इछति हि देवनंप्रियो सव्र-भुतन अक्षति संयमं समचरियं रभसिये (।) अयि च मुख-मुते विजये देवनंप्रियस यो ध्रम-विजयो (।) सो चन पुन लधो देवनंप्रियस इह च सवेषु च अंतेषु

9. अ षषुपि योजन-शतेषु यत्र अंतियोको नम योन-रज परं च तेन अँतियोकेन चतुरे 4 रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम निच चोड-पंड अव तंबपंणिय[1] (।) एवमेव हिद रज-विषवस्पि योन-कं बीयेषु नभक नभितिन[2]

10. भोज-पितिनिकेषु अंध्र-पलिदेषु सवत्र देवनंप्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवटंति (।) यत्र पि देवनंप्रियस दुत न व्रंचति ते पि श्रुतु देवनंप्रियस ध्रम वुटं विधनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधियिशंति च (।) यो स ळधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन

11. विजयो प्रिति-रसो सो (।) लध भोति प्रिति ध्रम-विजयस्पि (।) लहुक तु खो स प्रिति (।) परत्रिकमेव मह-फल मेञति देवनं प्रियो (।) एतये च अटये अयि ध्रम-दिपि दिपिस्त (।) किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतविअ मञिषु (।) स्यकस्पि यो विजये क्षंति च ळहु-दंडत च रोचेतु (।) तं च यो विजयं मञतु

12. यो ध्रम-विजयो (।) सो हिदलोकिको परलोकिको (।) सव्र च निरति भोतु य ध्रंम-रति (।) स हि हिदळोकिक परलोकिक (॥)

संस्कृत छाया

अष्टवर्षाभिषिक्तस्य देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिना राज्ञेः कलिङ्गा विजिताः। अधयर्धमानं प्राणशतसहस्रं यत्ततोपव्यूढं शतसहस्रमात्रास्तमहता बहुतावत्का व मताः। ततः पश्चात् अधुना लब्द्धेषु कलिंगेषु तीव्रं धर्म-शीलनं, धर्मकामता, धर्मानुशस्तिः च देवानां प्रियस्य। तत् अस्ति अनुशोचनं देवानां प्रियस्य विजित्य कलिंगान। अविजिते हि विजीयमाने यतत्र वधो वा मरण वा अपवहो वा जनस्य। तद्बाढं वेदनीयमतो

---

1. कालसी, गिरनार, मानशेहरा में नथि चा षे जनपदे यता नथि इमे निकाया आमता योनेषु बंह्माने चा षमने चा; नथि चा कुवापि जनपदषि यता नथि मनुषान एकतलषि पि पाषडषि नो नाम पषादे।

2. दूसरे स्थानों पर

गुरुमतं च देवानां प्रियस्य। इदमषि च तु ततो गुरुमततरं देवानां प्रियस्य। ये तत्र वसन्ति ब्राह्मणा वा श्रमणा वा अन्ये वा पाषण्डा गहस्था वा येषु विहितैषा अग्रबुद्धशुश्रूषा माता-पितशुश्रूया गुरुणांशुश्रूषा मित्रसंस्तुत सहायज्ञातिषु दासभतकेषु सम्यकप्रतिपत्तिर्दढ़भक्तिता। तेषां तत्र भवति उपघातो वा वधो वा अभिरतानां वा निष्क्रमणम् येषां वापि संविहितानां स्नेहः अविप्रहीन एतेषां मित्रसंस्तुत सहाय ज्ञातीया व्यसनं प्राप्नुवन्ति तत्सोपि तेषामेव उपघातो भवति। प्रतिभागं चैतत सर्वे मनुष्याणां गुरुमतं च देवानां प्रियस्य। नास्ति च एकतरे अपि पार्षदे न नाम प्रसादः। तत यन्मात्रः जनः तदा कलिंगे हृतः च मतः च अपवाढेः च ततः शतभागो वा सहस्र भागो वा अद्य गुरुमत एव देवानां प्रियस्य। योऽपि च अपकरोति क्षन्तव्य एव मतो देवानांप्रियस्य यः शक्यः क्षमषाय। योपिचाटविकः देवानां प्रियस्य विजितो भवति तपष्यनुनयत्यनुनिध्यायति। अनुतायेऽपि च प्रभावो देवानां प्रियस्य उच्यते तस्य। किमित्यपत्रपेरन्न च हन्येस्। इच्छति हि देवानां प्रियः सर्वभूतानमक्षतिं संयमं समचर्या मोदवत्तिम्। एतञ्चमुख्यारत विजये देवाना प्रियस्य यो धर्मविजयः। सच पुनः लब्धो देवानां प्रियस्येह च सर्वेषु चान्तेष्टष्टस्वपि योजन शतेषु यत्रअन्तियोको नाम यवन राजः परं च तस्माद् अन्तियोका चत्वारो राजानस्तुरमयो नाम अन्तिकोनो नाम मगो नाम अलिकसुन्दरो नाम नीचाः चोडाः पाण्ड्याः एवं ताम्रपर्णीयाः। एवमेव इह राज्य विषयेषु यवन कम्बोजेषु नाभके नामप्रान्तेषु भोज पितिनिक्येषु आन्ध्रपुलिन्देषु सर्वत्र देवानां प्रियस्य धर्मानुशिष्टिमनुवर्तत्ते। यत्रापि द्वता देवानां प्रियस्य न यान्ति तत्रापि श्रुत्वा देवाना प्रियस्य धर्मवत्तं विधानं धर्मानुशिष्टिं धर्ममनुविधत्यनुविधास्यन्ति च। यत्रलब्धं एतावता भवति सर्वत्र विजयः प्रीतिरसः सः। गाढ़ा सा भवति प्रीतिः। पारमिकमेव महाफलं मन्यते देवानां प्रियः एतस्मे चाव्र्यापयं धर्मलिपिः लिखिता। किमिति ? पुत्राः प्रपौत्रा मे शणुयुः नवं विजयं मा विजेतव्यं मन्येरन्। शराकर्षिणो विजये शान्ति च लघुदण्डतां च रोचयन्ताम्। तमेव च विजयं मन्यन्तां यो धर्मविजयः। स एहलौकिक-पारलौकिकः। सवचि निरतर्भवतु या उद्यमरतिः। सा हि ऐहलौकिकपारलौकिकी।

हिन्दी अर्थान्तर

1. सिंहासन पर बैठने के आठ वर्ष बाद देवाताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कलिंग जीता गया। डेढ़ लाख प्राणी वहाँ से बन्दी बनाकर बाहर भेजे गये, एक लाख वहाँ मारे गये और उसके कई गुना मर गये।

2. तत्पश्चात् अब कलिंग के विजित होने पर देवताओं के प्रिय की रुचि धर्मपालन (धर्म की शुद्धि), धर्मकर्म (धर्मानुराग) और धर्मानुशष्टि (धर्मोपदेश) में तीव्र हो गई। कलिंग विजित कर देवताओं के प्रिय को खेद है।

3. क्योंकि यह विजय कोई विजय नहीं है। इसमें वध, मरण और निष्कासन होता है। वह देवताओं के प्रिय के द्वारा अत्यन्त वेदनीय और गम्भीरता से अनुभव किया गया। इससे भी अधिक गम्भीर देवनां प्रिय के लिए यह है क्योंकि वहाँ

4. ब्राह्मण, श्रमण या अन्य सम्प्रदाय या गहस्थ रहते हैं जिनमें अग्रजों की सेवा, मातापिता की सेवा, गुरु सेवा, मित्र, परिचित, सहायक,

5. ज्ञातिजनों तथा दास-भतकों के प्रति सद्वयवहार और दढ़ भक्ति पाई जाती है। युद्ध में वहाँ आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन होता है। यही सब मनुष्यों की दशा होती है। फिर भी जो सुव्यवस्थित स्नेह वाले होते हैं उनके मित्र, परिचित और ज्ञातिजन संकट को प्राप्त होते हैं।

6. उनसे उनको आघात होता है। यही सब मनुष्यों की दशा होती है। यह देवताओं के प्रिय के मत में गम्भीर है। ऐसा एक भी देश नहीं है जिसमें रहने वालों का किसी सम्प्रदाय में विश्वास न हो। इसलिए जितने लोग कलिंग में मारे गये, मरे वा बन्दी बनाकर ले जाये गये

7. उनका सौवां या सहस्रवां भाग भी आज देवताओं के प्रिय के मत में घणित है। देवताओं के प्रिय के विचार में यदि कोई अपकार करे तो वह क्षम्य है वहाँ तक जहाँ तक क्षमा करना सम्भव है और जो आटविक प्रदेश देवताओं के प्रिय द्वारा विजित उसके राज्य में हैं उन्हें वह अनुनय द्वारा शान्त करता है, परिवर्तित करता है तथा अपनी कृपा के अतिरिक्त उन्हें दण्ड देने की अपनी शक्ति को बताता है।

8. देवताओं का प्रिय उनसे कहता है कि वे अपने पूर्व कर्मों के लिए लज्जित हों नहीं तो नष्ट कर दिए जाएँगे। देवताओं का प्रिय सभी प्राणियों के अक्षय, संयम, सदाचरण और प्रसन्नता की इच्छा करता है। देवताओं के प्रिय के अनुसार धर्मविजय ही प्रमुख विजय है। यह विजय बार-बार देवताओं के प्रिय द्वारा यहाँ और सभी सीमान्त राज्यों में

9. आठ सौ योजन दूर स्थित अन्तियोक नामक यवन राजा और उस अन्तियोक के अतिरिक्त चार राजा—तुलमय (टालमी), अन्तिकेन (अण्टीगोनस गोनैटस), मक (मेगास थियास), अलिकसुन्दर (इपिरस या कोरिंथ का एलेक्जेण्डर) और दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी तक की गई है। इसी प्रकार राज्य, प्रदेशों, कम्बोजों, नाभकों, नाभपंक्तियों

10. भोजों, पिटैनिकों, आंध्रों तथा पुलिंदों में सर्वत्र देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का पालन होता है। जिन स्थानों में देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुँचते वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय के धर्म का व्यवहार, विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इससे जो विजय प्राप्त होता है वह सर्वत्र पुनः

11. प्रीति देने वाला होता है। धर्म विजय से प्राप्त प्रीति गाढ़ी होती है। पर यह प्राप्ति छोटी है क्योंकि देवताओं का प्रिय परमार्थ को ही महाफल मानता है। इस निमित्त यह धर्मलिपि अंकित कराई गई कि मेरे पुत्र, पौत्र जो इसको सुने वे नया विजय न करें। अगर उन्हें शास्त्र विजय करना ही पड़े तो शान्ति और लघुदण्डता का अनुसरण कर उसमें आनन्द लें। वे धर्म विजय

12. को ही विजय माने। वही इहलौकिक और पारलौकिक सुख का कारण है। उद्यम में ही उन्हें आनन्द हो क्योंकि वह इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन के लिए कल्याणकारी होता है।

14. चौदहवाँ शिलालेख
(Fourteenth Rock Edict)

स्थान : गिरनार, सौराष्ट्र

भाषा :
लिपि : } पूर्ववत्
काल :

विषय : धम्मलिपि लिखवाने का उद्देश्य

मूल-पाठ

1. अयं घंम-लिपी देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता (।) अस्ति एव

2. संखितेन अस्ति मझमेन अस्ति विस्ततन[1] (।) न च सवं सवत घटितं (।)
3. महालके हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव (।) अस्ति च एत कं
4. पुन पुन वुतं तस तस अथस माधूरताय (।) किंति जनो तथा पटिपजेथ (।)
5. तत्र एकदा[2] असमातं लिखितं अस देसं व सछाय-कारणं व
6. अलोचेत्पा लिपिकरापरधेन व (।।)

संस्कृत छाया

इयं धर्म लिपिः देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता। अस्ति एव संक्षिप्तेन अस्ति मध्यमेन अस्ति विस्ततेन। न च सर्व सर्वत्र घटितम्। महल्लकं हि विजितम्। बहु च लिखितं लेखयिष्यामि च नित्यम्। अस्ति च एतत् पुनः पुनः उक्तं तस्य तस्य अर्थस्य माधुर्याय। किमिति ? जनः तथा प्रतिपद्येत। अत्र एकदा असमाप्तं लिखितं स्यात् देशं वा संक्षयकारणं वा आलोच्य लिपिकारापराधेन वा।

हिन्दी अर्थान्तर

1. यह धर्म लिपि देवानां प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवाई गई है।
2. संक्षेप में, मध्यमरीति में और विस्तार में सभी सर्वत्र सम्भव नहीं है।
3. विशाल साम्राज्य है। बहुत लिखा गया है और बराबर लिखा जायगा। यह
4. पुनः पुनः कहा गया अपने अर्थ के माधुर्य के कारण इसलिए कि लोग इसका अनुपालन करें।
5. इसमें एक अपूर्ण लिखी है स्थान, संक्षेपीकरण अथवा
6. लेखक के अपराध के कारण।

(ब) पृथक शिलालेख

1. कलिंग का प्रथम शिलालेख

(First Rock Edict of Kalinga)

स्थान : धौली, पुरी जिला, उड़ीसा

लिपि :
भाषा :
काल : } पूर्ववत्

विषय : राज्यादर्श और प्रजावत्सलता का निरूपण

मूल-पाठ

1. देवानंपियस वचनेन तोसलियं महामात नगलवियोहालका
2. वतविय (।) अं किछि दखामि हकं तं इछामि किंति कंमन पटिपादयेहं
3. दुवालते च आलभेहं (।) एस च मे मोख्य-मत दुवाल एतसि अठसि अं तुफेसु
4. अनुसथि (।) तुफे हि बहूसु पानसहसेसुं आयत पनयं गछेम सु मुनिसानं (।) सवे

---

1. सरकार का मूलपाठ विस्ततेन
2. दूसरे पाठ हैं या

5. मुनिसे पजा ममा (।) अथा पजाये इछामि हकं किंति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक-
6. पाललोकिकेन यूजेबू ति तथा (सव) मुनिसेसु पि इछामि हकं (।) नो च पापुनाथ आवग-
7. मुके इयं अठे (।) केछ व एक-पुलिसे (पापु) नाति एतं से पि देसं नो सवं (।*) देखत हि तुफे एतं
8. सुविहिता पि (।) नितियं एक-पुळिसे पि अथि ये बंधनं वा पळिकिळेसं वा पापुनाति (।) तत होति
9. अकस्मा तेनं बधनं तिक अंने च (तत) बहु जने दविये दुखीयति (।) तत इछितविये
10. तुफेहि किंति मझं पटिपादयेमा ति (।) इमेहि चु जातेहि नो संपटिपजति इसाय आसुलोपेन
11. निठूलियेन तूळनाय अनावूतिय आलसियेन किळमथेन (।) से इछितविये किंतिं एते
12. जाता नो हुवेवु ममा ति (।) एतस च सवस मूले अनासुलोपे अतूळना च (।) नितियं ए किळंते सिया
13. न ते उगछ संचलितविये तु वटितचिये एतविये वा (।) हेवंमेव ए दखेय तुफाक तेन वतविये
14. आनं ने देखत हवं च हेवं च देवानं पियस अनुसथि (।) से महाफले एतस संपटिपाद
15. महा-अपाये असंपटिपति (।) विपटिपादयमीने हि एतं नथि स्वगस आलधिनो लाजालधि (।)
16. दु-आहले हि इमस कंमस मे कुते मने-अतिलेके (।) संपटिपजमीने चु एतं स्वगं
17. आलाधयिसथ मम च आननियं एहथ (।) इयं च ळिपि तिसनखतेन सोतविया (।)
18. अंतला पि च तिसेन खनसि खनसि एकेन पि सोतविय (।) हेवं च कळंतं तुफे
19. चधथ संपटिपाद यितवे (।) एताये अठाये इयं लिपि लिखित हिद एन
20. नगल-विथोहालका सस्वतं समयं यूजेबू ति एन* जनस अकस्मा पलिबोधे व
21. अकस्मा पळिकिलेसेव नो सिया ति (।) एताये च अठाये हकं महा *मते पंचसु पंचसु वसे —
22. सु निखामयिसामि ए अखखसे अचंडे सखिनालंभे होसति एतं अठं जानितु तं पि तथा
23. कलंति अथ मम अनुसथी ति (।) उजेनिते पि चु कुमाले एताये च अठाये नि खामयिस ति अनुवासं
24. हेदिसमेव वगं नो च तिकामयिसति तिंनि वसानि (।) हेमेव तखसिलाते पि (।) अदा अनुवासं
25. ते महामता निखमिसंति अनुसयानं तदा अहापयितु अतने कंमं एतं पि जानिसंति
26. तं पि तथा कलंति अथ लाजिने अनुसथी ति (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः एवम् आह। समापायां महामात्राः नगरव्यवहाराकाः एवं वक्तव्या :। यत् किंचित पश्यामि अहं तत् इच्छामि। किमिति कर्मणा प्रतिपादये द्वारतः च आरभे। एतत् च मे मुख्यमतं द्वारम् यत् युष्मासु अनुशिष्टिः। यूयं हि बहुसु प्राणसहस्रेषु आयताः प्रणयं गच्छेम स्वित मनुष्याणाम्। सर्वमनुष्याः मे प्रजाः। यथा प्रजायै इच्छामि अहं किमिति सर्वेण हितसुखेन यूज्येरन् इति ऐहलौकिक-पारलौकिकेन, एवम् एवमे इच्छा सर्वमनुष्येषु। न च यूयं एतत् प्राप्नुथ यावदगमकः अयम् अर्थः। कश्चित् एकः मनुष्यः प्राप्णोति। तत्र भवति अकस्मात् इति तेन बन्धनान्तकम् अन्यः च वर्गः वेदयति। तत्र युष्माभिः इच्छितव्यम् किमित मध्यं प्रतिपादयेमहि। एभिः जातैः न संप्रतिपद्यते ईर्ष्यया, आशुलोपेन, नैष्ठुर्येण, त्वरया अनावत्या, आलस्येन कल्मथेन। तत् इच्छितव्यं किमित मे एतानि जातानि न भवेयुः। सर्वस्य तु इदं मूलं अनाशुलोपः अत्वरया च। नीत्या यः क्लान्तः स्यात् न सः संचलितव्यं उत्थातव्यं वर्तयितव्यं अपि एतव्यं नीत्याम्। एतम् एव यः पश्येत् .... एवम् एवम् च देवानां प्रियस्य अनुशिष्टिः इति। एतस्य सम्प्रतिपादः स महाफलः भवति। असम्प्रतिपत्ति महापापः भवति। विप्रतिपाद्यमाने न स्वर्गस्य आलब्धिः न राजालब्धिः। द्व्याहरः अस्य कर्मणः स मे कुतः मनोऽतिरेकः। एतस्मिन प्रतिपद्यमाने मम च आनण्य एष्यथ स्वर्गं च आराधयिष्यथ। इयं च लिपिः अनुतिष्यं श्रोतव्या। अन्तरा अपि क्षणेन श्रोतव्या एकेन अपि श्रोतव्या। एतस्मै अर्थाय इयं लेखिता लिपिः येन महामात्राः नागरकाः शाश्वतं समयम् एतत् युञ्ज्युः इति येन मनुष्याणां .... एतस्मै च अर्थाय अहं पञ्चसु पञ्चसु वर्षेषु अनुसंयानं निष्क्रामयिष्यामि महामात्रं अचण्डं अपरुषं तत् अपि कुमारः ....।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानां प्रिय ने ऐसा कहा—समापा के महामात्र और नगर व्यवहारिकों को ऐसा करना चाहिए। जो कुछ मैं उचित समझता हूँ वह मैं इच्छा करता हूँ और कार्य रूप में उसे प्रतिपादित करता हूँ।

2. और उचित रीति से उसकी प्राप्ति करता हूँ। मेरे मत में आप लोगों के लिए धर्मानुशासन ही मुख्य उपाय है। आप बहुत से लोगों पर नियुक्त हैं इसलिए कि मनुष्यों का प्रेम आप अवश्य ही प्राप्त कर लें। सभी मनुष्य मेरी

3. संतान हैं। जिस प्रकार मैं अपनी प्रजा के लिए इच्छा करता हूँ कि सभी इस लोक में और परलोक में हित और सुख से युक्त हों उसी प्रकार मैं सभी मनुष्यों के लिए चाहता हूँ। आप इसे नहीं समझ सकते कि कितनी दूर तक

4. इस मन्तव्य को ग्रहण करना चाहिए। कोई व्यक्ति इस बात को समझ सकता है पर पूर्ण रूप से नहीं आंशिक रूप से। आप देखें कि यह बात अच्छी तरह स्थापित है। ऐसा होता है कि

5. अकस्मात् कोई व्यक्ति बन्दी बनाया जाता है और वही उसकी मत्यु का कारण होता है। इससे दूसरों को कष्ट होता है। ऐसी स्थिति में आपको इच्छा करना चाहिए कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करें। किन्तु निम्न वासनाओं के होने से यह सम्भव नहीं हो सकता—ईर्ष्या, असंतुलन, निष्ठुरता।

6. त्वरता, अविवेक, आलस्य और थकावट। अतः आपको इच्छा करनी चाहिए कि ये वासनाएँ आपमें न हों। इन सबका मूल है—असन्तुलन और अत्वरा। जो नैतिक दष्टि से शिथिल होता है उसका विकास नहीं हो सकता।

7. किन्तु आप को इस मार्ग पर चलना है, अपना उत्थान करना है और इसे व्यवहार में लाना है। ऐसा आपको देखना है। लोगों का कहना है कि आप लोगों को परस्पर देखना है कि देवानांप्रिय प्रियदर्शी का यही धर्मानुशासन (धर्मोपदेश) है। इसका प्रतिपादन

8. महाफलदायक है तथा असम्पादन महापाप है। इसके सम्पादन न होने से न तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है न राजा के कृपा की उपलब्धि। मेरी दष्टि में इस पर अधिक ध्यान देने से दो परिणाम होंगे। इसके पालन करने से मेरे

9. ऋण से आप मुक्त होंगे और स्वर्ग को प्राप्त करेंगे। प्रत्येक तिष्य नक्षत्र को यह धर्मलिपि सुननी चाहिए। बीच के भी प्रत्येक क्षण सुनना

10. चाहिए। इस उद्देश्य के लिए यह धर्मलिपि लिखाई गई कि महामात्र, नागरक निरन्तर इसका पालन करें जिससे लोगों को निरर्थक कारावास तथा कष्ट न हो : इसी प्रयोजन से मैंने

11. पाँच-पाँच वर्षों में सौम्य, मधुर महामात्रों को दौरे पर भेजा। इसी प्रकार कुमार

2. कलिंग का दूसरा शिलालेख

(Second Rock Edict of Kalinga)

स्थान :
लिपि :
भाषा :
काल : } पूर्ववत्

विषय : सीमान्त नीति का विवेचन तथा राज्य के अधिकारी और धम्म कार्य

मूल-पाट

1. देवानंपिये हेवं आह (।) समापायं महामता[1] लाजवचनिक वतविया (।) अं किछि दखामि हकं तं इछामि हकं किंति कं कमन
2. पटिपायतयेहं दुवाळते च आळभेहं (।) एस च मे मोखियमत दुवाल एतस अथस अं तुफेसु अनुसथि (।) सव-मुनि-
3. सा मे पजा (।) अथ पजाये इछामि किंति मे सवेणा हित-सुखेन युजेयू अथ पजाये इछामि किंति मे सवेन हित-सु-
4. खेन युजेयू ति हिदलोगिक-पाळलोकिकेण हेवंमेव मे इछ सव-मुनिसेसु (।*) सिया अंतानं अ विजिता-
5. नं किं-छांदे सु लाजा अफेसू ति (।) एताका वा मे इछ अं तेसु पापुनेयु लाजा हेवं इछति अनुविगिन ह्वेयू
6. ममियाये अस्वसेयु च मे सुखंमेव च लहेयू ममते नो (दु)खं (।) हेवं च पापुनेयु खमिस ति ने ळाजा
7. ए सकिये खमितवे ममं निमितं च धंमं चले यू ति हिदळोगं च पळळोग च आळाधयेयू (।) एताये

1. धौली का पाठ : तोसलियं कुमाले महमाता च. governor of Kalinga was stationed at Tosali.

8. च अठाये हकं तुफेनि अनुसासामि अनने एत केन हकं तुफेनि अनुसासितु छंदं च वेदि-
9. तु आ मम धिति पटिना च अचळ (।) स हेवं कटू कंमे चळितविये अस्वासनि या च ते एन ते पापुने-
10. यु अथा पित हे वं ने लाजा ति अथ अ तानं अनुकंपति हे वं अफे नि अनुकंप ति अथा पजा हे —,
11. वं मये ला जिने (।) तुफेनि हकं अनुसासित छांदं च वेदित आ म म धिति पटिंना चा अचल सक ल–
12. देसा-आयुति के होसामी एतसि अथसि (।) अलं हि तुफे अस्वासनाये हित -सुखाये च तेसं हिद-
13. ळोगि क-पाल लो किकाये (।) हेवं च कलंतं स्वगं च आलाधयिसथ समं च आन नेयं एसथ (।) ए–
14. ताये च अथाये इयं लिपी लिखित हिद एन महामाता सास्वतं समं युजेयू अस्वासनाये च
15. धंम-चलनाये च अंतानं (।) इयं च लिपी अनुचा तुंमासं सोतविया तिसेन (।*)अंतला पि च सोतविया (।)
16. खने संतं एकेन पि सोतविया (।) हेवं च कलंतं चघथ संपटिपातयितवे (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः एवम् आह। समापायां महामात्राः राजवाचनिकं वक्तव्याः। यत् किंचित् पश्यामि अहं तत् इच्छामि अहं किमिति कं कर्मणा प्रतिपादये द्वारतः च आरभे। एतत् च मे मुख्यमतं द्वारं एतस्य अर्थस्य या युष्मासु अनुशिष्टिः। सर्वे मनुष्याः मे प्रजाः। यथा प्रजायै इच्छामि किमिति मे सर्वेण हितसुखेन युज्येरन इति इहलौकिक-पारलौकिकेन, एवम् एवमे इच्छा सर्व मनुष्येषु। स्यात् अन्तानां अविजितानां–किं छन्दः स्वित् राजा अस्मासु इति ? एतकाः वा मे इच्छाः अंतेषु प्राप्णुयुः 'राजा एवम् इच्छति-अनुद्विग्नाः भवेयुः मया आश्वस्युः च। मया सुखम् एव च लभेरन मत्तः न दुःखम्। एवं च प्राप्णुयुः क्षमिष्यते नः राजा यत् शक्यं क्षन्तुम्। मम निमित्तं च धमं चरेयुः इति। इहलोकं च परलोकं च आराधयेयुः। एतस्मै च अर्थाय अहं युष्मासु अनुशास्मि। अनणः एतकेन अहं—युष्मान् अनुशिष्य इदं च वेदयित्वा या मम धतिः प्रतिज्ञा च अचला। तत् एवं कृत्वा कर्म चरितव्यम्, अश्वासनीयाः च ते येन ते प्राप्णुयः यथा पिता एवं नः राजा इति, यथा आत्मानम् अनुकम्पते एवम् अस्मान् अनुकम्पते, यथा प्रजा एवं वयं राज्ञः इति। युष्मान् अहं अनुशिष्य छंदं च वेदयित्वा या मम घतिः प्रतिज्ञा च अचला सकल देशावत्तिकः भविष्यामि एतस्मिन् अर्थे। अलं हि यूयम् आश्वासनाय हितसुखाय च तेषा इहलौककाय। एवं च कुर्वन्तः स्वर्गं च आराधयिष्यथ मम च आनण्यं एष्यथ। एतस्मै च अर्थाय इयं लिपिः लेखिता इह येन महामात्राः शाश्वतं समयं युञ्जयुः आश्वासनाय च धर्मचरणाय च अन्तानाम् इयं च लिपिः अनुचातुर्मासं श्रोतव्या तिष्येण। अन्तरा अपि च श्रोतव्या। क्षणे सति एकेन अपि श्रोतव्या। एवं च कुर्वन्तः चेष्टध्वं सम्प्रतिपादयितुम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय ने ऐसा कहा—समापा के महामात्रों को राजा के संदेश के रूप में कहना चाहिए कि मैं जो कुछ उचित समझता हूँ उसकी इच्छा करता हूँ कि उसे क्रिया द्वारा

2. करूँ और आवश्यक रीति द्वारा प्रारम्भ करूँ। मेरे विचार में इस उद्देश्य का मुख्य उपाय है आप लोगों में धर्म का अनुशासन।

3. सभी मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तति)- हैं। जैसे मैं अपनी संतति के लिए इच्छा करता हूँ कि वे सभी हित और सुख से युक्त हों उसी प्रकार मैं सभी मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ कि वे सभी

4. इहलौकिक और पारलौकिक हित और सुख से युक्त हों। सभी मनुष्यों के लिए यही मेरी इच्छा है। सीमावर्ती लोग जो अविजित हैं उन्हें यह जानने की इच्छा हो सकती है

5. कि हमलोगों के प्रति राजा का क्या विचार है ? इसे मेरे सीमा के लोगों तक पहुँचाना चाहिए कि राजा ऐसी इच्छा करते हैं—आप अनुद्विग्न हों।

6. मुझसे आश्वस्त रहें। मुझसे दुःख नहीं सुख प्राप्त करें। यह सन्देश भी पहुँचाना चाहिए— राजा क्षमा करेंगे जहाँ तक उन्हें

7. क्षमा करना सम्भव होगा। उनको धर्म का आचरण करना चाहिए। उन्हें इस लोक तथा परलोक में धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए।

8. मैं आप लोगों में धर्मोपदेश प्रजा के लिए करता हूँ। मैं इससे उऋण होता हूँ। आप लोगों को उपदेश देकर तथा इसको बतला कर।

9. जो मेरी प्रतिज्ञा है वह अचल है, ऐसा करके कर्त्तव्य का आचरण करना चाहिए। उन्हें आश्वासन देना चाहिए कि वे समझें

10. कि राजा भी मेरे लिए वैसा ही जैसे पिता। जैसे वे अपने ऊपर कृपा करते हैं वैसे मेरे ऊपर भी। पिता की जैसी सन्तान होती है

11. वैसे ही हम राजा के लिए हैं। आप लोगों को उपदेश कर अपनी इच्छा बतावें कि जो मेरा विश्वास है वह अचल है।

12. इस उद्देश्य के लिए सभी प्रादेशिक अधिकारियों को नियुक्त करूँगा। उनके हित और सुख के लिए आश्वासन देने हेतु आप पर्याप्त हैं।

13. इस लोक के कल्याण के लिए आप लोगों को ऐसा करते हुए स्वर्ग की प्राप्ति करनी चाहिए और उससे उऋण होना चाहिए।

14. यह धर्म लिपि इस प्रयोजन के लिए लिखवाई गई है कि प्रजा को आश्वासन देने का कार्य सभी समय धर्ममहामात्र करें और

15. सीमावर्ती लोगों में भी धर्म का प्रचार करें। यह लिपि प्रत्येक चतुर्मास्य में तिष्य नक्षत्र में सुनी जानी चाहिए तथा बीच-बीच में भी सुननी चाहिए।

16. प्रत्येक क्षण भी मनुष्यों को इसे सुनना चाहिए। ऐसा करते हुए कार्य करने की चेष्टा करें।

(स) लघु शिलालेख

1. भाब्रू (बैराट) का लघु शिलालेख
(Bhabru Bairat Minor Rock Edict)

स्थान : बैराट, जयपुर के समीप, राजस्थान

भाषा एवं लिपि : पूर्ववत्

काल : 22वाँ से 24वाँ राज्यवर्ष (लगभग 247-45 ई० पूर्व)

विषय : अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी होने का प्रमाण

मूल-पाठ

1. (प्रि)यदसि लाजा मागधे संघं अभिवादेतूनं आहा अपाबाधतं च फासु-विहालतं चा (।)
2. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे च (।) ए केचि भंते
3. भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा (।) ए चु खो भंते हिमायाये दिसेया हेवं संधंमे
4. चिल-ठितीके होसती ति अलहामि हकं तं वातवे (।) इमानि भंते धंम-पलियायानि विनयसमुकसे[1]
5. अलियवसाणि[2] अनागतभयानि[3] मुनिगाथा[4] मोनेयसूते[5] उपतिसप्रसिनो[6] ए चा लाघुलो-
6. वादे[7] मुसा-वादं अधिगिच्य भगवता बुधेने भासिते एतानि भंते धंम-पलियायानि इछामि
7. किंति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनेयु चा उपधालयेयू चा (।)
8. हेवंमेवा उपासका चा उपासिका चा (।) ऐतेनि भंते इमं लिखापयाअमि अभिपेतं मे जानंतू ति (।।)

संस्कृत छाया

प्रियदर्शी राजा मागधः सङ्घमभिवादनमाह अपावाधत्वं च पाशु विहारत्वं च। विदितं वो भदन्त यावदस्माकं बुद्धे धर्मे संघे इति गौरवं च प्रसादश्च। यत्किञ्चितद्भदत्ता भगवता बुद्धेन भाषितं सर्वे तत्सुभाषितं वा।

यत्तु खुलु भदन्ता मया दश्यत एवं सद्धर्मश्चिरस्थितिको भविष्यतीत्यर्हाम्यहं तद्वर्तयितुम्। इमे भदन्ता धर्मपर्यायाः—विनयसमुत्कर्षः आर्यवंशः अनागतभयानि मुनिगाथा मौनेयसूत्रमुपतिष्यप्रश्न एवं राहुलोवादो मषावादमधिकृत्य भगवता बुद्धेन भाषितः। एतान्भदन्ता धर्मपर्यायानिच्छामि। किमिति ? बहवो भिक्षुका भिक्षुक्यश्च अभीक्ष्णं शणुपुरवधारयेयुश्च। एवमेवोपासकाश्चोपासिकाश्च। एतेन भदन्ता इदं लेखयाभ्यभिप्रेतं मे जानन्त्विति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. प्रियदर्शी राजा ने मगध के संघ को अभिवादन कहा। उसके लिए वह बाधाओं का अन्त

---

1. एन० एस० मित्र के अनुसार : 'सिंगालोवाद सुत्तं' (दीघ निकाय), भण्डारकरः तबट्ठक सुत्त (सुत्तनिपात), अन्यः सप्पुिस सुत्त (मज्झिम निकाय)
2. भण्डारकरः 'महाअरियवंस' (अंगुत्तर-2), डेविसः 'अरियवास' (अंगुत्तर-3)
3. बरुआः अंगुत्तर-3 में है
4. बरुआः 'मुनिसुत्त' (सुत्तनिपात), अन्यः मुनिगाथा (दिव्यावदान)
5. भण्डारकरः 'नालक सुत्त' (सुत्त निपात), डेविसः 'मौनेय सुत्त' (इतिवत्तुक)
6. भण्डारकरः 'रथविनीत सुत्त' (मज्झिम निकाय), राजबली पाण्डेयः 'सारिपत्त सुत्त' (सुत्तनिपात)
7. सेनाः 'अम्बट्ठिक राहुलोवाद' (मज्झिम - 2), मज्झि में दो और हैं—'महाराहुलोवाद', 'चुलराहुलोवाद'

और सुख की स्थापना चाहता है।

2. भंते (सम्मान्यजन) ! आप लोगों को ज्ञात है कि कितना बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरा आदर और श्रद्धा है। भदन्त ! जो कुछ भी

3. भगवान बुद्ध ने कहा है वह सब सुभाषित है। भदन्त ! मैंने जो कुछ भी धर्म के बारे में देखा है तथा वह

4. जिस प्रकार चिरस्थायी होगा वह मैं कहता हूँ। भदन्त ! ये धर्म पर्याय हैं—विनय समुकस,

5. अलियवस, अनाअगतभय, मुनिगाथा, मौनेयसुत्त, उपतिसपसि और राहुलवाद में

6. मुसावाद के ऊपर जो भागवान बुद्ध द्वारा कहा गया है। भदन्त ! इन धर्म पर्यायों को चाहता हूँ

7. कि बहुत से भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन्हें निरन्तर सुने और इनको उपधारण करें।

8. इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी। भदन्त ! इसीलिए यह लिखवाता हूँ कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।

2. रूपनाथ लघु शिलालेख
(Rupnath Minor Rock Edict)

स्थान : रूपनाथ, जबलपुर, (म॰ प्र॰)

लिपि :
भाषा : } पूर्ववत्
काल :

विषय : अशोक का बौद्धानुयायी होना

संदर्भ : इण्डि॰ एण्टी॰ 6, प- 149; सी॰ आई॰ आई॰ 1, प॰ 166.

मूल-पाठ

1. देवानंपिये[1] हेवं आहा (।)[2] सातिरकेकानि अढतियानि व(सानि) य सुमि पाकास सके (।) नो चु बाढि पकते (।) सातिलेके चु छवछरे य समि हकं सघ उपेते
2. बाढि च पकते (।) या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा (।) पकमसि हि एस फले (।) नो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन
3. पि पकममिन नेना सकिये पिपुले पा स्वगे आरोधेवे (।) एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति अता पि च जानंतु इय पकरा व

1. मास्की में देवानंपियस असीकस; तथा गुजर्रा में देवानंपियस पियदसिनो चसोकराजस
2. Brahmargiri, Sioddapura and Jatinag-Ramesvara have सुवणगिरीते अयपुतस महामातानं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतिवया (at the beginning of the record. Isila was apparrently in the present siddapura area. Suvarnagiri, probabnly the headquarters of the southernmost province of Asoka's empire, may be modern Jonnargir (prononunced *Zonnagiri*) adjacent to Yerragudi in the Krnul District of Andhra.

4. किति चिर-ठितिके सिया (।) इय हि अठे वढि वढिसिति विपुल च वढिसिति अपलधियेना दियडिंसत (।) इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत (।) हध च अथि
5. साला-ठभे सिला-ठंभसि लाखापेतवय त (।) एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवाय ति (।) व्युठेना सावने कटे (।) 200 (+) 50 (+) 6 स-
6. त विवासा त (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः एवम् आह। सातिरेकाणि अर्द्धततीयानि वर्षाणि प्रकाशं उपासकः। न तु वाढं प्रक्रान्तः। सातिरेकं तु संवत्सरं यत् अस्मि अहं संघम् उपेतः वाढं च प्रक्रान्तः। ये अस्मै कालाय जम्बुद्वीपे अमिश्राः देवाः आसन ते इदानीं मिश्रा कृताः। प्रक्रमस्य हि एतत् फलम्। न च एतत् महता प्राप्तव्यं क्षुद्रकेन अपि प्रक्रममाणेन शक्यः। विपुलः स्वर्गः आराधयितुं। एतस्मै अर्थय च श्रावणं कृतम्। क्षुद्रकाः च उदाराः च प्रक्रमन्ताम् इति। अन्ताः अपि न जानन्तु 'अयं प्रक्रमः एव' किमिति चिरस्थितिकः स्यात। अयं हि अर्थः वद्धिं वर्द्धिष्यते विपुलं च वद्धिष्यते। अयं च अर्थः पर्वतेषु लेखयेत वारतः। इह च अस्ति शिलास्तम्भः। शिलास्तम्भे लेखयितव्यः इति। एतेन च व्यञ्जनेन यावत् युष्माकम् आहारः सर्वत्र विवासयितव्यः इति। व्युष्टेन श्रावणं कृतम् २०० ५०६ शतानि विवासाः इति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानां प्रियने कहा—ढाई वर्ष से कुछ अधिक व्यतीत हुए मैं प्रकाश रूप में उपासक था। किन्तु मैंने अधिक पराक्रम नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से अधिक व्यतीत हुए जबसे मैंने संघ की श्षरण ली है।

2. तब से मैं अधिक पराक्रम करता हूँ। इस समय जो जम्बुद्वीप में देवता मनुष्यों से अमिश्रित थे वे अब मिश्रित किये गये। यह पराक्रम का ही फल है। यह केवल उच्च पद वाले व्यक्ति से ही प्राप्त नहीं होता।

3. छोटे से भी पराक्रम द्वारा विपुल स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है। इस उद्देश्य के लिए धार्मिक कथा की व्यवस्था की गई जिससे क्षुद्र और उदार पराक्रम करें और मेरे सीमा के लोग भी जाने कि यही पराक्रम

4. स्थायी है। यह उद्देश्य अधिकाधिक बढ़ेगा, बहुत बढ़ेगा, कम-से-कम आधा बढ़ेगा। इसे अवसर के अनुकूल पर्वत पर उत्कीर्ण करावें और साम्राज्य में जहाँ भी

5. शिलास्तम्भ हों वहाँ लिखवावें। इस धर्म लिपि के उद्देश्य के अनुसार सर्वत्र एक अधिकारी भेजा जाय जहाँ तक अधिकार क्षेत्र हो। यह धर्मवार्ता (श्रावण) यात्रा के समय किया गया जब 200 506 (256)

6. रात्रि पड़ाव यात्रा का बीत चुका था।

3. ब्रह्मगिरि लघु शिलालेख
(Brahmagiri Minor Rock Edict)

स्थान : मैसूर के ब्रह्मगिरि नामक स्थान से प्राप्त

लिपि :
भाषा : } पूर्ववत्
काल :

विषय : पराक्रम फल की व्याख्या

संदर्भ : अशोक के अभिलेख, राजबली पाण्डे, प॰ 119

मूल पाठ

1. सुंवणगिरीते अययुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया । देवाणं पिये आणपयति [।]
2. अधिकानि अढ़ातियानि वसानि य हकं ··· सके [।] नो तु खो वाढं प्रकंते हुस एकं सवछरं [।] सातिरेके तु खो संवछरें
3. यं मया संघे उपयीते वाढं च मे पकंते [।] इमानि चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जंवुदीपसि
4. मिसा देवेहि [।] पकमस हि इयं फले [।] नो हीयं सक्ये महात्पेनेव पापोतवे कामं तु खो खुदकेन पि
5. पकमि ··· णेण विपुले स्वगे सक्ये आ[रा]धेतवे [।] एतायठाय यं सावणे सावापिते
6. ··· महात्पा च इमं पकमेयु ति अंता च मे जानेयु चिरठितीके च इयं
7. पक ···· [।] इयं च अठे वढ़िसिति विपुलं पि च वढ़िसिति अवरधिया दियढियं
8. वढिसिति [।] इयं च सावणे सावापिते व्यूथेन २०० ५०६ [।] से हेवं देवाणांपिये
9. आह [।] मातापितिसु सुसूसितविय हेमेव गुरुसु प्राणेसु द्रह्यितव्य सचं
10. वतवियं से इमे धंगुणा पवतितविया [।] हेमेव अंतेवासिना
11. आचरिये अपचायितविये आतिकेस, च कं य ···· रहं पवतितविये [।]
12. एसा पोराणा पकिति दीघावुसे च एस [।] हेवं एस कटविये [।]
13. चपडेन लिखिते किपिकरेण [।]

संस्कृत छाया

सुवर्णगिरितः आर्यपुत्रस्य महामात्राणां च वचनेन ऋषिले महामात्राः आरोग्यं वक्तव्याः। देवानां प्रियः आज्ञापयति। अधिकानि अर्द्धततीयानि वर्षाणि यत् अहं उपासकः। न तु खलुवाढ़ं प्रक्रान्तः

अधूवम् एकं संवत्सरम्। सातिरेकः* तु खलु संवत्सरः यत् मया संघः उपेतः। वाढं च मया प्रक्रान्तम्। अधुना तु काले अमिश्रा समानाः मनुष्याः जम्बुद्वीपे मिश्रा देवैः। प्रक्रमस्य इदं फलम्। नहि इदं शक्यं महात्मनैव प्राप्तम्। कामं तु खलु क्षुद्रकेण अपि प्रक्रममाणेन विपुलः स्वर्गः शक्यः आराधयितुम। एतस्मै अर्थाय इदं श्रावणं श्रावितम्। महात्मानः च इमं प्रक्रमेरन इति अन्ताः च मे जानन्तु चिरास्थितिकः च अयं ....। अयं च अर्थः वर्द्धिष्यति विपुलम् अपि च वर्द्धिष्यति आरब्ध्या द्वयर्द्धं वर्द्धिष्यति। इदं च श्रावणं श्रावितम् व्युष्टेन 200 50 6। तत् देवानां प्रियः आह। मातपित्रोः शुश्रूषितव्यम्। गुरुत्वं प्राणेषु द्रढायितव्यम्। सत्यं वक्तव्यम्। ते इमे धर्मगुणाः प्रवर्तयिव्याः। एवमेव अन्तेवासिना आचार्यः अपचेतव्यः। ज्ञातिकेषु च कुले यथार्हं प्रयर्त्तयितव्यम्। एषा पुराणी प्रकृतिः दीर्घायुषे च भवति। एतत एव कर्तव्यम्। लिखितं पठेन लिपिकरेण।

हिन्दी अर्थान्तर

1. सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महामात्रों की आज्ञा से इषिल के महामात्यों का आरोग्य पूछना चाहिए। देवानांप्रिय की विज्ञप्ति है—

2. ढाई वर्ष से अधिक व्यतीत हुए मैं उपासक था। परन्तु अधिक पराक्रम एक वर्ष तक मैंने नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से कुछ अधिक व्यतीत होने पर

3. जब मैं संघ की शरण में आया तब मैंने अधिक पराक्रम किया। इस काल में अमिश्र मनुष्य दवों से मिश्र हुए

4. पराक्रम का यह फल है। केवल बड़े लोग ही इसे प्राप्त नहीं कर सकते। स्वेच्छा से निश्चय करने पर छोटा व्यक्ति भी

5. विपुल पराक्रम से स्वर्ग प्राप्त कर सकता है। इसीलिए यह धर्म विषय (श्रावण) सुनाया गया

6. कि छोटे और बड़े सभी इसके लिए पराक्रम करें। सीमा के लोग भी इसे जाने और यह चिरस्थायी

7. पराक्रम हो। इससे उद्देश्य बढ़ेगा, प्रचुर रूप में बढ़ेगा और पहले की अपेक्षा डेढा बढ़ेगा

8. यह श्रावण 200 50 6 (256) में सुनाया गया। वहाँ देवानां पियने कहा—

9. माता-पिता की सुश्रूषा करनी चाहिए। प्राणियों के लिए दढ़ आदर भाव करना चाहिए। सत्य

10. बोलना चाहिए। इन धर्मगुणों का प्रवर्तन करना चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थियों द्वारा

11. आचार का आदर करना चाहिए। स्वजातियों और कुलों से उचित व्यवहार करना चाहिए।

12. यह पुरातन परम्परा है। इससे दीर्घायुता प्राप्त होती है। इसलिए इसका पालन होना चाहिए।

13. लिपिक पद द्वारा यह लेख तैयार किया गया।

(द) गुहालेख

1. बराबर के गुहालेख
(Barabar Cave Inscriptions)

स्थान : बराबर पहाड़ी, जिला : जहानाबाद (बिहार)

लिपि :
भाषा : } पूर्ववत्
काल :

विषय : गुहादान

संदर्भ : हुल्श, सी॰ आई॰ आई॰, I, p. 1, 81

प्रथम लेख

मूल-पाठ

1. लाजिना पियदसिना दुवाडस वसा [भिसितेना]
2. इयं निगोह-कुभा दिना आजीविकेहि (।।)

हिन्दी अर्थान्तर

1. बारह वर्ष अभिषिक्त होने पर राजा प्रियदर्शी द्वारा
2. यह नयग्रोध गुफा आजीवकों को दी गई।

द्वितीय लेख

1. लाजिना पियदसिना दुवा-
2. डस-वसाभिसितेना इयं
3. कुभा खलतिक-पवतसि[1]
4. दिना आजीवि केहि (।।)

हिन्दी अर्थान्तर

1. राजा प्रियदर्शी द्वारा
2. बारह वर्ष अभिषिक्त होने पर यह
3. गुफा खलतिक पर्वत में
4. आजीविकों को दी गई

तृतीय लेख

1. लाजा पियदसी एकुनवी-
2. सति-वसाभिसिते जलघो-
3. सागमें थातवे इयं कुभा
4. सुपिये (य) खळतिकपवतसि* दि-
5. ना (।।*)

---

1. खलतिक पर्वत = बराबर पहाड़ी (जिला जहानाबाद, बिहार)

हिन्दी अर्थान्तर

1. राजा प्रियदर्शी ने उन्नीस
2. वर्ष अभिषिक्त होने पर वर्षा काल
3. के उपयोग के लिए यह गुफा
4. सुन्दर खलतिक पर्वत पर दिया

(य) सप्त स्तम्भ लेख

(Seven Pillar Edicts)

1. देहली टोपरा स्तम्भ लेख

(Dehli Topra Pillar Edicts)

स्थान : पंजाब प्रान्त के अम्बाला जिले के टोपरा से प्राप्त (वर्तमान दिल्ली के फिरोजपुर कोटला में स्थित)

लिपि :
भाषा : } पूवर्वत्
काल :

संदर्भ : अशोक के अभिलेख, डा॰ राजबली पाण्डे; हुलूश, सी॰ आई॰ आई॰ भाग 1

1. प्रथम स्तम्भ लेख

(First Pillar Edict)

विषय : धर्म का लाभ बताना

मूल पाठ

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (।) सडवीसति-
2. वस-अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता (।)
3. हिदपाळते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धंमकामताया
4. अगाय पलीखाया अगाय सुसू साया अगेन भयेना
5. अगेन उसाहेना (।) एस चु खो मम अनुसथिया
6. धंमापेखा धंम-कामता चा सुवे सुवे वढिता वढीसति चेवा (।)
7. पुलिसा पि च मे उकसा चा गेवया चा मझिमा चा अनुविधीयंती
8. संपटिपादयंति चा अळ चपळं समादपयितवे (।) हेमेवा अंत-
9. महामाता पि (।) एस हि विधि या इयं धंमेन पालना धंमेन विधाने
10. धंमेन सुखियना धंमेन गोती ति (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवम् आह। षड्विंशति वर्षाभिषिक्तेन मया इयं धर्मलिपि लेखिता। इहत्य-पारत्र्यं दुःसम्प्रतिपाद्यम् अनयत्र अग्रयायाः धर्मकामतायाः अग्रयायाः परीक्षायाः अग्रयायाः

शुश्रूषायाः अग्रयात् भयात् अग्रयात् उत्साहात्। एषा तु खलु मम अनशिष्टेः, धर्मापेक्षा, धर्मकामता च श्वः श्वः वर्द्धिता वर्द्धिष्यति चैव। पुरुषा अपि च मे उत्कृष्टा च गम्याः च मध्यमाः च अनविदधति सम्प्रतिपादयन्ति च अलं चपलं समादातुम्। एवमेव अन्तमहामात्रापि। एषाहि विधिः या इयं धर्मेण पालना धर्मेण विधानं धर्मेण सुखीयनं धर्मेण गुप्तिः इति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानंप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—छब्बीस

2. वर्ष अभिषिक्त होने पर मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई।

3-5. बिना उच्चतम धमकामता, आत्मपरीक्षा, शुश्रूषा, धर्ममय तथा उत्साह के इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण दुष्कर है। किन्तु यह मेरा धर्मोपदेश,

6. धर्मापेक्षा और धर्मकामता निरन्तर बढ़ा है और बढ़ेगा

7. मेरे राजपुरुष जो उच्च तथा मध्यम है धर्मोपदेश का अनुसरण

8. तथा सम्पादन करते हैं। चतुर व्यक्ति द्वारा भी धर्मानुसरण कराने में वे समर्थ हैं। इसी प्रकार

9. अन्तमहामात्र भी। यही रीति है जिससे धर्म द्वारा प्रजापालन, धर्म द्वारा संविधान

10. धर्म द्वारा प्रजा को सुखी करने और धर्म से रक्षा करने की।

2. द्वितीय स्तम्भ अभिलेख
(Second Pillar Edict)

विषय : राजा के धर्म सम्बन्धी कार्य

मूल-पाठ

1. ......देवानंपिये पियददमि लाज

2. हेवं आहा (।) धंमे साधू (।) कियं चु धंमे ति (।) अपासिनवे बहु-कयाने

3. दया दाने सचे सोचये (।)[1] चखु-दाने पि मे बहुविधे दिंने (।) दुपद-

4. चतुपदेसु पखि-वाळिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान-

5. दाखिनाये (।) अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि (।) एताये मे

6. अठाये इयं धंम-लिपि लिखापिता हेवं अनुपटिपजंतु चिळ(ल)-

7. थितिका च होतू ती ति (।) ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कंछती ति(।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवं आह। धर्मः साधु। कियान तु धर्मः इति ? अल्पासिनवं,

---

1. अशोक ने स्तम्भ लेख सात में प्राणी हत्या करने का विरोध किया है। बौद्ध ग्रंथ दीघ निकाय के सिगालवाद सुत्त में भी इसकी चर्चा है तथा देखिए ब्राह्मण ग्रंथ याज्ञवल्क स्मृति I, 122 में अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनियहः। दानं दमो दया क्षान्ति७ सर्वेषां धर्मसाधनमा।। *Yajnavalkya,* I, एवं क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरण दया।। आर्जवं लोभशून्यत्वंन देवब्राह्मणपूजनम्। अन्भ्यसूया च तथा धर्मद्धः सामान्य उच्यते।। (विषणु) 2, 7-8.

बहुकल्याणं, दया, दानं, सत्यं शौचम्। चक्षुदानम् अपि मया बहुविधं दत्तम्। द्विपदचतुष्पदेषु पक्षिवारिचरेषु विविधः मया अनुग्रहः कृतः आ प्राणदाक्षिण्यात्। अन्यानि अपि च मया बहूनि कल्याणानि कृतानि। एतस्मै मया अर्थाय इयं धर्मलिपिः लेखिता—एवम् अनुप्रतिपद्यताम् चिरस्थितिका च भवतु इति। यः च एवं सम्प्रतिपेत्स्येते सः सुकृतं करिष्यति इति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने
2. ऐसा कहा—धर्म साधु है। धर्म क्या है ? अल्प पाप, बहुकल्याण
3. दया, दान, शौच। ज्ञान दष्टि भी मैंने विविध प्रकार का दिया। मनुष्य,
4. चौपाए, पक्षी और जलचरों पर मेरे द्वारा विविध प्रकार की कृपा की गई,
5. अभयदान भी दिया गया और अन्य भी बहुत से कल्याण किए गये। मैंने
6. इस उद्देश्य से यह धर्मलिपि लिखवाई कि लोग इसका अनुसरण करें
7. कि यह स्थायी हो। जो इसको इस प्रकार स्वीकार करेंगे वे सुकृत करेंगे।

3. तृतीय स्तम्भ लेख
(Third Pillar Edict)

विषय : कौन-कौन से पाप कर्म हैं ? ऐसा आत्मनिरीक्षण करना।

मूल-पाठ

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा (।) कयानंमेव देखति इयं मे
2. कयाने कटे ति (।) नो मिन[1] पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा आसिनवे
3. नामा ति (।) दुपटिवेखे चु खो एसा (।) हेवं चु खो एस देखिये (।) इमानि
4. आसिनव-गामीनि नाम अथ चंडिये निठूळिये कोधे माने इस्या
5. कालनेन व हकं मा पळिभसयिसं (।) एस वाढ देखिये (।) इयं मे
6. हिदतिकाये इयंमन मे पाळतिकाये (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवं आह। कल्याणं एवं पश्यति इदं मया कल्याणं कृतं इति। नो मनाक पापं कृतं इति इदं वा आसिनवं नाम इति। दुष्प्रत्यवेक्ष्यं तु खलु एतत्। एवं तु खलु एतत् पश्येत् इमानि आसिनवगामीनि नाम यथा चाण्ड्यं, नैठुर्य, क्रोधः, मानः, ईर्ष्या कारणेन एव अहं मा परिभ्रंशयिष्यामि। सतत् वाढं पश्येत् इदं मे एहिकाय इदं अन्यत् मे पारत्रिकाय।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—मनुष्य कल्याण ही देखता है। मैंने यह
2. कल्याण किया। वह थोड़ा भी पाप नहीं देखता कि यह पाप मैंने किया अथवा यह पाप है।

---

1. मेरट संस्करण में पाठ है : मिना

3. यह सचमुच कठिनाई से देखा जा सकता है पर इसे अवश्य देखना चाहिए कि ये
4. पाप की ओर ले जाते हैं—चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या
5. इनके कारण मैं अपने को भ्रष्ट कर दूँ। इसे गम्भीरता से देखना चाहिए कि ये
6. मेरे इस लोक के लाभ के लिए हैं तथा ये परलोक के कल्याण के लिए हैं।

4. चतुर्थ स्तम्भ लेख
(Fourth Pillar Edict)

विषय : रज्जुक के अधिकार और कर्तव्य पर विचार

मूल-पाट

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (।) सड़वीसति-वस-
2. अभिसितेन मे इयं धंम-लिपि लिखापिता (।) लजूका मे
3. बहूसु पान-सत-सहसेसु जनसि आयता (।) तेसं ये अभिहाले वा
4. दंडे वा अत-पतिये मे कटे (।) किंति लजूका अस्वथ अभीता
5. कंमानि पवतयेवू जनस जानपदसा हित-सुखं उपदहेवू
6. अनुगहिनेवु चा (।) सुखीयन-दुखीयनं जानिसंति धंमयुतेन[1] च
7. वियोवढिसंति जनं जानपदं (।) किंति हिदतं च पालतं च
8. आलाधयेवू ति (।) लजूका पि लघंति पटिचळितवे मं (।) पुखिसानि पि मे मं (।)
9. छंदनानि पटिचलिसंति (।) ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूका
10. चघंति अलाधयतवे (।) अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु
11. अस्वथे होति वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे
12. हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हित-सुखाये (।) येन एते अभीता
13. अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं
14. अभिहाले व दंडे वा अत-पतिये कटे (।) इछितविये हिऐसा (।) किंति
15. वियोहाल-समता च सिय दंड-समता चा (।)– अव इते पि च मे आवुति (।)
16. बंधन-बधानं मुनिसानं तीलित-दंडानं पत-वधानं तिंनि दिवसानि मे
17. योते दिंने (।) नातिका व कानि निझपयिसंति[2] जीविताये तानं
18. नासंतं[3] वा निझपयिता[4] दानं वाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति (।)
19. इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि[5] पालतं आलाधयेवू ति (।) जनस च
20. वढति विविधे धंम-चलने संयमे दान-सविभागे ति (।।)

---

1. माइकेलसन ने धंम-युत को एक अधिकारी वर्ग का बताया है।
2. सेनार्ट : इसका अभिप्राय है जिसमें दान देने का निर्देश है। व्यूलर : सम्बन्धियों के लिए दूसरे जन्म हेतु दान देना तथा उपवास रखना।
3. नासंत = नाशान्त = मृत्यु या नाश
4. कहीं-कहीं पाठ है : निझपयितवे
5. सेनार्ट : काल का अभिप्राय है कैद का काल, व्यूलर : बन्दी गृह में होने का काल, भण्डारकर : जीवन काल

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवम् आह। षड्विंशतिवर्षाभिषिक्तेन मया इयं धर्मलिपि लेखिता। रज्जुकाः मे बहुषु प्राणशतसहस्रेषु जनेषु आयताः। तेषां यः अभिहारः वा दण्डः वा आत्मप्रत्ययः मयाकृतः किमितिरज्जुकाः आश्वस्ताः अभीताः कर्माणि प्रवर्तयेयुः जनस्य जानपदस्य हितसुखं उपदध्युः अनुगह्णीयुः च सुखीयनं दुखीयनं ज्ञास्यन्ति धर्मषुतेन च व्यपदेक्ष्यन्ति जनं जानपदं किमिति—इहत्यं पारत्र्यं च आराधयेयुः इति। रज्जुकाः अपि च चेष्टन्ते परिचरितुं माम्। पुरुषा अपि मे छन्दनानि परिचरिष्यन्ति। ते अपि च कान् व्यपदेक्ष्यन्ति येन मां रज्जुकाः चेष्टन्ते आराधयितुम्। यथा हि प्रजां व्यक्तायै धात्र्यै निसज्य आश्वस्तः भवति—व्यक्ता धात्री चेष्टते मे प्रजायैः सुखं परिदातुम् इति एवं मम रज्जुकाः कृताः जानपदस्य हित सुखाय येन एते अभीताः आश्वस्ताः सन्तः अविमनसः कर्माणि प्रवर्तयेयुः इति। एतेन मया रज्जुकानाम् अभिहारः वा दण्डः वा आत्मप्रत्ययः कृतः। इच्छितव्या हि एषा किमिति–व्यवहार समता य स्यात् दण्डसमता च। यावत् इतः अपि च मे आज्ञाप्ति बन्धन-बद्धानां मनुष्याणां निर्णीत-दण्डानां प्रतिविधानं त्रीणि दिवसानि मया यौतकं दत्तम्। ज्ञातिका वा तान् निध्यापयिष्यन्ति जीविताय तेषां नाशन्तं वा निश्ध्यायत्तः दानं ददाति परात्रिकम् उपवासं वा करिष्यन्ति। इच्छाहि मे एवं निरुद्धे अपि काले पारत्र्यम् आराधयेयुः इति। जनस्य च वर्धेत विविधं धर्माचरणं संयमः दानस्य विभागः इति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—छब्बीस वर्षों से

2. अभिषिक्त होने पर मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई है। मेरे रज्जुक

3. कई लाख प्राणियों और लोगों के लिए नियुक्त हैं। उनका जो अभियोग लगाने का अधिकार अथवा

4. दण्ड का अधिकार है उसमें उन्हें मेरे द्वारा स्वतन्त्रता दी गई है क्योंकि रज्जुक आश्वस्त एवं निर्भय होकर

4. कार्य में प्रवत्त हों, जनता और जनपदों के हित एवं सुख पहुँचाने की व्यवस्था करें।

6. और उन पर कृपा करें। वे सुख और दुःख के कारणों को जानेंगे और अधिकारियों द्वारा

7. जनपद के लोगों को उपदेश करेंगे कि लोग इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए

8. प्रयत्न करें। रज्जुक भी मेरी सेवा के लिए चेष्टा करते हैं। मेरे राजपुरुष भी

9. मेरी इच्छाओं का पालन करेंगे। वे कुछ लोगों को उपदेश करेंगे जिससे रज्जुक मुझे

10. प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे। जिस प्रकार योग्य धाय के हाथ में सन्तान सौंप पर

11. माता-पिता निश्चिन्त होते हैं। योग्य धाय चेष्टा करती है मेरे सन्तान को सुख प्रदान करने के लिए।

12. इसी प्रकार जनपद के हित सुख के लिए रज्जुक नियुक्त हुए हैं जिनसे निर्भय

13. और आश्वस्त होते हुए प्रसन्नचित कर्मों में प्रवत्त हों। इसीलिए मेरे द्वारा रज्जुकों को

14. अभियोग लगाने एवं दण्ड देने के अधिकार में स्वायत्तता दी गई है। इसकी इच्छा करनी चाहिए।

15. उनमें व्यवहार समता और दण्ड समता होनी चाहिए। यह मेरी आज्ञा है।

16. कारावास में बंधे तथा मत्युदण्ड पाए हुए लोगों को मेरे द्वारा तीन दिनों की

17. छूट दी गई है। इसी बीच उनके स्वजन उनका जीवन बचाने के लिए राज्जुओं को इस पर पुनर्विचार के लिए आकृष्ट करेंगे।

18. अथवा उनके जीवन के अन्त तक ध्यान करते हुए दान देंगे पारलौकिक कल्याण के लिए अथवा उपवास करेंगे।

19. मेरी ऐसी इच्छा है कि कारावास में रहकर भी लोग परलोक का ध्यान करें कि

20. लोगों में धर्माचरण, संयम और दान वितरण बढ़े।

5. पाँचवाँ स्तम्भ लेख
(Fifth Pillar Edict)

विषय : अहिंसा का उपदेश

मूल-पाठ

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा (।) सडुवीसतिवसाभिमितेन मे इमानि पि जातानि अवध्यानि कटानि[1] (।) सेयथा
2. सुके सालिक अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे जतूक अंबा-कपीलिका दुली अनठिकमछे वेदवेयके
3. गंगा-पुपुटके संकुज-मछे कफट-सयके पंनससे सिमले संडके ओकपंडे पलसते सेत-कपोते
4. गाम-कपोते सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियती (।) अजकानानि एळका च सूकली च गभिनी व
5. पायमीना व अवध्य पोतके च कानि आसंमासिके (।) वधि-कुकुटे नो कटविये (।) तुसे सजीवे नो झापयितविये (।)
6. दावे अनठाये व विहिसाये वा नो झापयितविये (।) जीवेन जीवे नो पुसितविये (।) तीसु चातुंमासीसु तिस्यं पुंनमासियं
7. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये च अनु-पोसथं मछे अवध्ये नो पि विकेतविये (।) एतानि येवा
8. दिवसानि नाग-वनसि केवट-भोगसि यानि अंनानि पि जीव-निकायानि नो हंवियानि (।) अठमीपखाये चावुदसाये
9. पंनडसाये तिसाये पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो निलखितविये (।) अजके एडके सूकले
10. ए वापि अंने नीलखियति नो नीलखितविये (।) तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासि-पखाये अस्वसा गोनसा
11. ळखने नो कटविये (।) याव-सड़वीसति-वसाभिसितेन मे एताये अंतलिकाये पंनवीसति बंधन-मोखानि कटानि (।।)

---

1. ऐसा ही विवरण है अर्थशास्त्र II, 16 में

संस्कृत छाया

देवानांप्रियः प्रियदर्शीराजा एवं आह। षड्शिंतिवर्षाभिषिक्तेन मया इमानि जातानि अवध्यानि कृतानि तानि यथा शुकः सारिका, अरुणः, चक्रवाकः, हंसः, नन्दीमुखः, गेलाट, जातुकाः, अम्बाकपीलिका, दुडिः, अनास्थिकमत्स्यः, वेदवेयकः, गंगाकुकुटः, संकुजमत्स्यः, कमठः, शल्यः, पर्णशिशः, स्मरः, षडकः, आकपिण्डः, पषतः, श्वेतकपोतः, ग्रामकपोतः सर्वे चतुष्पदाः ये परिभोगं न यन्ति न च खाद्यन्ते। एडका शूकरी च गर्भिणी वा पयस्विनी वा अवध्या। पोतका अपि च आषाण्मासिकाः। वध्रि कुक्कुटः न कर्तव्यः। तुष सजीवः न दाहितव्यः। दावः अनर्थाय वा विहिंसायै वा नो दाहयितव्यः। जीवेन जीवः न पोषितव्यः। तिससु चातुर्मासीषु तिष्यायां पौर्णमास्यां त्रिषु दिवसेषु—चतुर्दशे, पञ्चदशे, प्रतिपदि च ध्रुवायाः अनुपवसथं मत्स्यः अवध्यः, नो अपिविकेतव्यः। एतान् एव दिवसान्, नागवने, कैवर्त-भोगे, ये अन्ये अपि जीव निकायाः नो हन्तव्याः। अष्टमी-पक्षे, चतुर्दश्यां, पंचदश्यां, तिष्यायां पुनर्वसौ तिसषु, चातुर्मासीषु सुदिवसे गौः न निर्लक्षयितव्याः। तिष्यायां, पुनर्वसौ, चातुर्मास्या, चातुर्मासीपक्षे च अश्वस्य गो; च दग्धशलाकया लक्षणं नो कर्तव्यंम्। यावत्-षडविंशति वर्षाभिषिक्तेन मया एतस्याम् अन्तरिकायां पंचविशतिः बन्धन मोक्षाः कृताः

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—छब्बीस वर्षों से
2. अभिषिक्त होने पर इन जीवधारियों को मैंने अवध्य घोषित किया। वे हैं—
3. शुक, सारिका लाल पक्षी, चकवा, हंस, नन्दीमुख (मैना का एक प्रकार), गेलाट
4. गीदड़, रानीचींटी, कछुई, अस्थिरहित (बिना कांटे की) मछली, वेद वेयक
5. गंगा-कुक्कुट, संकुजमत्स्य, कछुआ, साही, नपुंसक शश, वारहसिंगा,
6. साँड, गोधा, मग, सफेद कबूतर, ग्राम कपोत
7. और सभी प्रकार के चौपाए जो न उपयोग में आते हैं न खाए जाते हैं।
8. गर्भिणी अथवा दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़े, शकूरी अवध्य बताई गईं। इनके बच्चे भी
9. जो एक महीने के होते थे वे भी। कुक्कुट की बधिया नहीं करनी चाहिए। सजीव भूसी
10. नहीं जलानी चाहिए। व्यर्थ के लिए या हिंसा के लिए जंगल नहीं जलाना चाहिए।
11. जीव से जीव का पोषण नहीं करना चाहिए। तीनों चौसामों में तिष्य पूर्णमासी को
12. तीन दिन—चतुर्दशी, पूर्णिमा और प्रतिपदा, निश्चितरूप से
13. उपवास के दिन मछलियाँ नहीं मारनी चाहिए और न बेचनी चाहिए। इन दिनों
14. नागवनी, मछलियों के तालाब में जो भी दूसरे जीव हों
15. उन्हें नहीं मारना चाहिए। प्रत्येक पक्ष की पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, तिष्य
16. पुनर्वसु, तीन चातुर्मासों के शुक्ल-पक्ष में गौ को दागना नहीं चाहिए।
17. बकरा, भेड़, सूअर अथवा और जो पशु दागे जाते हैं उनको भी दागना नहीं चाहिए।
18. तिष्य, पुनर्वसु, प्रत्येक चतुर्मास की पूर्णिमा के दिन और प्रत्येक चतुर्मास के शुक्ल पक्ष में अश्व और गौ को
19. दागना नहीं चाहिए। छब्बीस वर्ष अभिषिक्त होने पर मैंने इस बीच
20. पच्चीस बार बन्धन-मोक्ष (बन्दियों की मुक्ति) किया।

6. छठा स्तम्भ लेख
(Sixth Pillar Edict)

विषय : राजा का जनता से मिलना तथा उसके हित सुख की कामना करना।

मूल-पाठ

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आह (।) टुवाडस-वसाभिमितेन में धंमलिपि लिखापिता लोकस हित-सुखाये (।) से तं अपहटा
2. तं तं धंम-वढि पापोव (।) हेवं लोकस हित-सुखे ति पटिवेखामि अथ इयं नातिसु हेवं पत्यासंनेसु हेवं अपकठेसु किंमी कानि
3. सुखं आवहामी ति तथा च विदहामि (।) हेमेव सव-र्निकायेसु पटिवेखामि (।) सव-पासंडा पि मे पूजिता विविधाय पूजाया (।) ए चु इयं
4. अतना पचूपगमने से मे मोख्य-मुते (।) सड़वीसति-वसाभिसितेन मे इयं धंम-लिपि ळिखापित (।।)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। द्वादशवर्षाभिषिक्तेन मया धर्मलिपिलेखिता लोकस्य हितसुखायः, तत्रदपहृत्य सा सा धर्मवद्धिः प्राप्ताया। एवं लोकस्य हितसुखे इति प्रत्यवेक्षे ययेदं ज्ञातियु एवं प्रत्यासन्नेषु एवमपकृष्टेषु किं केषां सुखमावहामीति तथा च विदधे। एवमेव सर्वनिकायेषु प्रत्येवेक्षे। सर्वपाषण्डा अपि मे पूजिता विविधया पूजया। यत्त्विदमात्मना प्रत्युपगमनं तन्मे मुख्यमतम्। षड्विंशतिवर्षाभिषिक्तेन मयेयं धर्मलिपिर्लेखिता।

हिन्दी अर्थान्तर

देवाताओं के प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा कि राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद जनता के हित तथा सुख के लिए धर्मलिपि लिखवायी गयी कि वे प्रत्येक तथ्य को ग्रहण करें तथा उससे विभिन्न पक्षों में धर्म का विकास कर सके। मैं देखना चाहता हूँ कि लोगों के हित और सुख को, ज्ञातियों के कल्याण को जो मेरे समीप तथा मुझसे दूर हैं मैं देखना चाहता हूँ कि किसकी कौन-सी भलाई की जा सकती है और उसी प्रकार मैं आचरण करता हूँ। सभी सम्प्रदायों का मैंने अनेक प्रकार से आदर किया है। किन्तु व्यक्तिगत रूप से लोगों से मिलने को मैं मुख्य कर्तव्य मानता हूँ। यह धर्म लिपि मैंने अपने अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में खुदवाया।

7. सातवाँ स्तम्भ लेख
(Seventh Pillar Edict)

विषय : धर्म का प्रसार; जनकाल्याणकारी कार्य; धर्ममहामात्रों और महामात्रों के कार्य में अन्तर।

मूल-पाठ

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (।) ये अतिकंतं
2. अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने
3. धमं-वढिया वढेया (।) नो यु जने अनुलुपाय धंम-वढिया

4. वढिथा (।) एवं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (।) एस मे
5. हुथा (।) अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने
6. अनुलुपाया धंम-वढिया वढेया ति (।) नो च जने अनुलुपाया
7. धंम-वढिया वढिथा (।) से किनसु जने अनुपटिपजेया (।)
8. किनसु जने अनुलुपाया धंम-वढिया वढेया ति (।) किनसु कानि
9. अभ्युंनामयेहं धंम-वढिया ति (।) एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं
10. आहा (।) एस मे हुथा (।) धंम-सावनानि सावापयामि धंमानुसथिनि
11. अनुसासामि (।) एतं जने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति
12. धंम-वढिया च बाढं वढिसति (।) एताये मे अठाये धंम-सावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आनपितानि [यथा] पुलिस पि बहुने जनसि आयता ए ते पलियोवदिसंति पि पविथलिसंति पि (।) लजूका पि बहुकेसु पान-सत-सहसेसु आयता (।) ते पि मे आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदथ
13. जनं धंम-युतं (।) देवानंपिये पियदसि हेवं आहा (।) एतमेव मे अनुवेखमाने धंम-थंभानि कटानि धंम-महामाता कटा धंम-सावने कटे (।) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (।) मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसु-मुनिसानं अंबा-वडिक्या लोपापिता (।) अढकोसिक्यानि पि मे उदुपानानि
14. खानापापितानि निंसिढया च कालपिता (।) आपानानि मे बहुकानि तत कालापितानि पटीभोगाये पसु-मुनिसानं (।) लहुके चु एस पटीभोगे नाम (।) विविधाया हि सुखायनाया पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोक (।) इमं चु धंमानुपटीपति अनुपटीपजंतु ति एतदथा मे
15. एस कटे (।) देवानंपिये पियदसि हेवं आहा (।) धंम-महामाता पि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटासे पवजीतानं चैव गिहिथानं च सव-पासंडेसु पि च वियापटासे (।) संघठसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे
16. इमे वियापटा होहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नाना-पासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटिविसिठं पटीविसिठं तेसु तेसु ते ते महा माता (।) धंम-महामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु (।) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (।)
17. एते च अंने च बहुका मुखा दान-विसगसि वियापटासे मम चेव देविनं च सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेन आका लेन तानि तानि तठायतनानि पटी[वेदयन्ति][1] हिद चेव दिसासु च (।) दालकानां पि च मे कटे अंनानं च देवि-कुमालानं इमे दान-विसगेसु वियापटा होहंति ति
18. धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये (।) एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे[2] च लोकस हेवं वढिसति ति (।) देवानंपिये [पियदसि] लाजा

1. व्यूलर का पाठ : पटीपादयंति, हुल्श के अनुसार : पटीवेदयंति
2. इसको डा० पाण्डेय ने भी माना है VI, 92 देखिए मनु०, स्तम्भ लेख द्वितीय की पंक्ति 2-3

हेवं आहा (।) यानि हि कानिचि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनूपटीपंने तं च अनुविधियंति (।) तेन वढिता च

19. वढिसंति च मातापितिसु सुसुसाया गुलुसु सुसुसाया वयो-महालकानं अनुपटीपतिया बाभन-समनेसु कपन-वलाकेसु आव दास-भटकेसु संपटीपतिया (।) देवानंपि[ये] [पिय] दसि लाजा हेवं आहा (।) मुनिसानं चु या इयं धंम-वढि वढिता दुवेहि येव आकालेहि धंम-नियमेन च निझतिया च (।)

20. तत चु लहु से धंम-नियमे निझतिया व भुये (।) धंम-नियमे चु खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि (।) अंनानि पि चु बहुका[नि] धंम-नियमानि यानि मे कटानि (।) निझतिया व चु भुये मुनिसानं धंम-वढि वढिता अविहिंसाये भूतानं

21. अनालंभाये पानानं (।) से एताये अ[थ]ाये इयं कटे पुता-पपोतिके चंदम-सुलियिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति (।*) हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदतपालते आलधे होति (।) सतविसति-वसाभिसितेन मे इयं धंम-लिपि लिखापापिता ति (।) एतं देवानंपिये आहा (।) इयं

22. धंम-लिपि अत अथि सिला-थंभानि वा सिला-फलकानि वा तत कटविया एन एस चिल-ठितिके सिया (।।)

संस्कृत छाया

देवानांप्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। यदतिक्रान्तमन्तरं राजानोऽभवन्तेवमैच्छन् कथं जनं धर्मवद्धिर्वर्धनीया। न तु जनेऽनुरूपया धर्मवद्धिर्वधिता। अत्र देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। एतन्ते भूतम्। अतिक्रान्तमनरमेवैमैच्छन् राजनः कथं जनेऽनुरूपा धर्मवद्धिर्वर्धनीयेति। न च जनेऽनुरूपा धर्मवद्धिर्वधिता। तत्केनस्वित् जनोऽनुप्रतिपद्यते केनस्वित् जनेऽनुरूपा धर्मवद्धिर्वर्धनीयेति। केनस्वित् केषामभ्युन्नमयेहं धर्मवद्धिमिति। अत्र देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजैवमाह। एतन्मे भूतम्। धर्मश्रावणानि श्रावयामि, धर्मानुशिष्टीरनुशास्मि। एतानि जन, श्रुत्वा अनुप्रतियत्स्यते, अभ्पुन्नस्यति धर्मवद्धिश्च वाढं वर्धिष्यते। एतस्मै मया अर्थाय धर्मश्रावणानि श्रावितानि धर्मानुशिष्टयो विविधा आज्ञापिताः। यथा मे पुरुषा अपि बहुषु जनेष्वायत्ताः, एते परितो वदिष्यन्त्यपि प्रविस्तारयिष्यन्तपि। रज्जुका अपि बहुषुप्राणशत सहस्रेष्वायत्तास्तेऽप्याज्ञाता। एवं च एवं च परितो वदत जनं धर्मयुतम्। देवानां प्रियः प्रियदर्शी एवमाह। एतदेव मयानुतीक्षमाणेन धर्मस्तम्भाः कृता धर्ममहामात्राः कृताः धर्मश्रादर्ण कृतम्। देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजैवमाह। मार्गेष्वपि मया न्यग्रोधा रोपिताश्छायोपगा भविष्यन्ति पशुमानुषाणाम् आम्रावाटिकारोपिताः। अर्धक्रोशकान्यपि मे उदपानानि खानितानि। निशागहाणि च कारितानि। आपानानि मया बहुकपानि तत्र तत्र कारितानि प्रतिभोगाय पशुमनुषाणाम्। लघुस्त स प्रतिभोगो नाम। विवधैर्हि सुखैः पूवैरपि राजभिर्मया च सुखितो लोकः। इमां तु धर्मानुप्रतिपत्तिमनुप्रतिपद्यतामिति एतदर्थ मयैत्कृतम्। देवानां प्रियः प्रियदर्शी एवमाह। धर्ममहामात्रा अपि मयैते बहुविधेष्व अर्थेष्व अनुग्रहिकेषु व्यापताः। ते प्रव्रजितेषु चैव गहस्थेषु च सर्व पाषण्डेष्वपि च व्यापताः। संघार्थेऽपि गे कृते इमे व्यापता भवन्तीति। एवमेव ब्रह्मणेष्वाजीविकेष्वपि मे कृते इमे व्यापता भवन्ति। निर्ग्रन्थेष्वपि मे कृते इमे व्यापता भवन्ति। नाना पाषण्डेष्वपि मे कृते इमे व्यापता भवन्तीति। प्रतिविसष्टाः प्रति विसष्टास्तेषु तेषु ते धर्म-महामात्रास्तु मयैतेषु चैव व्यापताः सर्वेषु चान्येषु पाण्डेषु। देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजैवमाह एते चान्ये च बहवो मुख्या दानविसर्गे व्यापतास्ते मम चैव देवीनां च सर्वस्मिश्च ममावरोधने ते बहुविधिनाकारेण

तानि तानि तुष्ट्यतानानि प्रतिपादयन्ति इह चैव दिशासु च। दारकाणामपि च मया कृता अन्येषां च देवीकुमाराणामिमे दानविसर्गेषु व्यापता भवन्तीति धर्मापदानार्थाय धर्मानुप्रतिपत्तये। एतद्धि धर्मापदानं धर्मप्रतिपत्तिश्च यदिदं दया दानं सत्यं शौचं मोद साधुता च लोकस्यैवं वधिष्यते इति। देवानाम् प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह। यानि हि कानि चिन्मया साधूनि कृतानि तानि लोकः अनुप्रतिपन्नस्तानि चानुविदधाति। तेन वर्धिता च वर्धिष्यिते च मातापित्रोः शुश्रूषा गुरुषु शुश्रूषा वयोमहतामनुप्रतिपत्ति ब्राह्मण श्रमणेषु कृपण वराकेषु यावद्दसभतकेषु संप्रतिपत्तिः। देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजैवमाह। मनुष्याणां तु येयं धर्मवद्धिवर्धिता द्वाभ्यामेवाकराभ्यां धर्मनियमेन च निध्यात्या च। तत्र च लघुः स धर्मनियमो निध्यातिर्भूयसी। धर्मनियमस्तु खल्वेष यो मयायं कृत इमानि चेमानि जातान्यवध्यानि अन्येऽपि तु बहवोः धर्मनियमा मे मया कृता। निध्यात्यैव तु भूयो मनुष्याणां धर्मवद्धिर्वधिता अविहिंसायै भूतानामनालम्भाय प्राणानाम्। तदेतस्मायर्थायेदं कृतं पुत्र प्रपौत्रिकं चन्द्रमः सूर्यकं भवत्विति तथा चानुपद्यन्तामिति। एवं हि अनुप्रतिपद्यमानानामैहत्यं च पारत्र्यं चाराद्धं भवति। सप्तविंशतिवर्षाभिषिक्तेन मयेयं धर्मलिपिर्लेखितेति। एतद्वेवानां प्रिय आह। इयं धर्मलिपिर्यत्र सन्ति शिलास्तम्भा वा शिलाफलकानि वा तत्र कर्तव्या येनैषा चिरस्थितिका स्यात्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। पुराने समय में जो
2. राजा हुए उन्होंने इच्छा की कि किस प्रकार लोगों में
3. धर्मवद्धि बढ़े किन्तु धर्मवद्धि अनुरूप
4. न हुई। इस पर देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा। ऐसा मुझे
5. लगा विगत काल में इस प्रकार राजाओं ने इच्छा की कि किस रीति से लोगों में
6. अनुरूप धर्मवद्धि हो किन्तु लोगों में अनुरूप
7. धर्म की वद्धि न हुई। तो किस विधि से लोग धर्म का अनुसरण करें ?
8. किस प्रकार लोगों में धर्मवद्धि अनुरूप बढ़े ? किस प्रकार और किसकी
9. धर्म की बाढ़ से उन्नति कराऊँ ? इस पर देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा
10. कहा। ऐसा मुझे लगा कि लोगों को धर्म श्रावण सुनवाऊँ और धर्मानुशासन देने का
11. आदेश दूँ कि लोग इसे सुनकर अनुसरण कर सके और अपनी उन्नति कर सके।

12. और इससे धर्मवद्धि द्वारा वे अत्यधिक बढ़ेंगे। इस प्रयोजन से मेरे द्वारा धर्मश्रावण सुनाये गए और विविध धर्मानुशासनों को आज्ञापित किया गया जिससे मेरे पुरुष भी जो बहुत से लोगों पर नियुक्त हैं चारों ओर धर्म को स्पष्ट करेंगे और फैलावेंगे। राजुक भी जो कई लाख प्राणियों पर नियुक्त हैं वे भी मेरे द्वारा आज्ञापित हैं कि इस-इस प्रकार

13. उपदेश दें। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा। इसी को देखकर मेरे द्वारा धर्मस्तम्भ स्थापित किए गए, धर्ममहामात्र की नियुक्ति की गई, धर्मश्रावण किया गया। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। मार्गों में मेरे द्वारा न्यग्रोध लगाए गए, पशुओं तथा मनुष्यों के छाया के लिए आम्रवाटिकायें लगवाई गई हैं। आधे-आधे कोस पर कुएँ भी

14. खुदवाए गए, विश्राम गह स्थापित किए गए। पशुओं तथा मनुष्यों के उपयोग के लिए यहाँ वहाँ बहुत से प्याऊ मेरे द्वारा बनवाए गए किन्तु यह आनन्द अत्यन्त निम्न प्रकार का है। लोग पूर्व

राजाओं द्वारा तथा मेरे द्वारा विभिन्न प्रकार के सुख से सुखी बनाए गए हैं। लोग इस धर्माचरण का अनुसरण श्रद्धा और भक्ति से करें। मेरे द्वारा

15. ये सब किए गए। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। मेरे द्वारा धर्म महामात्र की नियुक्ति बहुविध लोक-कल्याणकारी कार्यों के लिए की गयी है। वे प्रव्रजित गहस्थों और सभी धार्मिक सम्प्रदायों में नियुक्त हैं। ये संघ के कार्यों के देखरेख के लिए मेरे द्वारा नियुक्त हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों तथा आजीविकों में

16. निर्ग्रन्थों में मेरे द्वारा ये व्याप्त हैं, अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में भी मेरे द्वारा ये व्याप्त हैं। विविध श्रैणियों तथा बहुत से कार्यों के लिए अनेक महामात्र हैं किन्तु धर्ममहामात्र इनमें तथा अन्य सब सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा

17. ये तथा अन्य बहुत से मुख्य कर्मचारी मेरे तथा देवियों के दान के विषय में नियुक्त हैं। सभी मेरे अन्तःपुर में रहने वाले विभिन्न प्रकार के दान के अवसर का उपयोग करते हैं यहाँ (पाटलिपुत्र में) और अन्य दिशाओं में (राज्य के भाग में)। राजकुमारों के सम्बन्ध में भी तथा अन्य देवी कुमारों के दान-वितरण में ये नियुक्त हैं

18. धर्म के सत्कार्य के लिए और धर्म के प्रतिपादन के लिए। यह धर्मावदान और धर्मप्रतिपत्ति को उत्पन्न करता है, जो लोगों में दया, दान, सत्य, शुचि, मार्दव और साधुता के कारण बढ़ता है। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा जो कुछ मेरे द्वारा साधुकार्य किया गया है उनका लोगों द्वारा आचरण किया गया है और अनुसरण किया गया है। उससे लोगों में बढ़ा है

19. और बढ़ेगा—माता-पिता की सुश्रूषा, गुरु-सुश्रूषा, वयोवद्धों, ब्राह्मणों, श्रमणों, कृपणों, निर्धनों, दासभतकों के प्रति उचित व्यवहार। देवताओं के प्रति प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा कि मनुष्यों में जो यह धर्मवद्धि हुई है वह दो कारणों से हुई है—धर्म नियमन और धर्म में ध्यान से।

20. उसमें धर्म नियमन लघु महत्त्व का है जबकि गम्भीर ध्यान ही विशेष महत्त्व का है। धर्म नियम जो मेरे द्वारा इस प्रकार आज्ञाप्त किया गया यह है—ये जीव अवध्य हैं। अन्य भी बहुत से धर्म नियमन हैं जो मैंने बनवाये हैं। किन्तु ध्यान द्वारा ही मनुष्यों में अधिक धर्मवद्धि हुई है जिसमें—जीवों की अविहिंसा,

21. प्राणियों का अवध। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि उत्कीर्ण की गई है कि पौत्र प्रपौत्र के शासनकाल तक और सूर्य चन्द्र की स्थिति तक यह रहने वाली हो और लोग इसका अनुसरण करें। इस प्रकार इसके अनुसरण करने से ऐहिक और पारलौकिक कल्याण प्राप्त होता है। 27 वर्ष अभिषेक के बाद मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई। इस पर देवताओं के प्रिय ने कहा

22. जहाँ शिलास्तम्भ या शिला-फलक हैं उनपर यह धर्मलिपि उत्कीर्ण की जानी चाहिए जिससे यह चिरस्थायी हो सके।

(र) लघु स्तम्भलेख

1. रुम्मिनदेई का लघु स्तम्भ लेख

(Minor Pillar Edict of Rummindei)

स्थान : परिया के निकट रुम्मिनदेई मन्दिर, नैपाल तराई (नौतनवारेलवे स्टेशन के पास)

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : राज्य का 20वाँ वर्ष लगभग 249 ई॰ पूर्व

विषय : अशोक द्वारा बुद्ध के जन्मस्थान की यात्रा के स्मारक में स्तम्भ स्थापन तथा वहाँ के कर का $^1/_6$ भाग मुक्त करना

मूल-पाठ

1. देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसति-वसाभिसितेन
2. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति (।)
3. सिला-विगड-भीचा[1] कालापित सिला-थमे च उसपापिते (।)
4. हिद भगवं[2] जाते ति लुंमिनि-गामे उबलिके कटे
5. अठ-भागिये च (॥)

संस्कृत छाया

देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा विंशतिवर्षाभिषिक्तेन आत्मनागत्य महीयितमिह बुद्धो जातः शाक्यमुनिरिति। शिला-विकृतभित्तिश्च कारिता शिला स्तम्भश्चोत्थापित इह भगवज्जात इति लुम्बिनी ग्रामः उद्वलिकः कृतोऽष्टभागी ची।

हिन्दी अर्थान्तर

1. राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा
2. यहाँ स्वयं आकर पूजा की गई क्योंकि यहीं बुद्ध शाक्यमुनि जन्म लिए थे।
3. यहाँ पत्थर की दढ़ दीवार बनवाई गई और शिला-स्तम्भ खड़ा किया गया
4. क्योंकि यहाँ भगवान बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अतएव लुम्बिनी ग्राम को करमुक्त किया गया
5. और अष्टभागो बनाया गया।

2. सारनाथ का लघु स्तम्भ लेख
(Saranath Minor Pillar Edict)

स्थान : सारनाथ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

भाषा : } पूर्ववत्
लिपि : }

विषय : भिक्षु और भिक्षुणियों को आदेश, संघ की रक्षा

मूल-पाठ

1. देवा[नंपिये]

---

1. कारपेण्टर तथा हुल्श का पाठ : सिला विगडभी चा = ('एक अश्व धारण करने वाला प्रस्तर') पर हुल्श का पाठ उचित नहीं लगता।
2. भगवा = भगवान जिसमें ईश्वरीय गुण, धर्म, यश, श्री आदि हो।

2. ए ळ
3. पाट[लि पु त] · [न स कि]ये केन पि संघे भेतवे (।) ए चुं खो
4. भिखू वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि सनंधापयि या आनावाससि
5. आवासयिये (।) हेवं इयं सासने भिखु-संघसि च भिखुनि-संघसि च विनपयितविये (।)
6. हेवं देवानंपिये आहा (।) हेदिसा च इका लिपी तुफाकंतिकं हुवा ति संल्लनसि निखिता (।)
7. इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ (।) ते पि च उपासका अनु-पोसथं यावु
8. एतमेव सासनं विस्वंसयितवे (।) अनु-पोसथं च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये
9. याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च (।) आवते च तुफाकं आहाले
10. सवत विवासयाथ तुफे एतेन वियंजनेन (।) हेमेव सवेसु कोट-विषवेसु एतेन
11. वियंजनेन विवासापायाथा (।।)[1]

संस्कृत छाया

देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा आज्ञापयति (पाटलिपुत्रे महामात्राः ते मया संघः समग्रः कृतः) पाटलिपुत्रे तथाऽन्यत्र वा न येन केनापि संघो भक्तव्यः। यः तु खलु भिक्षुः वा भिक्षुणी वा संघं भनक्ति सः अवदाताणि दूष्याणि संनिधाप्याऽनावासमावासयितव्यः। एवं इदं शासनं भिक्षु संघे च भिक्षुणी संघे च विज्ञापयितव्यम्। एवं देवानां प्रिय आह। ईदशी चैका लिपिः युष्मदन्तिके भवत्विति संसरणे निक्षिप्ता एका च लिपिं इदशीमेव उपासकान्तिके निक्षिप्तः। तेऽपि च। उपासका अनुपोषधं यान्तु एतदेव शासनं विश्वासयितुम अनुपोषधं च ध्रुवायामेको महामात्रः पोषधाय याति एतदेव शासनं विश्वासयितुम आज्ञापयितु च। यावच्च युष्माकं आहारः सर्वत्र विवासयत यूयं एतेन व्यञ्जनेन एवमेव सर्वेषु कोष्ठविषयेष्वेतेन व्यञ्जनेन विवासयत।

हिन्दी अर्थान्तर

1. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा देते हैं

2. जो पाटलिपुत्र के महामात्र हैं उनके द्वारा संघ को संगठित किया गया है।

3. पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में ऐसा करना चाहिए जिससे किसी के द्वारा संघ भेद न हो सके। जो भी कोई

4. भिक्षु या भिक्षुणी संघ में भेद उत्पन्न करेगा उसे श्वेत वस्त्र धारण कराकर एकान्त स्थान में

5. रखा जाएगा। यह आज्ञा भिक्षु संघ तथा भिक्षुणी संघ को बतला देना चाहिए।

6. इस प्रकार देवताओं के प्रिय ने कहा। इस प्रकार का एक लेख आप लोगों के समीप इकट्ठा होने के स्थान पर होना चाहिए।

7. और इसी प्रकार का एक लेख उपासकों (गहस्थों) के पास रखें। वे उपासक भी प्रत्येक उपवास के दिन आवें।

8. इस शासन में विश्वास करें। उपवास के दिन निश्चय ही प्रत्येक महामात्र उपवास के लिए

---

1. यह ज्ञापन पाटलिपुत्र के महाभात्र को प्रमुख रुप से सम्बोधित है। पर इसका उपदेश भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिकाओं, अधिकारियों तथा जनता को भी दिया गया है। यदि यह कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित होता तो पाटलिपुत्र की संगीति का उल्लेख इसमें अवश्य हुआ होता।

9. आयेगा। इस आज्ञापन में विश्वास करने और इसे अच्छी तरह जानने के लिए और जितना आप लोगों का आहार-कार्य क्षेत्र है

10. सर्वत्र राजपुरुषों को भेजिए इस शासन का अक्षरानुसार पालन करने के लिए। इसी प्रकार सभी कोटों तथा विषयों में इस शासन के

11. अक्षरानुसार अधिकारियों को भेजिये।

(ल) अशोक के अभिलेखों पर आधारित इतिहास

अशोक के अभिलेखों के उत्कीर्ण होने से पूर्व हड़प्पा से प्राप्त मुहरों पर कुछ लेख अंकित हैं जिन्हें अभी तक प्रामाणिक रूप से पढ़ा नहीं जा सका है। इसके बाद मौर्यकाल से अभिलेखों का सिलसिला प्रारम्भ होता है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान अशोक के अभिलेखों का है जो उसके सम्बन्ध में परिचय देने के एक मात्र प्रामाणिक स्रोत हैं। ये उसके व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक जीवन के विविध क्षेत्रों पर प्रामाणिक व व्यापक प्रकाश डालते हैं। अभिलेखों का इतना अधिक महत्त्व किसी दूसरे राजा के संबंध में नहीं है क्योंकि उनके अभिलेखों में न तो उतनी व्याप्तता है और न उतना स्पष्टीकरण कि उनसे विभिन्न पहलुओं यथा विदेशी और आन्तरिक नीति, धार्मिक धारणा, शासन सुधार, अधिकारियों के कार्य, न्याय व्यवस्था, आर्थिक अवस्था, राजत्व के सिद्धान्त आदि। ये अभिलेख विविध प्रकार के आधारों पर अंकित किए गए हैं।

उत्कीर्ण प्रस्तर प्रकार

अशोक के सप्तम स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने अभिलेखों को दो प्रकार के प्रस्तरों पर उत्कीर्ण कराने का आदेश दिया—**'इयं धमंलिपि अत अथि सिलाथमानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एनं एसचिलठिति के सिया'** अर्थात् यह धम्म-लिपि जहाँ कहीं भी शिलास्तम्भ या शिलाफलक हो वहाँ अंकित कराना चाहिए, जिससे यह चिरस्थायी हो सके। यहाँ स्तम्भों और शिला फलकों पर अंकित कराने का निर्देश है। पर रूपनाथ में एक और प्रकार का उल्लेख किया गया है—'इयं च अठे पवतिसु लेखायेत वालत। हिध च अथि सिलाठम्भे सिलाठम्मसि लिखापेतवयति' अर्थात् इसलिए शिलाओं पर यह बार-बार अंकित किया गया है। यहाँ एक प्रस्तर स्तम्भ है। इस शिला पर इसे अंकित करना चाहिए। इसमें दो प्रकार की सामग्रियों का उल्लेख है—शिला और शिलास्तम्भ। इससे स्पष्ट है कि अशोक ने अपना अभिलेख शिलास्तम्भों, शिलापट्टों और शिलाफलकों पर अंकित कराया।

धम्मलिपि

अशोक के अभिलेखों को धम्मलिपि या धम्मानुशासन—**धर्मलिपि, धर्मानुसाशन, धर्मशासन** कहा है। अशोक ने भी इन्हें धम्मलिपि नाम दिया है—**इयं धम्मलिपि**। अतः (सप्त स्तम्भ लेख)। प्रथम शिलालेख ही प्रारंभ होता है—'इयं धम्मलिपि देवानां पियेना पियदसिना लेखिता' से। इसलिए इन्हें 'धम्म लिपि' नाम से सम्बोधित किया जाता है। पर अशोक ने इन्हें **धम्मलिपि क्यों कहा ?** इसका कारण है कि अशोक के अधिकांश अभिलेखों में धम्म सम्बन्धी व्याख्या प्रमुख हैं और अन्य विवरण गौण। यहाँ धम्म से अभिप्राय समाज के नैतिक धर्म से है।

दूसरे शायद ही उसका कोई ऐसा भी अभिलेख हो, जिसमें उसने धम्म शब्द का प्रयोग न किया हो। इसीलिए प्रायः 'धम्म दान', 'धम्म-समविभाग', 'धम्मघोष', 'धम्मयात्रा', 'धम्ममहामात्र', 'धम्मभेरी' 'धम्ममंगल' आदि का उल्लेख इनमें प्रायः मिलता है।

विशेषताएँ

ये अभिलेख भारत के लगभग सम्पूर्ण भागों में प्राप्त होते हैं। इनमें सर्वत्र एक ही प्रकार की शैली का प्रयोग किया गया है। एक ही अनुशासन की प्रतियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण है जिनमें पाठ भेद के कारण किंचित अन्तर दीखता है। ये प्राकृत (पालि) भाषा में लिखे गये हैं क्योंकि उस समय प्राकृत (पालि) भाषा ही जन भाषा थी। अशोक के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर उत्कीर्ण शहबाजगढ़ी और मानशेहरा तथा कांधार और बलूचिस्तान के अभिलेखों को छोड़कर भारतीय सीमा में प्राप्त होने वाले अन्य अभिलेख अशोककालीन ब्राह्मी लिपि में लिखे गए हैं। शहबाजगढ़ी और मानशेहरा के अभिलेखों की लिपि खरोष्ठी है। ये दोनों ही—ब्राह्मी और खरोष्ठी, भारतीय लिपियाँ हैं। पर तक्षशिला तथा पुलेदारुन्त (लमगान) से प्राप्त अभिलेख अरेमाइक लिपि में है जबकि कान्धार के शार-ए-कुना से प्राप्त लेख द्विभाषी यूनानी और अरेमाइक दोनों लिपियों में साथ-साथ लिखे गए हैं। सभी अभिलेख अशोक के व्यक्तिगत वचनों को ही प्रतिध्वनित करते हैं। सम्भवतः इसी से किसी भी दूसरे व्यक्ति ने इसमें परिवर्तन, संशोधन आदि करने का साहस नहीं किया। इसकी शैली इतनी बलवती है जैसे प्रतीत होता है कि अशोक स्वयं यह आदेश आज भी हमारे सम्मुख दे रहा है। इसके लिखने की एक विशिष्ट शैली है। प्रत्येक अनुशासन का प्रारम्ब राजा को तृतीय (अन्य) पुरुष में सम्बोधित कर ऊँचे विशेषणों को उसके नाम के पहले रखकर किया गया है। पर बीच में राजा के लिए प्रथम (उत्तम) पुरुष का प्रयोग हुआ है। प्रायः अभिलेखों में प्रारम्भ में — **'देवानंपिय पियदसि लाजा हेवं अहा'** लिखा गया है। ये अभिलेख शिलाखण्डों, शिलाफलक और शिलास्तम्भों पर अंकित है। अशोक का यह व्यक्तिगत विचार था कि उसके अभिलेख तब तक रहें, जब तक सूर्य और चन्द्र बने रहें तथा चिरकाल तक जनता से इसे पढ़कर इनके उपदेशों का पालन करती रहे। इन अभिलेखों के विविध प्रकारों की स्थिति एक विशिष्ट क्रम में ज्ञात होती है। अशोक के चतुर्दश शिलालेख विशेष रूप से राजा के नैतिक सिद्धान्तों तथा उसकी प्रशासकीय नीति को प्रकट करते हैं। ये सामान्यतया उसके साम्राज्य सीमा-प्रदेशों पर स्थित चौदह लेख एक क्रम में एक ही शिला पर अंकित है। अशोक ने स्तम्भों पर एक क्रम में जो लेख उत्कीर्ण कराया वह विशेष रूप से उसके नैतिक सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करते हैं तथा साम्राज्य के भीतर प्रमुख नगरों में स्थापित किए गये थे। इन्हें सप्त स्तम्भ लेख कहते हैं क्योंकि इनमें एक स्तम्भ पर सात लेख क्रमशः खुदे हैं। कहीं-कहीं शिलाओं तथा स्तम्भों पर लघु लेख भी खुदे हैं। इसके अतिरिक्त शिलाफलकों पर उसने दान-सम्बन्धी लेख उत्कीर्ण कराया है जो बराबर व नागार्जुन पहाड़ी की गुफाओं में मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इनको निर्मित कराकर उसने आजीवकों को दान दिया था। ये अभिलेख किसी भी तिथि क्रम का उल्लेख नहीं करते जिस विशिष्ट तिथि के गणना-क्रम में लिखे गये हों जैसा कि गुप्त अभिलेखों में प्रायः गुप्त संवत् का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं अशोक के राज्याभिषेक से शासन वर्षों की गणना इनमें की गई है। इस प्रकार अशोक के अभिलेख जहाँ भारतीय इतिहास में अभिलेखों की परम्परा का श्रीगणेश करते हैं, वहीं उसके अध्ययन का पुष्ट साधन भी देते हैं। कहा जाता है कि उत्तर-पश्चिमी सीमा के निकट, पर्शिया के राजा डेरियस प्रथम के मिले अभिलेखों के आधार पर ही अशोक ने अपने अभिलेख अंकित कराने की परम्परा प्रारम्भ कराई जो सामान्यतया स्वीकार्य नहीं है।

अभिलेखों का क्रम

ऊपर हमने देखा कि अशोक ने चतुर्दश शिलालेख, लघु शिलालेख, सप्त स्तम्भलेख, लघु स्तम्भलेख, फलक लेख और गुहालेख खुदवाया था। इनमें तिथि उल्लेख के अभाव के कारण यह बड़ी जटिल

समस्या है कि किस प्रकार के अभिलेख को उसने कब उत्कीर्ण कराया अर्थात् उसके अभिलेखों के उत्कीर्ण का क्रम क्या था ?

डॉ॰ मुकर्जी के अनुसार अशोक ने सबसे पहले अपने चतुर्दश शिलालेखों को उत्कीर्ण कराया क्योंकि तीसरा शिलालेख उसके राजत्व काल के बारहवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। चौथे शिलालेख के भी इसी समय उत्कीर्ण कराये जाने के उल्लेख की सूचना देता है। पाँचवाँ शिलालेख राजत्व काल के तेरहवें वर्ष में उत्कीर्ण कराना सूचित करता है। जबकि छठें स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि यह उसके राजत्वकाल के छब्बीसवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। इसी में यह भी लिखा है कि अशोक ने अपने राजत्वकाल के बारहवें वर्ष से ही अभिलेखों को लिखवाना प्रारम्भ कराया था। इस आधार पर डॉ॰ मुकर्जी का यह निष्कर्ष है कि अशोक के राजत्वकाल के 12वें-13वें वर्ष में चूँकि चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण कराए गये थे। इसलिए सबसे पहले अर्थात् 257 ई॰ पू॰ में शिलालेख लिखे गये होंगे।

शिला-लेख स्तम्भ-लेखों की अपेक्षा पहले उत्कीर्ण कराए गये। पर यह निर्विवाद है कि इनमें सबसे पहले लघु शिलालेख उत्कीर्ण कराए गये क्योंकि रूपनाथ और सहसराम के लघु शिलालेखों में अंकित है कि अभिलेख पत्थर और स्तम्भों पर उत्कीर्ण होने चाहिए। पुनः इस सम्बन्ध का दूसरा तर्क यह है कि भाबरू का अभिलेख संघ को सीधे सम्बोधित करता है जबकि पाँचवाँ शिलालेख महामात्रों को सम्बोधित करता है।

लघु शिलालेखों के बाद कलिंग के दो अलग अभिलेख उत्कीर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि कलिंग के अभिलेखों में जहाँ यह सम्भावना की गई है कि 'धर्म-महामात्रों' की नियुक्ति होगी, वहीं चतुर्दश शिलालेखों में इनके नियुक्ति और कार्य का विवरण मिलता है।

इसके बाद क्रमशः चतुर्दश शिला-लेख और सप्त स्तम्ब लेख उत्कीर्ण कराए गए। इनमें भी डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार सप्त स्तम्भलेखों के पहले ही बराबर के तीन गुहालेख, दो तराई स्तम्भलेख उत्कीर्ण कराये गये थे। इनके बाद ही दो गौण स्तम्भलेखों का क्रम आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रमशः अशोक के अभिलेखों को निम्न काल-क्रम में रखा जा सकता है—

(1) लघु शिलालेख
(2) चतुर्दश शिलालेख (लगभग 256 ई॰ पू॰)
(3) कलिंग लेख (256 ई॰ पू॰ के लगभग)
(4) बराबर के तीन गुहालेख (लगभग 257-250 ई॰ पू॰)
(5) दो तराई स्तम्भ लेख (लगभग 249 ई॰ पू॰)
(6) सप्त स्तम्भलेख (लगभग 243-242 ई॰ पू॰)
(7) लघु स्तंम्भ लेख (लगभग 252-232 ई॰ पू॰)

अभिलेखों के प्राप्ति स्थान और विवरण

1. लघु शिलालेख—अशोक के बौद्ध धर्म स्वीकार करने ढाई वर्ष पश्चात ये उत्कीर्ण हुए थे। कलिंग युद्ध से द्रवित होकर अशोक बौद्ध धर्म स्वीकार किया। यह युद्ध उसके राज्यारोहण के आठवें वर्ष में हुआ था। उसके ढाई वर्ष बाद ($= 8 + 2\,{}^1/_2$) लगभग 11 वर्ष राज्यारोहण के पश्चात् ये लेख लिखे गए थे। (रूपनाथ शिलालेख)।

ये शिलालेख दो प्रतियों में हैं। प्रथम प्रति के लघु शिलालेख रूपनाथ (जबलपुर जिला, म॰ प्र॰), सहसराम (शाहाबाद जिला, बिहार), बैराट (जयपुर के निकट, राजस्थान), गुर्जरा (दतिया, मध्य प्रदेश), मास्की (रायपुर जिला, म॰ प्र॰), पानगुड़रिया (सिहोर जिला, म॰ प्र॰), सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि और जतुंग रामेश्वर (सभी कर्नाटक के मैसूर के चीतल दुर्ग में) इरागुड्डी (कर्नूल जिला, आन्ध्र प्रदेश), गोवीमठ, पालकी गुण्डु (रायचूर जिला, कर्नाटक), राजल मंडागिरि (कर्नूल, आन्ध्र प्रदेश) उडेगोलम (बेल्लारी जिला), अहरौरा (मिर्जापुर जिला, उ॰ प्र॰), बाहापुर (अमरपुरी कॉलोनी, नई दिल्ली) में मिले हैं। अशोक के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालता है।

द्वितीय प्रति के लघु शिलालेख केवल निम्न सात स्थानों से प्राप्त हुए हैं जो प्रथम लघु शिलालेख के नीचे खुदे हैं। ये सभी दक्षिण भारत से मिले हैं—इरागुड्डी, राजुल मण्डगिरि, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतुंग रामेश्वर, निट्टूर और उडेगोलम। एक प्रति उत्तर भारत के राजस्थान के जयपुर जिले के बैराट नामक स्थान के पास बीजक पहाड़ पर खुदा था जो अब इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता में रखे जाने के कारण कलकत्ता बैराट तथा भाबरू शिलालेख भी कहलाता है।

2. चतुर्दश शिलालेख—ये अशोक के राज्यारोहण के 12वें वर्ष में उत्कीर्ण किए गए थे—(तीसरा शि॰ ले॰)। ये—शहबाजगढ़ी (मदनि जिला, पाकिस्तान), मानशेहरा (हजारा जिला, पाकिस्तान), गिरनार (जूनागढ़ के समीप, गुजरात), सोपारा तथा मुईगाम (थाना जिला, महाराष्ट्र), सन्नति (कर्नाटक, गुलबर्गा जिला), काल्सी (देहरादून जिला, उ॰ प्र॰), धौली (पुरी जिला, उड़ीसा) और जौगढ़ (गञ्जाम जिला, आन्ध्र प्रदेश), इरागुड्डी (कर्नूल जिला, आन्ध्र प्रदेश) में मिले हैं। इनमें अशोक के शासन और नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

3. कलिंग के दो पृथक शिलालेख—ये उड़ीसा प्रदेश के धौली और जौगढ़ में मिले हैं। ये चतुर्दश शिलालेख के 11वें, 12वें तथा 13वें शिलालेख के बदले उत्कीर्ण किए गए हैं। इनकी एक प्रति सन्नति (कर्नाटक का गुलबर्गा जिला) से भी मिली है। इनमें कलिंग-विजय के विषय में तथा पड़ोसी जंगली जातियों के प्रति अशोक की नीति की व्याख्या है।

4. बराबर के तीन गुहालेख—प्रथम तथा द्वितीय लेख इसके राज्य काल के 12वें तथा 19वें वर्ष में पटना-गया रेलवे लाइन पर स्थित पटना-गया के बीच जहानाबाद जिला के बेला स्टेशन (बिहार प्रदेश) के समीप बराबर की पहाड़ियों में अशोक द्वारा खुदवाए गए गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। इनसे अशोक की धार्मिक उदारता का बोध होता है। तीसरे लेख की तिथि अज्ञात है।

5. दो तराई स्तम्भ लेख—ये नेपाल की तराई में लुम्बिनी (रुम्मनदेई, नैपाल तराई) और निगलीवासागर, (उ॰ प्र॰) में पाए गए हैं। इसमें अशोक की धम्मयात्रा का उल्लेख है।

6. सप्त स्तम्भ लेख—ये उसके राज्यकाल के छब्बीसवें वर्ष में उत्कीर्ण हुए थे जो छः स्थानों से प्राप्त हुए हैं यथा दिल्ली-टोपरा, दिल्ली-मेरठ (दिल्ली इनके पहले इसलिए जुड़ा है कि पीछे बाद के स्थानों से ये दिल्ली ले जाकर स्थापित किए गये), कौशाम्बी (उ॰ प्र॰) जिसे अब उठाकर इलाहाबाद के जिले में किले में रखा गया है), लौरिया अरेराज, लौरिया नन्दनगढ़ और रमपुरवा (ये तीनों स्थान बिहार के चम्पारण जिले में हैं)। इन स्तम्भलेखों में अशोक की नीति का उल्लेख है।

7. दो गौण स्तम्भ लेख—ये राज्य काल के 19 से 38वें वर्ष के बीच उत्कीर्ण हुए थे। पहला गौण स्तम्भ लेख साँची, सारनाथ और कौशाम्बी में मिला है तथा दूसरा गौण स्तम्भलेख इलाहाबाद, इलाहाबाद-कोसम स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण हैं।

यूनानी और अरामइक अभिलेख—यूनानी : शेरकुना द्विभाषी अभिलेख (दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान में कांधार के पास), कांधार यूनानी अभिलेख। अरामइक : तक्षशिला अभिलेख (पाकिस्तान), पुले-दुस्ता प्रस्तर टेबलेट अभिलेख (अफगानिस्तान का लमगाना क्षेत्र), कन्धार आरामइक अभिलेख प्रथम तथा द्वितीय लमगाना अरामइक अभिलेख। ये धार्मिक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है।

अभिलेखों से ज्ञात अशोक के जीवन और कार्य का ज्ञान

अभिलेखों से उसके राज्यारोहण के 8वें से 27वें वर्ष के बीच की घटनाएँ ज्ञात होती हैं जो क्रमशः निम्न हैं—

1. (13वाँ शिलालेख) 8 वें वर्ष में कलिंग विजय किया।
2. (8वाँ शिलालेख) 10वें वर्ष बोधगया गया और तब से धर्मयात्रा का प्रारम्भ हुआ।
3. (3 शिलालेख) 12वें वर्ष में युक्त, राजुकों और प्रादेशिकों को दौरे का आदेश (4 और 6 शिलालेख) धम्म लिपि का आलेखन (गुहालेख) आजीवकों को गुहादान।
4. (5वाँ शिलालेख) 13 वें वर्ष में धर्म महामात्रों की नियुक्ति करना।
5. (निगलीवा अभि॰) 14 वें वर्ष में कनकमुनि स्तूप की वृद्धि हुई।
6. (गुहालेख) 19वें वर्ष में आजीवकों को गुहादान करना।
7. कनक मुनि स्तूप की पूजा (निगलीवा) तथा 20वें वर्ष में लुम्बिनी (रुम्मिनदेई) की यात्रा किया।
8. (स्तम्भ लेख) 26 वें वर्ष में प्रथम छः स्तम्भ लेखों का लिखवाना तथा धम्मानुशासन की करना।
9. 27वें वर्ष में सप्तम स्तम्भलेख लिखवाना।

कलिंग युद्ध

कलिंग का युद्ध अशोक के जीवन की ही नहीं पर भारतीय इतिहास की एक महान घटना है। इस विजय ने अशोक के जीवन को आमूल परिवर्तित किया। उसके विचार अब स्वार्थ से हट कर जनकल्याण की ओर उन्मुख हुए। इससे राजनीति में स्थापित उसके नवीन आदर्श आज भी प्रासंगिक हैं। भारत ही क्या विश्व के अन्य शासक प्रयास करके भी ऐसा अशोक की तरह नहीं कर सके। इस युद्ध का प्रभाव केवल भारतीय इतिहास पर ही नहीं अपितु तत्कालीन विश्व पर स्पष्ट दिखाई देता है। इसके विषय में कहा जाता है कि अशोक का कलिंग युद्ध भले ही एक सामान्य घटना मात्र हो पर विश्व इतिहास के लिए एक निर्णायक युद्ध था।

कलिंग युद्ध का वास्तविक ज्ञान अशोक के 13वें शिलालेख से मिलता है जो उसके राज्यारोहण के 8वें वर्ष में हुआ था। इस शिलालेख में युद्ध की विभीषिका, उसके कारण तथा उसके जीवन में होने वाले परिवर्तन का विस्तृत विवरण है।

कलिंग आधुनिक उड़ीसा और गंजाम को मिलाकर था। प्लीनी के अनुसार उत्तर में वैतरणी से लेकर दक्षिण में महेन्द्रगिरि एवं गोदावरी नदी तक तथा पश्चिम में अमरकण्टक पहाड़ी से लेकर पूरब में समुद्र तक यह क्षेत्र फैला था। यह एक व्यापारिक नगर था जहाँ से बर्मा और दक्षिण-पूर्वी एशिया से भारत का व्यापारिक सम्पर्क स्थापित था।

अशोक ने कलिंग पर क्यों आक्रमण किया? इसका अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्य नहीं मिलता। डा॰ भण्डारकर के अनुसार यह मानना कि अशोक के साम्राज्य के राजनीतिक जीवन में कलिंग एक कांटा था, यद्यपि, यह प्रमाणविहीन है पर जब बिन्दुसार ने चोलों और पाण्डयों पर आक्रमण किया तभी कलिंग ने भी बिन्दुसार पर आक्रमण किया था क्योंकि यह उनका मित्र था। सम्भवतः इसी बदले की भावना से अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया था। पर डा॰ भण्डारकर के इस विचार का कोई पुष्ट आधार नहीं है। सम्भवतः कलिंग मगध साम्राज्य से नन्द राजाओं के पतन का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गया था जबकि मगध साम्राज्य बंगाल से दिक्षण में ताम्रलिप्ति तक फैला था। अशोक ने पूर्वजों की नीति के अनुसार राज्य संगठित करने के लिए यह प्रयास किया होगा। प्लिनी ने भी मेगस्थनीज के आधार पर कहा है कि कलिंग की स्वतंत्र सत्ता थी। मेगस्थनीज के अनुसार कलिंग के पास 6000 पैदल, 1000 घुड़सवार तथा 700 हस्ति सेना अपनी रक्षा के लिए थी जो इसकी स्वतंत्र सत्ता का बोधक है। कलिंग दक्षिण और पश्चिम से मौर्य सीमा से घिरा था। भू-राजनीतिक सिद्धान्त (Geopolitics) से इसकी स्थिति कमजोर थी और उसका वैभव और अन्तराष्ट्रीय व्यापार मौर्य साम्राज्य को ललचा रहा होगा। इसकी स्वतंत्र सत्ता भी अशोक को सदा खटकती रही होगी तथा इसकी विशाल सेना भी अशोक के भय का कारण रही होगी। समुद्रतटीय राज्य होने से व्यापारिक विकास के लिए यह अधिक उपयोगी था। यह हाथी और हाथीदांत के लिए प्रसिद्ध था। तारानाथ के अनुसार यहाँ के समुद्री डाकू नागों द्वारा व्यापारियों को लूटे जाने से अशोक क्रुद्ध होकर इन्हें दण्ड देने के लिए इनको जीतना चाहता था। सम्भवतः किन्हीं इन्हीं कारणों से अशोक ने यह महत्त्वपूर्ण युद्ध किया हो। यह भी ज्ञात नहीं कि तब यहाँ का शासक कौन था।

कलिंग विजय में अशोक के तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होता है कि इसमें 1,00,000 से अधिक व्यक्तियों की हत्या हुई तथा लगभग 50,000 कैद किए गए, लाखों हताहत हुए और असंख्यों सैनिक परिवारों को भी जन-धन की हानि उठानी पड़ी। संवेदनशील अशोक के जीवन में इसका गहरा प्रभाव पड़ा। प्रत्यक्षरूप में इस कलिंग विजय को परोक्ष रूप से अशोक का हृदय विजय कहा जा सकता है। इससे उसके वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और अन्तराष्ट्रीय जीवन को एक नया मोड़ मिला। अशोक में यह परिवर्तन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं व्यवहारिक भी हुआ। यह न केवल अशोक तक ही सीमित रहा पर उसके बाद भारतीय और विश्व शासकों के समक्ष यह एक आदर्श बन गया। यह मोड़ विश्व इतिहास का मोड़ है इसीसे कलिंग युद्ध को 'इतिहास की एक निर्णायक घटना' कहते हैं।

इसका प्रभाव व्यापक रहा। अशोक के जीवन मे 'धम्म' की कल्पना का आगमन तथा उसकी श्रीवृद्धि के लिए उसका सतत सचेष्ट रहना पहला महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। अपनी प्रजा को 'धम्म' का पाठ पढ़ाने के लिए जहाँ अशोक ने अभिलेख खुदवाया कि लोग इसको बार-बार पढ़कर इसका अनुसरण करेंगे वहीं डा॰ वी॰ पी॰ सिन्हा के अनुसार इसे उसने अपनी वैदेशिक नीति का आवश्यक घटक बनाया। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ने जहाँ विदेशी नीति में मित्रता और दौत्य संबंध तक ही अपने को सीमित रखा वहीं था इसने धम्म प्रचार और जनकल्याण को भी जोड़ दिया। यूनानी शासक भी अपने देश में इस समुन्नत भारतीय संस्कृति की भावना से आहत नहीं हुए। तभी अशोक ने 'सर्व मनुषे पजा (पुत्र) ममा' कहा है। इस प्रकार अशोक ने विदेशी नीति में यह नया क्रान्तिकारी कदम जोड़ा। युद्ध की विभीषिका को देखकर उसके मन में बहुत पश्चाताप हुआ। दूसरी बात थी इस युद्ध से अशोक के मन में क्षमा की भावना उठना। उसने तेरहवें शिलालेख में कहा है कि कोई भी अपकार जो क्षमा के योग्य है उसे अवश्य क्षमा करना चाहिए। उसने आट्टविकों के सम्बन्ध में जो पड़ोसियों

को कष्ट देते थे क्षमा नीति की घोषणा की। अशोक ने प्राणिमात्र के प्रति दया और करुणा की भावना से श्रमण, ब्राह्मण, दास, भृतक आदि सबके साथ उचित व्यवहार करने का आदेश दिया। पुनः उसने 13वें शिलालेख में कहा है 'सर्व भूतानम् अखति'—अर्थात् सभी प्राणियों का कल्याण हो। इसमें महत्त्वपूर्ण शब्द 'सव' का प्रयोग इसके अभिलेखों में बार-बार हुआ है जो एकता एवं भ्रातृत्व भाव का द्योतक है। इस प्रकार अशोक ने बहुत पहले ही एकता और भ्रातृभाव का उद्घोष किया था जिसका श्रेय आज नैपोलियन को दिया जाता है। सभी धर्म मानने वालों को स्वतंत्रता दी गई थी। शस्त्र-विजय की नीति का परित्याग इस युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है। इसने शस्त्र विजय त्यागने और धम्म विजय करने पर अबसे बल दिया। उसके अनुसार मुख्य विजय धम्म निजय है जिसे वह चिरस्थायी तथा गाढ़ा बताता है। इसीलिए उसके साम्राज्य के बाहर रहने वाले कामरूप (असम), चोल (मद्रास), पाण्डय (मदुरै), सतियपुत्र, केरल और लंका पर भी इसका प्रभाव बना रहा। (शि॰ ले॰ 2) शस्त्र विजय के बाद उसने प्रायश्चित का विधान दिया है। युद्धघोष, युद्धभेरी और युद्ध विजय की जगह अशोक ने धम्मघोष, धम्मभेरी और धम्मविजय को प्रधानता दिया। इसके परिणामस्वरूप अशोक में जन-कल्याण की भावना जाग्रत हुई। यह उसने केवल अपनी प्रजा के लिए ही नहीं बल्कि 'सर्व लोक हिताय' लागू किया। तभी 13वें शिलालेख के अनुसार जनकल्याणकारी कार्य भारतीय राजदूतों द्वारा पड़ोसी देशों मिस्र, सीरिया, मेसेडोनिया आदि में लागू किया गया। सातवें स्तम्भ लेख से स्पष्ट है कि उसने जनकल्याण हेतु ही नवीन अधिकारियों को नियुक्त किया कि वे जनता का अधिक हित कर सकें। इसीसे सड़कें, जलाशय, प्याऊ आदि बनवाए गए, पेड़ लगवाए गए, कुएँ खुदवाए गए तथा ठहरने के लिए धर्मशालाएँ बनवाई गईं। यह भाव केवल मानव के लिए ही नहीं पशुओं के लिए भी था तभी 'भूतानाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इसीसे प्रेरित उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाया। द्वितीय कलिंग लेख में अशोक ने कहा है कि 'जो कुछ भी मानव कल्याण के लिए मैं देखता हूँ, उससे मानवमात्र को तत्काल अवगत कराता हूँ।' इसी प्रकार विहार यात्रा के स्थान धर्मयात्रा को महत्त्व दिया।

अशोक व्यक्तिगत जीवन में श्रम पर अब बल देने लगा। सम्भवतः यह उसी हत्याकाण्ड का परिणाम था। उसने प्रथम कलिंग लेख में कहा है कि जो अपने कर्तव्यों का निर्वाह सुचारु रूप से नहीं करता वह ईश्वर और राजा किसी की भी सेवा नहीं करता। इसको और महत्त्व देने के लिए अशोक ने कर्तव्य को ऋण माना है और श्रम को उऋण होने का माध्यम। अशोक के व्यक्तिगत जीवन में दूसरा परिवर्तन था अहिंसात्मक प्रवृत्ति। कलिंग युद्ध के भीषण हत्याकाण्ड ने अशोक को उद्वेलित कर पूर्ण अहिंसात्मक बना दिया। इसीलिए उसके अभिलेखों में दो बातों पर बल दिया गया है—प्रथम शिलालेख से स्पष्ट है कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति जो अशोक के पहले नहीं थी वह अब जागृत हो गई। उसने भोजनालय में मांस पकाने पर भी प्रतिबंध लगा दिया तथा धीरे-धीरे उसे बन्द कराने की घोषणा की। कलिंग युद्ध से वह इतना तिलमिला गया था कि सच्ची शान्ति और सच्चे मार्ग की खोज में वह बौद्ध धर्म के मानवतावादी सिद्धान्तों से प्रभावित होकर व्यक्तिगत जीवन में बौद्ध बन गया। अशोक ने स्वयं स्वीकार किया है कि कलिंग युद्ध के बाद वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया है। (प्रथम क॰ शि॰)

इस प्रकार कलिंग युद्ध का अशोक के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इससे भारत के इतिहास में शान्ति, उन्नति और धर्म-प्रचार के युग का अवतरण हुआ। पर हमें यह

नहीं भूलना चाहिए कि इस युद्ध से जहाँ मगध साम्राज्य की सीमा का प्रसार हुआ वहीं युद्ध की प्रगति भी रुक गई। जिस तलवार को बिम्बिसार ने विजय के लिए निकाला था उसे अशोक ने अन्तिम रूप से म्यान में रख दिया। सुदूर दक्षिण भारत के प्रदेश मगध के बाहर ही रहे। भारतीय राजनीतिक और प्रशासकीय एकता का स्वप्न अधूरा ही रह गया। सम्भवतः धर्म प्रसार की नीति और लोकहित के सतत् प्रयत्न में सैनिक और राजनीतिक पक्ष गौण पड़ गए।

अशोक का साम्राज्य विस्तार

अशोक के समय में साम्राज्य विस्तार की प्रथम साक्ष्य उसकी कलाकृतियाँ (स्तम्भ, स्तूप आदि) हैं जो अशोक के साम्राज्य में रही होंगी। दूसरा साक्ष्य है अशोक के अभिलेख—शिलालेख और स्तम्भलेख जिनपर अशोक ने अज्ञाएँ अंकित कराकर जगह-जगह स्थापित कराया। शिलालेख जहाँ उसके साम्राज्य की सीमा पर स्थित हैं वहीं स्तम्भलेख उसके राज्य के भीतर के प्रदेशों में हैं। इनमें प्रदेशों व जातियों का भी उल्लेख जो अशोक के साम्राज्य सीमा रेखा के भीतर थे (अपरान्त), जो सीमा रेखा के बाहर थे (अन्त राज्य) और जो इनकी दूसरी पंक्ति में थे (प्रत्यन्त राज्य) जहाँ दौत्य संबंध स्थापित था। विदेशी यात्री यद्यपि अशोक के समय भारत नहीं आए थे पर जो बाद में आए उनके विवरणों में अशोक की कला के प्रतीकों के प्राप्तिस्थान के उल्लेख से हमें इस दिशा में सहायता मिलती है। इस प्रकार मुख्यतः पुरातात्विक स्रोतों के के आधार पर ही अशोक का साम्राज्य विस्तार निश्चित किया जा सकता है। इसके साथ ही सहायक हैं साहित्यिक स्रोत के रूप में कल्हण की राजतरंगिणी तथा सिंहलीगाथाएँ। इन साक्ष्यों का अलग-अलग अध्ययन न करके समन्वित क्रम से साम्राज्य विस्तार का अध्ययन करें तो समन्वित व्यवस्थित विवरण प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अशोक द्वारा अधिकृत साम्राज्य सीमा पहले यूनानियों के अधिकार में थी जिनके नायक सेल्यूकस से संधि करके चन्द्रगुप्त ने गेड्रोसिया (बलूचिस्तान), आरकोसिया (कन्दहार), पेरापनिसदाई (काबुल) और एरिया (हिरात) को प्राप्त कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया था जिन्हें अशोक ने खोया नहीं था। काबुल नदी के उत्तर लमगाना (अफगानिस्तान) से अरामइक लिपि में तथा कांधार से यूनानी और अरामइक लिपि में इसके अभिलेख मिले हैं। 13वें शिलालेख में योन (अफगानिस्तान) तथा कम्बोज (कश्मीर और काफरिस्तान) जातियों का उल्लेख उसके साम्राज्य के भीतर हुआ है। अन्तियोक (अण्टिओकस द्वितीय) को यवन और पड़ोसी राजा कहा गया है तथा उससे 800 योजन की दूरी पर स्थित तुलमुये, अन्तकिन, मक और अलिकसुन्दर राजा भी उसके सीमाप्रदेश पर स्थित बताए गए हैं। इस प्रकार अशोक के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा आर्कोशिया और जेड्रोसिया तक थी।

उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की दो अवलि पाकिस्तान के शाहबाजगढ़ी (पेशावर) और मानशेहरा (हजारा) में मिली हैं। ये दोनों शिलालेख, ब्राह्मी लिपि के स्थान, खरोष्ठी में लिखे हैं। पाँचवें शिलालेख में पेशावर के पड़ोसी भाग गांधार का उल्लेख भी अशोक के साम्राज्य क्रम में हुआ है। राजतरंगिणी में अशोक को कशमीर का राजा कहा गया है जिसने वहाँ श्रीनगर की स्थापना की थी और कई चैत्य, स्तूप, और विहार बनवाया था। उसने अशोकेश्वर नामक मन्दिर और पत्थर का दुर्ग भी बनवाया था। ह्वेनसांग ने अशोक द्वारा बनवाये गए कशमीर में अनेक स्तूपों को देखा था। ये सभी अशोक का कशमीर पर अधिकार बताते हैं।

उत्तर की ओर बढ़ने पर हिमालय की तराई में देहरादून जिले के कालसी से अशोक के चतुर्दश

शिलालेखों की एक अवलि मिली है। 13वें शिलालेख में 'नाभपंक्तियों' का उल्लेख है जो हिमालय में उसके राज्य की सीमा पर बसे थे। अशोक ने नेपाल तराई में लुम्बिनी ग्राम की यात्रा की थी तथा वहाँ के स्तूप को वृहताकार कराया था और लुम्बिनी ग्राम के राजस्व में $^1/_8$ की छूट दिया था। (रुम्मनदेई अभिलेख) अतः नेपाल तराई इसके अधीन था।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वह नैपाल अपनी पुत्री चारुमती के साथ गया था। यहीं चारुमती का विवाह देवपाल के साथ हुआ था जो यहीं रह गई तथा यहाँ देवीपथन (देवीपाटन) नगर देवपाल ने बसाया तथा देवीपत्तन स्तूप भी बनवाया। पाटलिपुत्र और नेपाल के बीच यात्रा के लिए अशोक ने मार्ग बनवाया। स्वयंभूनाथ का काठमांडू का मन्दिर परम्परा के अनुसार अशोक के साथ जुड़ा है। ये साक्ष्य नेपाल पर अशोक का अधिकार सूचित करते हैं।

पूरब की ओर बढ़ने पर हम बंगाल में पहुँचते हैं। यहाँ का प्रमुख बन्दरगाह ताम्रलिप्ति अशोक के अधीन था। ह्वेनसांग ने अशोक द्वारा निर्मित ताम्रलिप्ति (दiiण बंगाल), कर्णसुवर्ण (पश्चिमी बंगाल), समतट (पूर्वी बंगाल) तथा पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) में स्तूपों का उल्लेख किया है। महास्थानगढ़ अभिलेख से भी यह पुष्ट होता है। अतः बंगाल भी इसके अधीन था। पर इसके आगे उसके किसी स्मारक का नहीं करता। अतः ब्रह्मपुत्र नदी इसके राज्य की पूर्वी सीमा बनाती थी। कामरूप पर इसका अधिकार नहीं था।

यहाँ से दक्षिण की ओर चलने पर कलिंग प्रदेश (आधुनिक उड़ीसा और आंध्र प्रदेश मिलाकर) था। यहाँ से अशोक के दो शिलालेखों की अवलि धौली (पुरी जिला) और जौगढ़ (गंजाम जिला) से प्राप्त हुए हैं। देखा गया है कि अपने राजत्व काल के आठवें वर्ष में अशोक ने कलिंग पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था। जिसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके अभिलेखों में तोसली (धौली) और समापा (जौगढ़ के पास) दो स्थानों का नाम आया है तथा खेपलिंग पर्वत का उल्लेख है जो यहीं था।

दक्षिण भारत की ओर बढ़ने पर आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में पहुँचते हैं। पहले यहाँ चंद्रगुप्त का राज्य था। यहीं सिद्धपुर, मास्की, पालकीगुण्डु, गोवीमठ, ब्रह्मगिरि, राजूमण्डगिरि, उडेगोलम, सन्नति से अशोक के लघु शिलालेख मिले हैं। पर चित्तल दुर्ग जिले के दक्षिण अशोक के अभिलेख नहीं मिले हैं। उसके अभिलेखों में वर्णित दक्षिणी सीमा के भीतर आंध्र और पुलिन्द जातियों का उल्लेख है। सत्यपुत, केरल, चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी (लंका) का नाम उसकी साम्राज्य सीमा के बाहर लिया गया है। प्रथम शिलालेख में स्वर्णगिरि का उल्लेख दक्षिणापथ की राजधानी के लिए आया है। यहाँ की आंध्र जाति का उल्लेख हुआ है जो कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच के भाग में बसी थीं।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ने पर हम महाराष्ट्र में पहुँचते हैं। यहीं से सोपारा और भुइगाम के शिलालेख मिले हैं। आगे काठियावाढ़ गुजरात से भी अशोक का जूनागढ़ अभिलेख मिला है। यहीं अशोक ने सुदर्शन झील को पुनर्निमित कराया था जैसा, रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है तथा प्रान्तपति तुहशाष्प को वहाँ के देख-रेख करने का भार सौंपा था। इसी क्षेत्र के लिए 'अपरान्त' (पश्चिमी समुद्र तट) शब्द अभिलेखों में प्रयुक्त हैं। इस क्षेत्र की तीन जातियों—राष्ट्रिक, पितेनिक और भेजा का उल्लेख हुआ है जो इसके साम्राज्य के अन्तर्गत बताए गए हैं। इनमें भोज महाराष्ट्र के थाणा और कोल्बा जिले में थे। राष्ट्रिक महाराष्ट्र के पूना और उसके पास बसे थे तथा वही पितेनिक भी थे।

आगे का सिंधु प्रान्त भी इसके अधीन था जैसा अपरान्त पर अधिकार से स्पष्ट होता है, यहीं अशोक निर्मित कई स्तूपों का उल्लेख ह्वेनसांग करता है। इनमें आज भी मीरपुरखास में अशोक का स्तूप है और पश्चिम की ओर बढ़ने पर फिर हम अफगानिस्तान में पहुँचते हैं जहाँ से हमने साम्राज्य विस्तार का अध्ययन प्रारम्भ किया था।

इस सीमा के भीतर उसके कई लेख मिले हैं। अरेराज, रामपुरवा, सासाराम, नन्दनगढ़, सारनाथ, सांची, कौशाम्बी, मेरठ, टोपरा, लुम्बिनी, कालसी आदि से प्राप्त उसके स्तम्भ इस सीमा के भीतर उसके शासन की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्णगिरि, तोशक्ति, तक्षशिला आदि के गवर्नरों के प्रति इसके आदेशों का उल्लेख है। इससे भी स्पष्ट है ये प्रदेश अशोक के साम्राज्य में थे।

इससे स्पष्ट है कि अशोक का साम्राज्य पूरब में बंगाल से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान और बलूचिस्तान तक तथा उत्तर में हिन्दूकुश और हिमालय से लेकर दक्षिण में मैसूर के दक्षिणी भाग चित्तलदुर्ग तक फैला था। पूरब में इसकी सीमा के बाहर कामरूप पश्चिम में यवन नरेश अन्तियोक और उसके पड़ोसी और उत्तर में हिमालय सीमा बनाता था। दक्षिण में चोल, पाण्डय, सत्यपुत, केरल और ताम्रपर्णी इसके राज्य के बाहर थे। इसको उसने 'महलअक हि विजिते' कहा है तथा इस क्षेत्र को जम्बुद्वीप एवं 'सव पठवियं (सम्पूर्ण पृथ्वी) (ल॰ शि॰ के॰ निट्टूर) कहा है। (शि॰ ले॰ 14)

अशोक की धार्मिक नीति

अशोक का धम्म

अशोक के अभिलेखों में 'धम्म' शब्द की पुनरावृत्ति प्रायः बार-बार हुई हैं। 'धम्म' संस्कृत के 'धर्म' शब्द का पालि पर्यायवाची है। धम्म का अर्थ भी धर्म ही होता है। पर इसका अभिप्राय उसके व्यक्तिगत धर्म—बौद्ध धर्म से नहीं है क्योंकि उसने बौद्ध धर्म के लिए 'धम्म' शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके लिए सद्धर्म तथा संघ शब्द का प्रयोग है। बौद्ध धर्म के विकास के संदर्भ में भी धम्म की चर्चा नहीं करता। इसकी व्याख्या में कहता है कि 'इसके द्वारा अपने धर्म की वृद्धि हो और धर्म की दिप्ति हो।' (शि॰ ले॰ 12) अशोक ने नैतिक आदर्शों को 'धम्म' नाम से ही सम्बोधित किया है। श्री टॉमस के अनुसार इसकी व्याख्या में न तो अष्टाङ्गिक मार्ग, न चत्वारि आर्य सत्य और न निर्वाण का ही संकेत है। श्री मैकफिल के अनुसार इसकी व्याख्या में बौद्ध धर्म का कोई स्थान नहीं है, केवल विनय (आचार) पर बल दिया गया है जिसका पालन सम्पूर्ण प्राणिमात्र करें। आर॰ के॰ मुखर्जी के अनुसार यह उसका अपना बौद्ध धर्म नहीं था। शिलालेख 12 के अनुसार जाति और सम्प्रदाय से अलग यह एक नैतिक धर्म था, जिसमें सभी धर्मों के सार संग्रहीत थे। यह उसकी मौलिक देन थी। हरपद चक्रवर्ती के अनुसार यह नवीन धर्म व्यावहारिक, सरल और नैतिक था। इस प्रकार अशोक के धार्मिक जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत धर्म वह अपने तक सीमित रखा जबकि सामाजिक धर्म जन सामान्य के लिए उपदेशित किया। वह कहीं भी अपने व्यक्तिगत धर्म का आरोपण समाज पर नहीं करता है। 'धम्म' से अभिप्राय अशोक के सामाजिक धर्म से ही ली जाती है। द्वितीय स्तम्भ लेख में वह कहता है कि धम्म ही श्रेष्ठ और साधु है।

अशोक के मन में **धम्म की अवधारणा** एक विशाल राज्य स्थापना के साथ उदय हुई क्योंकि इनमें बहुजातीय, बहुधर्मी, बहुपरम्परा और बहुनैतिकता के लोग थे जिनकी राजभक्ति एक केन्द्रीय

सत्ता से जोड़ना था। चन्द्रगुप्त ने केन्द्रीय शासन व्यवस्था को कर्मचारियों का जाल बिछाकर तथा उनके निर्देशन के भीतर ग्राम तथा नगरों को लाकर राजभक्ति में जोड़ा था। राजा के जनकल्याण की भावना उसकी नियमित योजना तथा जनभावना को जाग्रत कर भौतिक सुविधाएँ तथा प्रचलित सामाजिक विकास से जनता को सत्ता से जोड़ा जा सकता था। पर कभी-कभी स्थानीय सरकारी कर्मचारियों के ऐसे कार्य जिन्हें राजा या प्रान्तपति नहीं जानते थे जनविरोधी बन जाते थे जिसका प्रमाण बिन्दुसार के समय तक्षशिला का विद्रोह था। अतः अशोक ने सोचा कि जनकल्याणार्थ सत्ता के विकेन्द्रीकरण द्वारा विशाल साम्राज्य को एकसूत्र में नहीं बाँधा जा सकता। इसमें क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद से केन्द्रीय सत्ता को सदा खतरा था। कुशल प्रशासक अशोक ने सामाजिक और साम्प्रदायिक विरोधों को पारकर मानसिक रूप से प्रजा का राज्य के साथ सहयोग करने, प्रजा के ऋण से उऋण होने, बिना बौद्ध धर्म का नाम लिए उसके नैतिक गुणों को जनता के बीच लाने, न नए धर्म के लिए अपने को धर्म प्रचारक कहकर, न किसी धर्मग्रंथ या कर्मकाण्डों से बच कर इस नैतिक धर्म को रूप दिया। डा० मुकर्जी के अनुसार ''अभिलेखों का 'धम्म' विशिष्ट धर्म, जाति, सम्प्रदाय से अलग नैतिक नियम है जो सभी धर्मों का सार है।'' फिलियाजोट ने कहा है कि धम्म का बुद्ध या बौद्ध धर्म से कोई संबंध नहीं है, यह नैतिक नियमों की स्थापना है।

धर्म के साधारणतया चार अंगों—नैतिकता, आचार, दर्शन और कर्मकाण्ड में आचार और कर्मकाण्ड बोधगम्य होते हुए भी परस्पर विरोधी होने से धर्मों में भिन्नता उत्पन्न होती है। दर्शन इसका गूढ है जिसे सरलता से समझा नहीं जा सकता। इसमें नैतिकता ही एक एसा तत्त्व है जो सबमें समान होता है। अतएव अशोक ने नैतिकता पर बल दिया है। इसका कारण था कि यहाँ तब अनेक धर्म थे जिनमें परस्पर विरोध से कटुता व्याप्त थी। इसलिए इसे आधार बनाकर वह एक सार्वजनीन धर्म स्थापित किया जिससे समाज की कटुता दूर की जा सके। अतः अशोक ने कहा है 'धम्मे साधु' पर वहीं वह कहता है **'कियं चु धम्मेति'** अर्थात् धम्म क्या है ? इसकी व्याख्या उसने द्वितीय स्तम्भलेख में इस प्रकार की है—

1-अपसिनवे (पाप से घृणा करना), 2-बहुकयाने (अनेक कल्याणकार्य करना), 3-दया, 4-दाने, 5-सचे (सत्यता), ६-शुचए (शुद्धता) एवं (स्त० 7) 7-संयम (शि० 3), 8-भाव शुद्धि (शि० 7), 9-कृतज्ञता (स्त० 7), 10-धर्मरति (शि० 13)। अशोक ने इनका पालन करना ही धम्म कहा है।

पर इसके साथ ही कुछ ऐसे तत्त्व भी अशोक ने बताया है जिसे 'धम्म' के पालन के लिए त्यागना होता है। ये हैं—

1-चंडिये (उग्रता), 2-निठूलिए (निष्ठुरता), 3-क्रोधे (क्रोधे), 4-माने (सम्मान), 5-इसिलसे (ईर्ष्या)। (स्त० 2)

अशोक के धम्म सम्बन्धी तत्वों में निम्नलिखित सामाजिक आचार के उपदेश हैं—

(क) मातपितिसु सुसुसा (माता-पिता की सेवा करना), गुरु सुसुसा (गुरु की सेवा करना), (स्त० ले० 7, शि० ले० 13, 3, 4, 11) प्राणेषु द्रह्यितव्य (प्राणियों के प्रति दया में दृढ़ता होनी चाहिए), सच वतविए (सत्य बोलना चाहिए)। (ल० शि० 2)

(ख) 'सम्पटिपति मितसंथुतनातिक्यानं च बंभनसमनानं चा' दासभतकसि (स्त० ले 7; शि० ले० 4, 13) अर्थात् मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण तथा श्रमणों तथा दासों के साथ समता का व्यवहार

करना चाहिए। इसका उल्लेख बार-बार हुआ है। लगता है अशोक सबके बीच व्यवहार में समानता लाने का प्रयास करता रहा।

(ग) 'पाणानं साधु अनारम्भे अपवियाता अपभण्डता साधु' (शि॰ ले॰ 3, 4,, 7; स्त॰ ले॰ 7) अर्थात् प्राणियों की हत्या न करना, अधिक व्यय तथा बचत न करना ही श्रेय है। इसका उल्लेख बार-बार हुआ है। इसके द्वारा जीवधारियों को समान रुप से जीने और लोगों में दुर्वृत्ति को रोकने के लिए धन-संग्रह और अपव्यय रोकने पर बल दिया है।

अशोक ने अपने अभिलेखों में 'धम्म' की चर्चा प्रायः करते हुए दो वाक्यों का प्रयोग किया है—'अनारभियो पानानं, अबिहिंसा भूतानां (शि॰ 4) अर्थात् प्राणियों की हत्या नहीं करनी चाहिए तथा जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। वह केवल इतना ही कह कर सन्तुष्ट नहीं होता। वह समझता है कि जीव-हिंसा तुरन्त एकदम बन्द नहीं हो सकेगी। इसलिए वह जीव-हिंसा को धीरे-धीरे व्यवहारिक रूप में नियंत्रित करने के लिए कहता है कि अमुक-अमुक जीवधारियों की हत्या नहीं करनी चाहिए तथा अमुक जीवधारियों की हत्या साल के केवल कुछ निश्चित दिनों में ही करनी चाहिए। इसकी एक लम्बी तालिका वह अपने स्तम्भलेख 5 में प्रस्तुत करता है जिसमें पशु, पक्षी, जलचर आदि सभी प्रकार के जीवधारियों को गिनाता है। इसकी उत्कृष्टता तब दिखाई पड़ती है जब वह कहता है कि अमुक-अमुक पशुओं को निर्लक्षित भी नहीं करना चाहिए तथा जीव सहित भूसे को भी नहीं जलाना चाहिए। इसको और प्रभावक बनाने के लिए उसने कुछ तिथियाँ भी निर्धारित की जिन दिनों अनेक जीवधारियों की हिंसा से उसने अपने को रोका कि धीरे-धीरे हिंसा रुके।

धर्म की वृद्धि के लिए प्रत्येक मनुष्य को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इससे धर्म की ओर जागरूकता बढ़ती है। अशोक के धर्म में 'आत्म-प्रतिवेखा' का बड़ा महत्त्व है। (स्त॰ ले॰ 7)

अशोक का धम्म लौकिक धर्म से अलग नैतिक धर्म है। इसलिए इसके धर्म में किसी धर्म विशेष का विरोध नहीं है। वह जहाँ यह कहता है कि सभी धर्म समान रूप से सब जगह व्याप्त रहें, वहीं वह यह भी कहता है कि सब लोग मेरे धर्म के आचरण को सुने और इसका समुचित पालन करें। लघु-मंगल जो दैनिक जीवन में मनाये जाते थे, उसके स्थान धम्म-मंगल अपनाने का उपदेश दिया। उसके विचार में यात्रा, विवाह, बीमारी और आय आदि पारिवारिक घटनाओं पर साधारणतया लोग अनेक प्रकार के मंगल मनाते हैं—कि उसका कल्याण हो। इसे उसने 'खो' = तुच्छा कहा है। इसके स्थान उसकी दृष्टि में अधिक फलदायक होगा—धर्म-मंगल करना–धर्माचरण। (शि॰ ले॰ 12)

अशोक ने जिस धर्म की कल्पना समाज के लिए की तथा जिसकी रूपरेखा सामाजिक जीवन में उसने प्रस्तुत किया वह उसकी दृष्टि में केवल इस लोक में ही कल्याणप्रद नहीं है पर इस लोक के परे परलोक बनानेवाला भी है। वह सदा यही दुहराता है कि ऐसे धर्म का पालन करने से, इस लोक में तो सुख प्राप्त होगा ही, साथ ही परलोक में भी मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकेगा। 13वें शिलालेख में उसने कहा है कि—'षे हिदलोकिक्यपललोकिक्ये'। इसकी पुनरावृत्ति उसने अनेक लेखों में की है।

धम्म की यह व्याख्या प्रायः अशोक के अधिकांश अभिलेखों में मिलती है। ऐसा क्यों ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट होता है कि माधुर्य (मधुलियाये) के कारण ही इसका उल्लेख बार-बार किया है, जिससे जनता इसका अनुसरण करे (येन जने पटिपजेया)।

धम्म की विशेषताएँ क्या थीं ?

1. प्राणिमात्र में भ्रातृत्वभाव का संचार करना, नैतिक भावों का जागरण करना तथा स्वरुचि के अनुसार धर्म-पालन में स्वतन्त्रता प्रदान करना। (शि० ले० 7)

2. इसके द्वारा धार्मिक विभेद दूर कर अपने साम्राज्य में व्याप्त अराजकता तथा विरोधाभास को दूर करने का प्रयास था। अशोक के साम्राज्य में विविध धर्मों के अनुयायी रहते थे और प्रत्येक को अपने धर्म के प्रचार का अधिकार था। इसमें धर्मान्धता के साथ-साथ धर्म प्रचार के लिए पारस्परिक होड़ रहती होगी। इससे सामाजिक और राजनैतिक अशान्ति की भी आशंका बनी रही होगी। अशोक ने जनता को केवल धर्म-सहिष्णुता का ही पाठ नहीं पढ़ाया, बल्कि नागरिकों को यह चेतावनी भी दी कि वे अपनी जिह्वा पर रोक रखें, आत्म-नियन्त्रण करें और कभी भी दूसरे धर्म की निंदा न करें। उसने यह सलाह दी कि जो अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे धर्मों की निन्दा करता है, वह अपने धर्म की हानि करता है। पर जो दूसरे धर्मों की प्रशंसा करता है, वह अपने धर्म के विकास में भी योग देता है। उसने विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को सुझाव दिया कि वे साथ-साथ मिलकर धर्म पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करें और विविध धर्मों के मूल सिद्धान्तों की समानता व सारतत्व की वृद्धि करें। इसीमें धर्म का विकास होगा। (शि० ले० 12)

3. सभी धर्मों के सर्वमान्य सिद्धान्तों का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करना इसका लक्ष्य था। अशोक के धम्म के सिद्धान्तों से माना जा सकता है कि उसका धम्म कोई धर्म विशेष नहीं है वरन् सभी धर्मों का सार संग्रह है। उसके द्वारा स्थापित धम्म को सब धर्मों की साझी सम्पत्ति की संज्ञा दी जा सकती है।

4. धर्म का इसमें प्रायोगिक स्वरूप प्रस्तुत है। अशोक ने धर्म को न तो अधिक कर्मकाण्डों के बन्धन में ही जकड़ दिया कि उसका पालन साधारणतया न हो सके और न उसे ऐसे गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों में ही आबद्ध कर दिया कि जन-साधारण तक इसकी पहुँच ही न हो सके। इसके विपरीत यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह जिस किसी भी धर्म का मानने वाला हो; पूर्णरूपेण व्यावहारिक महत्त्व का है। इसमें न किसी धर्म विशेष का विरोध है और न किसी धर्म को बढ़ावा।

5. अहिंसावादी प्रवृत्ति को उजागर करना इससे चाहता है। वह अहिंसा के पालनार्थ सदा आदेश एवं उपदेश देता रहता है। यह केवल अपनी प्रजा या मानव मात्र तक ही सीमित नहीं है वरन् सभी मनुष्यों और जीवधारियों के लिए है। अतः इसमें अपने पराए का भेद नहीं दीखता। इसीसे उसका धम्म पूर्ण समन्वयवादी दिखाई पड़ता है। कहीं भी इसमें साम्प्रदायिक भावना छू तक नहीं सका है। इस धर्म का मूल लक्ष था लोकहित और वह भी न केवल इस लोक में अपितु 'हिदलोकिक च पाललोकिक्य' क्योंकि उसकी मान्यता है कि जो लाभ दूसरे लोक में प्राप्त होता है वह महान फलदायक होता है। (शि० 13)

6. यह धम्म ब्राह्मण विरोधी नहीं था क्योंकि वह देवताओं (देवानंपिय), स्वर्ग (स्वगं), परलोक (पाललोकिक्ये), सभी मनुष्यों (सवे मनुषे), सभी धर्म (सवपाषण्ड) आदि की चर्चा करता है। सभी का कल्याण चाहता है (सवे कल्याणं अखतु) तथा नैतिक जीवन की कामना करता है ('आत्मानं पूण्यं प्रसवति' शि० 11)।

इसने धम्म प्रचार की भी व्यवस्था किया। इसकी लिए शिलालेख चतुर्थ में इसे 'सट्ठे कम्मे'—श्रेष्ठ कर्म कहता है। इसके प्रचारार्थ इसकी व्याख्या स्तम्भ और चट्टानों पर अंकित कराया। ये प्रायः ऐसे

ही स्थानों पर अंकित कराए जाते थे जो मुख्य मार्ग पर होते थे। उसने इस दिशा में व्यक्तिगत प्रयास भी प्रारम्भ किया। स्वयं अहिंसा के लिए आदर्श उपस्थित किया। अपने भोजनालय में मांस पकाने पर धीरे-धीरे रोक लगाया, धर्म यात्रा करना शुरू किया, जिसमें धर्म का प्रसार किया जा सके, धर्म महामात्रों को नियुक्त किया, जिनका कार्य था जनता को धर्म का उपदेश देना। उसने अधिकारियों को भी आदेश दिया कि वे प्रत्येक पाँच-पाँच वर्ष पर अपने-अपने क्षेत्रों में यात्रा करके लोगों में धम्म का प्रचार करें। उसने आत्मपरिवेखा की व्यवस्था शुरू की कि लोग अपने बुरे कर्मों की तुलना अच्छे कर्मों से करें। (स्त॰ 3) आत्मोत्थान के लिए धर्म चेतना को विकसित करने की बात की जिसमें दया के नियम के प्रति दृढ़ भक्ति, अधिक आज्ञापालन, अधिक भय, अधिक श्रम और अधिक आत्मपरीक्षण पर बल दिया गया है। (स्त॰ 1) विदेशों में धर्म प्रचारकों को भेजा गया (शि॰ 13)। इसी क्रम में महेन्द्र और संघमित्रा लंका गई थीं। शस्त्र विजय के स्थान धम्मविजय प्रारम्भ किया जिससे लोगों का इह लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष हो सके। उसने इच्छा व्यक्त की थी कि उसके अभिलेख लोगों द्वारा पढ़े जायें कि उसके राज्य के निवासी तथा बाहर के लोग भी धम्म के विषय में समझ सके। धर्म श्रावण करवाए गए। प्रजाहित के कार्य किए गए कि लोग सुखी हों। दिव्यरूपों का प्रदर्शन किया गया कि लोग आकृष्ट हों। (शि॰ ले॰, 4) धर्म वृद्धि के अनुशासन दिए गए जैसे मनुष्य और पशुओं के अहिंसा के विषय में—पशुवध रोककर पशु चिकित्सा की व्यवस्था करके। दूतों द्वारा धर्म का प्रचार कराया गया। धम्म दान, धम्म समविभाग, धम्म कर्म को बढ़ावा दिया गया। पुछिल पुच्छा के द्वारा धर्म के भाव को बताया गया। धर्म मंगल की भावना को बढ़ाया गया। ऐसे अनेक प्रयास किए गए।

कुछ लोगों ने अशोक के धम्म को बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं स्वीकार किया है, पर यह धारणा गलत है। अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म था, परन्तु उसने देश में शिलाखण्डों, स्तम्भों पर जो साधारण आदेश अंकित कराए वे किसी धर्म-विशेष की सम्पत्ति नहीं, वरन् सार्वभौम धर्म है, विश्वधर्म है। यह दूसरी बात है कि एक मानववादी और व्यावहारिक बौद्ध धर्म से अशोक को इस दिशा में काफी प्रेरणा मिली होगी। इसी से हरिपद चक्रवर्ती ने उसके धम्म के विषय में कहा है—

"Ashoka's religion was above all sectarian colours and it was marked with a cosmopolitan spirit and what he wanted to estabilish was Dharma, capable of universal application based on ethical principles of life".

(Early Brahmi Records in India p. 99)

इस प्रकार धम्म न धर्म विरोधी था न किसी विशेष धर्म से जुड़ा था। अशोक न नया धर्म संस्थापक बनना चाहता था न धर्म प्रचारक। उन पुराने (पोराण पकिति-स्त॰ ले॰, 7) जिसे पहले भी राजाओं ने धर्म वृद्धि के लिए अपनाया था।

अशोक और बौद्ध धर्म

अशोक के धर्म का सामाजिक पहलू 'धम्म' था जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है किन्तु उसका व्यक्तिगत धर्म भिन्न था। उसके व्यक्तिगत धर्म को ही साधारणतया संघ, सधर्म आदि नामों से इतिहास में सम्बोधित किया गया है। यही उसका व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म है।

अशोक के मगध के सिंहासन पर बैठने के समय बौद्ध, जैन, ब्राह्मण, आजीवक आदि धार्मिक

सम्प्रदाय समाज में विद्यमान थे। साथ ही, शैव आदि हिन्दू धर्म भी चल रहे थे। इसकी कारण इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है कि अशोक व्यक्तिगत जीवन में किस धर्म का अनुयायी था। इस विषय में निम्नांकित मत प्रचलित हैं—

1. फादर एच॰ हेरास के अनुसार अशोक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। इसीसे उसने अभिलेखों में प्रायः 'ब्राह्मण श्रमणानं' शब्द का प्रयोग किया है तथा इनके प्रति श्रद्धा रखने का उपदेश दिया है। पर यह अमान्य है क्योंकि अशोक ने कहीं भी अपने जीवन में कर्मकाण्डों को स्थान नहीं दिया और न यज्ञ तथा बलि को ही प्रश्रय दिया है।

2. बिलसन तथा थॉमस का मत है कि अशोक प्रारम्भिक जीवन में जैन धर्मावलम्बी था पर पीछे बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। किंतु इसके पक्ष में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

3. कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि अशोक अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में एक कट्टर शैव था पर पीछे बौद्ध बन गया। उसके क्रूरतापूर्ण विजयों के कारण यह मत सम्भव लगता है। इसकी पुष्टि उसके अभिलेखों से भी होती है कि वह पीछे बौद्ध बना।

अभिलेखों के आधार पर इतिहासकारों का भी यही विचार है कि अशोक अपने व्यक्तिगत जीवन में गद्दी पर बैठने के कुछ बाद बौद्ध धर्म का उपासक हो गया था। इस मत का समर्थन डॉ॰ भण्डारकर, डॉ॰ एम॰ बरुआ, डॉ॰ राधाकुमुद मुखर्जी और डॉ॰ हेमचन्द्र राय चौधरी आदि ने किया है। अशोक के व्यक्तिगत जीवन से ज्ञात होता है कि वह बौद्ध भिक्षु बन गया था। इसके लिए निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(i) अशोक के लघु शिलालेखों में बौद्ध देवताओं का नाम पाया गया है। जैसे—रूपनाथ में 'शाक्य', मास्की तथा सहसराम में 'बुद्ध शाक्य' रुम्मिनदेई में 'साक्यमुनी' आदि।

(ii) बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख आदर्श बुद्ध, धम्म और संघ के प्रति अशोक ने भावरु के शिलालेख में आदर और श्रद्धा प्रकट किया है—'बुधसि धमसि संघसि ति गालवे च पसादे च।' वहीं कहा है कि 'संघ को मैं अभिवादन करता हूँ।'

(iii) अशोक ने बुद्ध को 'भगवान' विशेषण से सम्बोधित किया तथा उनके वचनों को आप्त वचन बताया—'येन भगवता बुद्धेन भासिते सवे ते सुभासिते' (भावरू शि॰) अर्थात् भगवान् बुद्ध ने जो कुछ भी कहा है वस सब ठीक कहा है।

(iv) इसी भावरू के अभिलेख में अशोक ने यह भी कहा है कि 'मैं बुद्ध के सिद्धांतों का प्रचार करूँगा जिसका अनुसरण भिक्षु तथा भिक्षुणी करेंगे। इसीलिए मैं यह अभिलेख अंकित करता हूँ कि लोग मेरे अभिलेख से परिचित हो जायँ।' यह स्पष्ट शब्दों में उसके द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने की स्वीकृति है।

(v) अशोक ने विभिन्न बौद्ध तीर्थों की यात्रा किया। वह अपने राजत्व के 10वें वर्ष संबोधि तथा 20वें वर्ष में लुम्बिनी गया तथा इन स्थानों पर उसने बौद्ध प्रतीकों को विकसित किया जैसे निगलिवा में निर्मित स्तूप को दूना बढ़वाया। (ल॰ स्त॰ ले॰ निगलिवा सागर) लुम्बिनी में शिला प्रकार बनवाया तथा शिला स्तम्भ स्थापित कराया क्योंकि यहाँ बुद्ध पैदा हुए थे। (ल॰ स्त॰ ले॰ रुम्मिनदेई)

(vi) रुम्मिनदेई के लघु स्तम्भलेख में अशोक कहता है कि यहाँ भगवान् बुद्ध के जन्म लेने के कारण ही यहाँ के निवासियों से वसूले जाने वाले कर में से 1/8 भाग की छूट दे दी गई।

(vii) अशोक ने लघु स्तम्भलेख प्रमुख बौद्ध केन्द्रों में ही गाड़े गए—सारनाथ, कौशाम्बी, सांची, लुम्बिनी, निगलिवा आदि जो उसके बौद्ध धर्म के प्रति रुचि के परिचायक हैं।

(viii) अशोक ने साँची, भरहुत एवं सारनाथ आदि बौद्ध केन्द्रों में स्तूपों का निर्मित कराया।

(ix) साँची के तोरण पर एक मूर्ति उकेरी गई है जिसमें अशोक बौद्ध भिक्षु के वेश में रामग्राम के स्तूप की उपासना के लिए जाता हुआ प्रदर्शित है।

(x) बौद्ध तीर्थों में जाकर वहाँ के तीर्थ और प्रतीकों की उसने पूजा की। (ल० स्त० ले० रुम्मिनदेई तथा मिनगलिवा)

(xi) चीनी यात्री इत्सिंग ने अशोक की एक मूर्ति भिक्षु वेश धारण किए हुए देखा था।

(xii) अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति का आयोजन किया था जिसमें बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के सिद्धान्त निश्चित किए गये थे।

(xiii) बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बौद्ध प्रचारकों को विभिन्न टोलियों में विभक्त करके साम्राज्य के भीतर तथा देश के बाहर लंका, चीन, जापान, नेपाल, श्याम, मध्य एशिया आदि में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ प्रचारक भेजा। लंका में प्रचारार्थ अशोक की लड़की संघमित्रा तथा पुत्र महेन्द्र गये थे।

(xiv) भावरा के अभिलेख में बौद्ध धर्म की पुस्तकों का उल्लेख है जिनके सिद्धान्तों को सामान्य बौद्ध धर्मोपासक को अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है—

विनय समुकसे, अलियवसानि, अनागत भयानि, मुनिगाथा, मोनेय सुत्त, राहुलोबाद और उपतिसपसिन।

(xv) बौद्ध धर्म की मूल विशेषता—अहिंसावादिता को अशोक ने पूर्णरूप से अपने जीवन में उतारा। उसने शोरवे के लिए अपने भोजनालय में क्रमशः मांस पकाना बन्द करने की व्यवस्था किया और उसके लिए होने वाले पशुवध को भी प्रतिबन्धित किया। (शि० ले० 1) उसने युद्ध बन्द करने की घोषणा की जो इसकी पराकाष्ठा है।

(xvi) अशोक ने स्वीकार किया है कि गद्दी पर बैठने के 10 वर्ष बाद वह संबोधी हो गया था। (शि० ले० 8) रूपनाथ के शिलालेख में कहता है कि 'बौद्ध धर्म स्वीकार करने के ढाई वर्ष बाद तक मैं एक सामान्य उपासक रहा पर मुझमें कोई सुधार नहीं हुआ। एक वर्ष बाद जब से मैं संघ में प्रविष्ट हुआ हूँ तब से मैं धर्म के प्रति अधिक क्रियाशील हूँ।'

(xvii) अशोक की कलाकृतियों से भी उसके बौद्ध धर्मोपासक होने का प्रमाण मिलता है। इनमें अशोक स्तम्भों के शीर्ष भाग की मूर्तियाँ तथा चौकी के किनारे पर बनी आकृतियाँ प्रतीक रूप से बौद्ध धर्म की घटनाओं को व्यक्त करती है। यहाँ बने पाँच हंस उसके पाँच शिष्यों की कथा कहते हैं और कमल लता धर्म की सहिष्णुता का परिचय देती है। शीर्ष मूर्तियाँ सिंह—बुद्ध के वंश को, हाथी—माया के स्वप्न को, घोड़ा भगवान् के महानिष्क्रमण को और बैल-अहिंसावादी धर्म को व्यक्त करता है। इसी प्रकार सारनाथ की चौकी पर बने चक्र से धम्म प्रचार वहाँ से आरम्भ का व्यक्त होता है।

(xviii) अशोक का आदेश है कि जो भिक्षु या भिक्षुणी धर्म में विभेद उत्पन्न करने का प्रयास करेंगे उन्हें श्वेत वस्त्र धारण कराकर नगर से बहिष्कृत कर दिया जायगा। (प्रथम स्त० ले०) बौद्ध संघ के लिए अशोक की श्रद्धा और चिन्ता भी इसका द्योतक है।

(xix) निगलीवा सागर लघु स्तम्भ लेख में अशोक कहता है कि उसने पूर्वकालीन बौद्ध स्तूप जो 'कोनाकमुनीं' का था उसे विस्तृत कराया तथा उसकी पूजा के लिए वहाँ गया था।

(xx) मास्की अभिलेख में 'बुधुपासके' (बुद्ध का उपासक) तथा रूपनाथ में 'प्रकास सके' (प्रकाश्य शाक्य) कहकर स्पष्ट रूप से अपने को बौद्ध बताता है।

(xxi) यज्ञार्थ पशु बलि, समाज (उत्सव) बन्द कराना तथा उपोसथ (बौद्ध संस्कार) दिवस को पवित्र मानना इसी ओर संकेत करता है।

(xxii) सातवें स्तम्भ लेख के अनुसार धम्म महामात्रों की नियुक्ति जहाँ विविध सम्प्रदायों के लिए की गई है वहीं 'संघटसि' (संघ के हित में) पर बल दिया गया है। अर्थात् वह संघ का विशेष उत्थान चाहता है।

महावंस और दीपवंस के अनुसार अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके स्तूप और संघाराम बनवाया। द्विव्यावदान और अशोकावदान उसके बौद्ध-चरित्र को स्वीकार करते हैं। ह्वेनसांग के अनुसार वह बौद्ध होने के कारण इसे संरक्षण प्रदान करता था। तारानाथ अशोक के बौद्ध धर्मानुयायी क्रियाओं को उजागर करता है।

अशोक व्यक्तिगत जीवन में कलिंग युद्ध के बाद बौद्ध बना था। छठे स्तम्भ लेख में कहा है कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के ढाई वर्ष बाद जब मैं भिक्षु बना तब मुझमें उन्नति हुई और मैंने आज्ञाएँ प्रसारित करना प्रारम्भ किया। 13वें शिलालेख से ज्ञात है कि उसकी आज्ञाएँ राजत्व के 12वें वर्ष से प्रसारित हुई। अर्थात् साढ़े नौ वर्ष सिंहासन पर बैठने के बाद उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, जबकि कलिंग का युद्ध उसके सिंहासनारोहण के आठवें वर्ष हुआ था। पर कुछ विद्वानों का यह विचार है कि वह कलिंग-युद्ध के पहले से ही बौद्ध बन गया था, जो उचित नहीं लगता।

बौद्ध धर्म का प्रचार—कलिंग युद्ध के भयावह परिणाम से क्षुब्ध होकर अशोक का हृदय विदीर्ण हो गया और उसने परिस्थितियों से वशीभूत हो बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। पीछे उसने बौद्ध संघ में भिक्षु बन कर प्रवेश किया तथा बौद्ध वस्त्र भी धारण किया, जैसा ह्वेनसांग से ज्ञात है। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार का भी प्रयास किया और परिणामस्वरूप उत्तरी भारत का यह धर्म अपना स्थान बना कर जनता में भारत और भारत के बाहर भी एक प्रमुख धर्म के रूप में विकसित हुआ।

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने व्यक्तिगत साक्ष्य प्रस्तुत किया। जैसे—स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार किया, बौद्ध संघ में प्रवेश किया तथा भिक्षु वेष भी धारण किया। इसीसे विंसेण्ट स्मिथ ने इसे भिक्षु शासक (Monk Ruler) कहा है। अहिंसा के सिद्धान्त को अपने जीवन में उसने पूर्णतया उतारा। उसके महल में नित्य अनेकों पशु-पक्षियों की हत्या भोजनालय के लिए की जाती थी। पर बौद्ध धर्म के प्रभाव मे इस व्यवस्था को प्रतिबन्धित किया। उसके आज्ञानुसार अब केवल एक मृग और दो मयूर की ही हत्या की जाने लगी थी। इसे भी धीरे-धीरे बन्द कराने के लिए कहा है। अपने व्यक्तिगत साक्ष्य से जनता को अधिक प्रभावित किया क्योंकि उदाहरण उपदेश से अधिक प्रभावक होता है।

अशोक ने विहार-यात्रा को बन्द कर धम्म-यात्रा शुरू किया। विहार-पात्रा में लोग शिकार और मनोविनोद के लिए जाते थे पर धम्म यात्रा में लोगों का दुःख-सुख पूछा जाता था, धर्म का उपदेश दिया जाता था और तीर्थ स्थानों की यात्रा की जाती थी। अपने इसी यात्राक्रम में वह बोधगया, लुम्बिनी आदि तीर्थ स्थानों पर गया जो भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित हैं। धर्म के प्रचार पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा।

अशोक के समय में ही सम्भवतः बौद्ध धर्म में फूट होने लगी थी। इसे रोकने के लिए ही उसने गम्भीर शब्दों में कहा था कि 'जो भी भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट उत्पनन करेंगे वे कठोर दण्ड के भागी होंगे तथा उन्हें श्वेत परिधान पहना कर नगर के बाहर निकाल दिया जायगा।' भेद-भाव को ही दूर करने के लिए उसने पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन किया था, जिसके प्रमुख थे मोग्गलिपुत्त तिस्स और उपगुप्त।

जन-समुदाय को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए विमान, हस्ति, अग्नि, ज्योति-स्कन्ध आदि दिखाने की व्यवस्था का उल्लेख अभिलेख में है। डॉ॰ भाण्डारकर के अनुसार अशोक ने इन्हें दिखाने की बात मोगल्लान के अनुसरण पर किया होगा क्योंकि उसने इस धर्म में बहुत से लोगों को अपना शिष्य केवल स्वर्ग एवं नर्क की कथाएँ सुना-सुनाकर बनाया था। सम्भवतः इसी आदर्श पर इन्हें दिखाकर जनता को धर्म की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया गया होगा।

जनभावना को इस धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए उसने बौद्ध कला को अपने राज्य में प्रश्रय दिया। अशोक ने भगवान् बुद्ध के फूले पर बने पहले के स्तूपों से फूला निकलवाकर भरहुत, साँची आदि में स्तूप बनवाया। स्तम्भों के शीर्ष भाग पर की गई कलाकारिता में बौद्ध प्रतीक ही हैं। क्योंकि तब बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा प्रचलित थी जिसमें भगवान् के प्रतीकों की ही उपासना की जाती है। उनके शीर्ष पर बने हैं— सिंह, हाथी, घोड़ा और बैल क्रमशः बुद्ध के वंश, जन्म, संसार-त्याग और धर्म की सरलता को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार उसने इसका प्रचार सम्पूर्ण देश से इन्हें में करने के उद्देश्य से कला में स्थान दिया था। इसीलिए इन स्तम्भों को भारत के कोने-कोने में स्थापित कराया।

धर्म लिपि द्वारा उसने धर्म का प्रचार किया। अशोक के लघु-स्तम्भ लेख धर्म से सम्बन्धित आदेश देते हैं। भावरा के शिलालेख में स्पष्ट रूप से उसने बुद्ध, धर्म, संघ का अभिवादन किया है। कुछ अभिलेखों में बौद्ध ग्रन्थ्रों के महत्त्वपूर्ण वर्णित उपदेश एवं सिद्धान्तों को भी प्रसंगवत उत्कीर्ण कराया। भावरा के अभिलेख में सात बौद्ध ग्रंथों का उल्लेख है।[1] ये हैं—

1. विनय समुकस (विनय का समुत्कर्ष), 2. अलिय वसाणि (आर्य वंश), 3. अनागत भयानि (जो न हुआ हो उससे डरना), 4. मुनिगाथा (मुनियों का गाना), 5. मोनेय सूते (मुनियों का जीवन-गाथा), 6. उपतिसपसिन (उपतिष्यका प्रश्न) और 7. लाघुलोवाद (राहुलवाद)।

डॉ॰ भण्डारकर ने इन्हें ग्रन्थों का नाम बताया है।[2] उनके अनुसार अशोक ने धर्म से प्रेम रखने वाले कुछ बौद्ध-ग्रन्थों के पढ़ने का निर्देश दिया है। इस अभिलेख में वर्णित 'धर्मपर्याय' शब्द का अर्थ धर्म ग्रन्थ से लिया गया है। इस सन्दर्भ में विनय समुकस धम्मचक्क पवत्तमसुत्त से, अलियवसानि अंगुत्तर निकाय के अरियवंस से, अनागतभयानि भी अंगुत्तर निकाय के आर्यवंश से, मुनिगाथा सुत्तनिपात के मुनिसुत्त से, मौनेयसुत्त सुत्तनिपात के नालकसुत्त से, उपतिपसिन भक्तिमनिकायके रथविनीतसुत्त से तथा लाघुलोवाद भक्तिमनिकाय के राहुलोवाद सुत्त से सम्भवतः लिया गया है। इस प्रकार ये सात उपदेश सात धर्मग्रन्थों को इंगित करते हैं। फिर भी इन धर्मग्रन्थों के विषय में विद्वानों में मतभेद है जैसे—'विनय समुकस' को कुछ लोग पातिमोक्खसुत्त, (सुत्तनिपात), भझिमनिकाय

1. एडिक्ट्स ऑव अशोक : मूर्ति एवं आयंगर, पृ॰ 79,

2. अशोक : भण्डारकर, पृ॰ 88

का सारिसुत्त, दीघनिकाय का सिगालोवादसुत्त अथवा अंगुत्तर निकाय का अत्यवसवग्ग से तथा उपतिपसिन से अभिप्राय सुत्तनिपात के सरियुत्त सुत्त से लिया है।[1]

अशोक ने धर्म प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न भागों में प्रचारकों को भेजा। महादेव को महिषमण्डल में, महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र में, यवन धर्मरक्षित को जिसने बौद्धधर्म अंगीकार कर लिया था गुजरात में, रक्षित को बनवास (कनारा) में, मज्झिम को हिमालय प्रदेश में, सोम और उत्तर को बर्मा में, माध्यमिक को कशमीर में, महारक्षित को यवन राजा अंटिओक के राज्य में और अपनी लड़की संघमित्रा और पुत्र महेन्द्र को लंका भेजा था। इस प्रकार बौद्ध धर्म को भारत के कोने-कोने तथा विदेश में भी फैलाया। इनके साथ बहुत से लोग भी प्रचार कार्य के लिए भेजे गए थे। इनके अतिरिक्त बहुत-सी छोटी-छोटी प्रचारक टुकड़ियाँ भी भेजी गई थी जिनका संचालक बौद्ध-संघ था और संरक्षक अशोक।

पर अशोक ने कभी बौद्ध धर्म के लिए किसी पर दबाव नहीं डाला न उसे राज्य धर्म बनाया। बौद्ध धर्म के मानवतावाद, उसके सरल और व्यवहारिक सिद्धान्त, अहिंसा, करुणा और सत्कर्म पर उसने जोर दिया। इन तथ्यों से अशोक का शासन और उसकी नीति यदि बौद्ध धर्म से प्रभावित हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। साम्राज्य में अहिंसा का प्रचार, युद्ध न करने का संकल्प और प्रजा व पशुओं के कल्याण के लिए वृक्ष, स्पताल, सराय, कुएँ व जलाशयों का निर्माण कराना अशोक ने धर्म प्रचारक का अंग माना। अशोक की धार्मिक प्रवृत्ति ही उसके जनकल्याण व लोकहित की प्रेरणा सिद्ध हुई। अशोक बौद्ध होते हुए भी अन्य धर्मों का आदर करता, ब्राह्मण और श्रमणों का सम्मान करता और उन्हें दान देता था। आजीवकों के लिए भी उसने बराबर पहाड़ी मे गुहा भवन बनवाकर दान दिया था।

विदेश नीति

अशोक की विदेश नीति इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ने पड़ोसी राज्यों से मैत्री और शान्ति की नीति अपनाई थी। उनके बीच परस्पर दौत्य सम्बन्ध था। अशोक ने इस नीति को और भी व्यापक बनाया क्योंकि उसके पास विजयोन्मत्त शक्तिशाली सेना थी। ऐसे संगठित सेना से कोई भी सुदूर विजय का स्वप्न देख सकता था। अशोक के मन में उत्तर-पश्चिम के पड़ोसी राज्यों पर प्रभुत्व स्थापना की इच्छा उठना स्वाभाविक था। तत्कालीन स्थिति में भारत का राजनैतिक प्रभाव पश्चिमी एशिया पर फैल जाय ऐसी आशा करना मात्र कल्पना नहीं मानी जा सकती। किन्तु अशोक ने इस प्रकार के विचार को उठने ही नहीं दिया। उसने पड़ोस के विदेशी राज्यों में अपना राज्य स्थापित करने की बात सोची ही नहीं। अशोक ने सीमावर्ती सुदूर दक्षिण के राज्यों चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरल और ताम्रपर्णी आदि राज्यों की स्वतन्त्रता का आदर किया। नाभपंक्तियों और बनवासियों को अपनी ओर से निश्चिन्त और अभय रहने का सन्देश दिया। उसने घोषित किया कि वह उनके हित की कामना करता है और उनके छोटे-छोटे अपराधों तथा छेड़-छाड़ को क्षमा करेगा यद्यपि वह इनको दण्ड देने की स्थिति में है। जिससे ये राज्य अपने अनुसार विकसित होते रहें। उसने बताया कि इन राज्यों में दूत और धर्म प्रचारक भेजे जाएँगे जो वहाँ धर्म प्रचार एवं

1. देखिए हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर (खण्ड 2): वी० सी० ला० तथा बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स एज रिकमेंडेड बाई अशोक: वी० भट्टाचार्य

जन-कल्याण का कार्य करेंगे। इस प्रकार इनके प्रति उसने सह-अस्तित्व, समता और स्वतन्त्रता की नीति अपनाई। उसने अविकसित राज्यों को विकसित करना तथा पड़ोसी राज्यों के विकास की अपना उत्तरदायित्व समझा। सम्भवतः विश्व इतिहास में यह भावना पहले-पहल व्यवहार में अशोक द्वारा ही लायी गई थी।

मौर्य साम्राज्य के विपुल आर्थिक, तकनीकी, आध्यात्मिक और नैतिक साधनों का उपयोग पड़ोसी राज्यों के विकास, धर्म प्रचार, आध्यात्मिक व भौतिक सुख की वृद्धि, पशु और मनुष्यों के कल्याण, यातायात तथा चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध कराने में किया जाने लगा। (शि॰ ले॰ 2, 13) इसका परिणाम हुआ कि यद्यपि मौर्य साम्राज्य का अधिकार भले ही इन राज्यों में नहीं स्थापित हुआ पर मौर्य शासन के मूल सिद्धान्त, संस्कृति और कल्याणकारी कार्यक्रम यहाँ फैले। यहाँ भले ही सैनिक और प्रशासनिक विजय तो नहीं हुई पर नैतिक व सांस्कृतिक विजय परोक्ष रूप से हुई ही।

वह सुदूर दक्षिण के राज्यों के विजय के पक्ष में नहीं था। इसीलिए उसने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया (—हरिपद चक्रवर्ती)। उसने अपने पश्चिमी सीमा के बाहर बसे विदेशियों से सहज सम्बन्ध स्थापित किया था जैसे—ऐण्टीओकस नामक यूनानी राजा और दूसरे सामन्त शासक। (शि॰ ले॰ 2) शिलालेख 13 से ज्ञात होता है कि उसने अपने प्रशासन में इसी के लिए विदेश विभाग की स्थापना की थी। उसने दौत्य सम्बन्ध न केवल सीरिया के एण्टीओकस थीयस के साथ स्थापित किया था अपितु चार दूर के विदेशी राजाओं—मिस्र के टालमी II फिलाडेल्फस, यूनान के एण्टीगोनस गोनैटस, सिरिया के मग तथा इपिरस के एलेक्जेण्डर (सिकन्दर जिसे कुछ लोगों ने इसे कोरिंथ का शासक माना है)। उसने इन सभी राज्यों में धम्म विजय के प्रचारार्थ दूतों को भेजा था। चतुर्थ शिलालेख के अनुसार संक्षेप में कहा जा सकता है कि उसने भेरिघोष के स्थान पर धम्मघोष को स्वीकार किया तथा शिलालेख 13 के अनुसार उसने धम्मविजय को ही प्रधान विजय माना।

इसका परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य का प्रशासकीय अधिकार इन स्वायत्तशासित राज्यों में भले ही नहीं स्थापित हुआ पर इसका मूल सिद्धान्त-सांस्कृतिक और कल्याणकारी कार्यक्रम यहाँ फैल गया। इसी सहस्तित्व, शान्ति और लोकहित के सिद्धान्तों पर आधारित नीति को पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण-पूर्व यूरोप के यूनानी राज्यों के प्रति व्यवहरित किया। इसने मिस्र, मेसिडोन, सीरिया, अल्बानिया तथा लीबिया के यूनानी राज्यों में धर्म-प्रचारक दूत भेजे, वहाँ सड़के बनवाने, चिकित्सा की सुविधा प्रदान करने तथा दवाओं के उपजाने और भेजने का कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय चिकित्सक, इन्जीनियर, धर्म-प्रचारक भारतीय दूतावास के संरक्षण में वहाँ के स्थानीय अधिकारियों की सहायता से जनकल्याण के कार्यक्रम का सम्पादन करने लगे। भारत ने पहले-पहल अशोक के समय में ही अन्तरराष्ट्रीय जगत में सार्वजनिक विकासप्रद जन-कल्याण के कार्यों में तन, धन और मन से भरपूर सहयोग देने की नीति का शुभारम्भ किया। आज अत्यन्त विकसित राज्यों का कर्तव्य माना जाता है कि वे अल्प-विकसित और अविकसित राज्यों के विकास में सहयोग दें। इसी में उनका और विश्व का हित निहित है अन्यथा अत्यन्त विकसित राज्यों के पड़ोसी अल्प विकसित राज्यों के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। यह भारत का गौरव है कि आज से करीब बाइस सौ वर्ष पहले अशोक ने इस सत्य को पहचान कर अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का सच्चा मार्ग प्रदर्शक बना। पर पता नहीं अशोक की यह दूरदर्शी नीति कहाँ तक सफल हुई। फिर भी इस नीति निर्धारण तथा व्यवहार के लिए अशोक के प्रति यह विश्व सदा ऋणी रहेगा। अन्तरराष्ट्रीय जगत में सद्भावना, सहयोग और समता के उसके प्रयास सदा प्रेरणा देते रहेंगे।

शासन सम्बन्धी सुधार

शासन के आदर्श—उसने शासन के कुछ नवीन आदर्श स्थापित कर अपने शासन की नई इमारत खड़ी किया। इस प्रकार यह भारत का पहला ऐतिहासिक शासक है जिसने शासन में प्रशासनिक दर्शन को पहले-पहल स्थापित किया और उसके बाद सुधार के नये आयाम को। इसके पूर्व वह मेगस्थनीज तथा अर्थशास्त्र द्वारा वर्णित नौकरशाही व्यवस्था को यथावत चलाता रहा। द्वितीय शिलालेख में अशोक ने कहा है—सवेमनुषे पजा ममा (सभी मनुष्य मेरे पुत्र हैं)। रोमीला थापर के अनुसार मौर्यों के केन्द्रीय राज्यतन्त्र ने अशोक के समय पैत्रिक निरंकुशतन्त्र का रूप धारण कर लिया था। पर इस कथन में कितना दम है नहीं कहा जा सकता। इससे इनकार भी नहीं कर सकते कि अशोक एक निरंकुश शासक था पर वह साथ ही उदारचेता भी था। उसकी निरंकुशता व्यक्तिजनित थी उत्पीडन सर्जित नहीं। उसका आशय अहं की तुष्टि नहीं था पर लोकल्याण का हठात राज्य में निष्पादन। अतः निरंकुश होकर भी वह स्वार्थपरक हठधर्मी नहीं था। इसका कारण है कि उसने अपने शासन में राजा और प्रजा में दूरी के स्थान पिता और पुत्र का स्नेह बाँटा।

वह प्रजा को अपना पुत्र (पजा) बताया। फिर पिता अपने पुत्र के हित और सुख के लिए भला कब निश्चेष्ट हो सकता है। वह अपने को सार्वभौम पिता मानता था तभी वह कहता है—'सर्वे मनुषे पजा ममा।' 'सवे मनुषे' से अभिप्राय है सभी मनुष्यों से चाहे कोई भी कहीं का रहने वाला हो।

दूसरी ओर उसका प्रयास था कि प्रजा का राजा के प्रति दृढ़ भक्ति हो। इसके पीछे कारण था कि इसके अभाव में 16 सीमान्त राज्यों तथा तक्षशिला में अपने पिता के समय विद्रोह देख चुका था। इसीसे वह प्रजा के कल्याण में जुटा रहता था कि वे राजा में अपना विश्वास रखें। यह दृष्टिकोण उसने अपने छठे शिलालेख में स्पष्ट किया है।

तीसरे उसने शासन सूत्र को अपने हाथों में केन्द्रित रखा था। जन-जीवन के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर भी उसका नियंत्रण था। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि अशोक एक निरंकुश शासक था। इसने बार-बार अपने आदेशों पर होने वाले विरोधों के स्वागत की बात किया और तद्नुसार उनमें परिवर्तन का आश्वासन दिया।

चौथे उसने अपने ऊपर अंकुश रखने के लिए परिषा की महत्ता को स्वीकारा है। वह बराबर आत्मनिरीक्षण करता रहता था और जनता से सम्पर्क बनाए रखता था कि उसे ज्ञात हो कि उसके कार्यों का जनता पर क्या प्रभाव हो रहा है। उसे तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करते समय यह अनुभव था कि असंतुष्ट प्रजा से राजा का स्थायित्व खतरे में हो जाता है।

पाँचवाँ आदर्श था जनता के कार्यों को तत्काल निपटाना। इसके लिए न उसके स्वयं वरन् अपने कर्मचारियों को भी आदेश दे रखा था कि उनकी समस्याएँ तत्काल उसके समक्ष निपटारे के लिए प्रस्तुत की जायें। (शि० ले०, 6) उसने यह भी कहा है कि उसके कर्मचारी जनता के सुख और कल्याण के लिए सदा उसी प्रकार तत्पर रहें जैसे—कुशल धाय बच्चे की प्रसन्नता का ध्यान रखती है। (स्त० ले०, 4) इसी से डॉ० आर० के० मुकर्जी के शब्दों में 'ऐसे आदर्श वाला शासक अपने परिषद की अपेक्षा अपनी प्रजा के प्रति अधिक उत्तरदायी होता है।' (...practically more representative of his people than the so-called representative assembly or legislature in a regular democracy.)

छठाँ आदर्श था कि उसकी जनता का कल्याण केवल इसी लोक में ही न हो पर दूसरे लोक में भी वह सुख प्राप्त कर सके। इसीलिए उसके अभिलेखों में 'हिदलोकिक च पाललोकिक' की बात बार-बार दुहराई गई है।

सातवाँ आदर्श था कि राजा अपने को प्रजा का ऋणी समझे। इसी से छठे शिलालेख में कहता है कि वह जो कुछ भी करता है वह जनता के कल्याण के लिए करता है कि वह प्रजा के प्रति ऋण से अपने को उऋण कर सके।

आठवाँ आदर्श था जन-सम्पर्क। इसी के लिए जहाँ उसने कर्मचारियों के 'अनुसंयान' (स्थानान्तरण) की बात की वहीं उनको अपने क्षेत्र में जाकर जनता में नैतिकता के प्रचार करने का भी आदेश दिया और स्वयं भी 'पुछिल-पुच्छा'—घूमकर लोगों से सुख-दुःख पूछने की परम्परा चालू किया।

शासन सुधार—इन आदर्शों की स्थापना के साथ उसने जन-कल्याणकारी राज्य की आधारशिला रखी और शासन में निम्न सुधार किया—

1. नये अधिकारियों की नियुक्ति किया, यथा—धर्ममहामात्र, राजुक, प्रादेशिक, युत् आदि।

2. उसने जेल से बन्दियों को निश्चित समय पर मुक्त करने का आदेश दिया।

3. पशुओं के बन्ध्याकरण, पशु वध तथा हाथी और मछलियों के पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगाया।

4. शस्त्र विजय को बन्द कर धम्म विजय की स्थापना किया।

5. दूतों को जनता के बीच अपने आदर्शों के प्रचार के लिए भेजता था।

6. जनकल्याण का कार्य किया—वृक्ष लगवाया, तालाब बनवाया, कूएँ खुदवाया, मनुष्यों और पशुओं के चिकित्सा की व्यवस्था किया, औषधियों की व्यवस्था किया।

7. अधिकारियों के कार्यों की निगरानी की व्यवस्था की गई। इसके लिए पाँच-पाँच वर्ष पर महामात्र निगरानी के लिए भेजे जाते थे!

8. न्याय सरल किया गया। वृद्धों, बीमारों, जिनके अधिक पुत्र हों, जो राज्यकार्य में दक्ष हों उनके साथ सहृदयता के व्यवहार का आदेश दिया गया। क्रूरता की मनाई गई। निरपराध को दण्ड देने से रोका गया।

9. उसने 'अनुसंयान' की व्यवस्था की। यह आज की तरह अधिकारियों के तरह स्थानान्तरण की व्यवस्था थी। इसके पीछे कारण था कि एक स्थान पर नियुक्त अधिकारी अधिक प्रभावी होते जाते थे जैसा तक्षशिला में विद्रोह के समय वहाँ के लोगों ने कहा था।

10. 'परिषा' नामक संस्था को विशेष महत्त्व दिया गया। (शि० ले० 36) सेनार्ट के अनुसार इससे अभिप्राय एक संघ से है। व्यूलर में इसे जातीय या वर्गीय संगठन बताया है। इसको राजा के कार्यों पर विचार करने, उसको उचित या अनुचित बताने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। अहोक ने कहा है कि जो आदेश उन्हें उचित न प्रतीत हों उसकी सूचना उसे तत्काल दे। इसका कार्य था—1. राजा की आज्ञा का कार्यान्वियन, 2. अधिकारियों को आदेश देना और निरीक्षण करना, 3. लेखा-विभाग पर पकड़ रखना, 4. राजाज्ञा को बदलने का सुझाव देना, 5. महामात्रों से मतैक्य होने पर राजा को निर्णय सूचित करना। दान के समय तथा महामात्रों को अवश्य कार्य सौंपने के समय इनकी उपस्थिति आवश्यक थी।

नए अधिकारियों की नियुक्तियाँ

1. महामात्र—अशोक के अभिलेखों से महामात्रों की कई कोटियाँ ज्ञात होती हैं। कुछ प्रशासन के उच्च पद से जुड़े थे और कुछ विभिन्न विभागों के अधिकारी थे कुछ सीधे राजा के अधीन छोटे प्रदेशों के अधिकारी थे जैसे कौशाम्बी का महामात्र। वहीं इसिलिसा के महामात्र जिलाधिकारी ज्ञात होते हैं विभिन्न विभागों से जुड़े होने के कारण इनके निम्न प्रकार मुख्य हैं—

धर्ममहामात्र—अशोक के सिंहासनारोहण के 13वें वर्ष में ये नियुक्त किए गए थे। डॉ॰ हरपद चक्रवर्ती के अनुसार (a new type of officers known as 'Dharma–Mahamatras were appointed by the emperor himself as his representatives.) 'अपने प्रतिनिधि के रूप में नए अधिकारियों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की गई थी।' स्मिथ ने इसका अनुवाद सेंसर्स (Censors = नियंत्रक) किया है। अभिलेखों में इसके निम्न कार्य बताए गए हैं—(1) धार्मिक सम्प्रदायों की अभिवृद्धि और संरक्षण, (2) राज्यपरिवार के कर्त्तव्य, उनके द्वारा प्रदत्त दान, धार्मिक सहायता की प्रेरणा देना तथा उनमें धर्म की भावना की स्थापना, (3) प्रत्यन्त राज्यों, वर्णों, जातियों के कर्तव्य और हित सुख की वृद्धि करना तथा धर्माधिकारियों की कठिनाई को दूर करना, (4) बन्दी गृह की व्यवस्था करना तथा बन्दियों के हित एवं सुख का ध्यान रखना, (5) यह देखना कि प्रशासन के लोग अपने पद का दुरुपयोग न्याय आदि में न करे। (शि॰ ले॰ 5, 12, 13 तथा स्त॰ ले॰ 7)

स्त्रियाध्यक्ष महामात्र—ये स्त्रियों के लिए नियुक्त किए जाते थे कि उनके हित एवं सुख का ध्यान रखें। कौटिल्य के अनुसार व्यवसाय में लगी स्त्री का ध्यान इन्हें रखना होता था चाहे वे गणिकाएँ ही क्यों न हों। डॉ॰ रायचौधरी के अनुसार इनसे अभिप्राय है पत्नियों के रक्षक या राजमहल में औरतों के निरीक्षक से।

वचभुमिक महामात्र—प्राकृत 'वच' का संस्कृत 'व्रज' होता है। डॉ॰ हरिपद चक्रवर्ती ने इसे पशुओं का झुण्ड माना है। यह चरागाह का निरीक्षक रहा होगा। सम्भवतः चरागाहों में चरने वाले पशुओं पर यह कर निर्धारण करता होगा। हापकिंस के अनुसार राजा स्वयं बड़ी संख्या में पशु रखता था तथा उनकी निगरानी वर्ष में कुछ निश्चित समय करता रहता था। डॉ॰ बरुआ के अुनासर वचभुमिक से अभिप्राय है हस्तिसवार, रथकार आदि से। इनका अभिप्राय है उन कर्मचारियों से जो राजा की आज्ञाओं को जनता तक पहुँचते थे। शि॰ ले॰ 12 के अनुसार ये धम्म प्रचार में धम्ममहामात्र की सहायता करते थे।

अन्तमहामात्र—स्त॰ ले॰ एक में इसका उल्लेख है। शि॰ ले॰ 13 में अन्त शब्द का अभिप्राय है सीमा प्रदेश। अतः अन्तमहामात्र सीमा के प्रदेशों के राज्यों के साथ दौत्य सम्बन्ध में सहयोग देने थे तथा सीमान्त और बाहर के प्रदेशों में धर्म, दया, दान और अशोक की नीति का प्रसार करने के लिए होते थे।

व्यवहारिक महामात्र—इनका सम्बन्ध न्याय व्यवस्था से था।

2. रज्जुक—न्याय व्यवस्था का यह प्रमुख अधिकारी था क्योंकि 'व्यवहार समता' और 'दण्डसमता' के लिए नियुक्त था। इसके कार्यों का उल्लेख चौथे स्तम्भलेख में किया गया है। यह सम्भवतः राज्य का न्यायाधीश था। ये कई हजार व्यक्तियों के ऊपर नियुक्त किए जाते थे कि दण्ड और दान स्वतंत्रतापूर्वक दें। इन्हें अधिकार था कि मृत्युदण्ड पाए हुए लोगों को सुविधा प्रदान के निमित्त प्राणदण्ड से तीन दिन पूर्व, जिनके सम्बन्धी नहीं हैं, उनकी मुक्ति के लिए याचना करें अथवा

यदि उनको दान देने या उपवास की इच्छा हो तो यह सुविधा प्रदान करें। उसने राज्यारोहण के सत्ताइसवें वर्ष में रज्जुकों को यह अधिकार प्रदान किया था। धर्म प्रचार भी इनका कार्य था। प्रजा के कल्याण के लिए रज्जुक राजा का प्रतिनिधि होता था। हरिपद चक्रवर्ती ने इन्हें जिलाधीश माना है। चौथे स्तम्भलेख के 'जनपदस हिते सुखाय' से स्पष्ट है कि ये ग्रामीण क्षेत्रों की व्यवस्था से विशेष रूप से जुड़े थे तथा कृषि और भूमि-विवाद को देखते थे। इन पर धर्म महामात्रों का अंकुश होता था। (शि० ले० 5) डॉ० आर० के० मुखर्जी के अनुसार ये प्रान्तीय गवर्नर थे। डॉ० अल्टेकर ने इन्हें वर्तमान मण्डलाधिकारी अथवा जिलाधीश माना है। डॉ० बरुआ के अनुसार यह केन्द्रीय सरकार के महामात्र वर्ग का एक अधिकारी था। डॉ० सरकार तथा नीलकण्ठ शास्त्री ने इन्हें रज्जुग्राहक मंत्री कहा है।

3. युत—शि० ले० 3 में युत, रज्जुक और प्रादेशिक का एक साथ उल्लेख किया गया है। यह आर्थिक व्यवस्था का प्रधान अधिकारी होता था। यह कोष की देख-रेख करता, सम्पत्ति का निरीक्षण करता तथा लेखा-जोखा रखता था। यह लेखा विभाग का भी हिसाब रखता था। वास्तव में यह एक छोटा अधिकारी था जो राजस्व और शान्ति की देख-रेख करता था। यह प्रत्येक पाँच-पाँच वर्ष पर दौरा करके धर्म की शिक्षा देता था। हरिपद चक्रवर्ती के अनुसार वह क्लर्क तथा गणक का कार्य करता था। बरुआ के अनुसार यह राज्य के अर्थ तथा अन्नागार का व्यवस्थापक था। अर्थशास्त्र में इसे गणक माना गया है।

4. प्रादेशिक—विद्वानों के विचार में यह प्रान्तीय शासन का प्रधान था। गवर्नर के नीचे इसका स्थान होता था। आज के कमिश्नर से इसकी समता कर सकते हैं।

5. प्रतिवेदक और पुरुष—पुरुष का कार्य था अशोक के उपदेशों का अनुसरण करना तथा सद्कार्यों के लिए प्रेरित करना। प्रतिवेदक का कार्य था प्रत्येक समय तथा स्थान पर राजा को जनता के कार्यों की सूचना देना। ये एक प्रकार से गुप्तचर थे तथा राजा और प्रजा के बीच की कड़ी थे।

केन्द्र और प्रान्तों में इनके अतिरिक्त प्रतिवेदिका, लिपिकर, दूत, दायक (कोषपति); सावक (राज्यादेशों को जनता तक पहुँचाना), नगरव्यवहारक (नगर का न्यायाधीश) आदि अन्य कर्मचारियों का भी उल्लेख है।

मौर्य साम्राज्य के पतन में अशोक का दायित्व

महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री के अनुसार अशोक के ब्राह्मणों के प्रति दमनकारी नीति के कारण ब्राह्मण विरोध इतना उग्र हो गया कि इस वंश के शासन का अन्त कर ब्राह्मण राजवंश की स्थापना हुई। इसके समर्थन में उनके तर्क निम्न हैं—

(1) यज्ञों में ब्राह्मणों के पौरोहित्य में होने वाले पशु-बलि को अशोक ने बन्द कराया जो ब्राह्मण कर्मकाण्ड और उनकी आर्थिक स्थिति पर आघात था।

(2) प्रथम ब्रह्मगिरि लघु शिलालेख की पंक्ति 'इमाय कालाय जमबुदिपसि अभिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा'का अर्थ शास्त्रीजी ने किया है—'इस समय जम्बुद्वीप के जो सत्य देवता थे वे भी झूठे (मिसा) कर दिए गए। उनके विचार में ब्राह्मण जो पृथ्वी के देवता थे, उन्हें अब झूठा कर दिया गया। इससे वे असंतुष्ट हो गए थे।'

(3) धर्म प्रचार ब्राह्मणों का मुख्य कार्य था इस कार्य को करने के लिए अब धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की गई जिसे धर्म में अपना वर्चस्व घटनसे से वे क्रुद्ध हुए।

(4) अशोक के 'दण्ड समता' और 'व्यवहार समता' को ब्राह्मणों ने अपने अधिकार के विरुद्ध माना क्योंकि न्याय में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था।

(5) मौर्यों के शूद्र होने से ब्राह्मण उसे राज्य का उपयुक्त अधिकार नहीं मानते थे।

डा० राय चौधरी ने शास्त्री जी के इन विचारों के विरोध में निम्न तर्क दिए हैं—

(i) ब्राह्मण ग्रंथ मुण्डकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद बलि व्यवस्था को कर्मकाण्ड मानकर इसकी भर्त्सना करते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रंथों में स्वयं इसका विरोध है। साथ ही अशोक ने कहीं भी 'बलि' शब्द का उल्लेख नहीं किया है। उसने प्राणियों की हत्या का सदा विरोध किया है जिसे शास्त्रीजी ने बलि मान लिया है।

(ii) मौर्य शूद्र नहीं थे। वे क्षत्रिय थे।

(iii) प्रथम ब्रह्मगिरि अभिलेख में 'अमिसा' और 'मिसा' शब्दों का प्रयोग अभिश्रित और मिश्रित अर्थ में हुआ है जिसको शास्त्री जी ने 'असत्य' और 'सत्य' अर्थ में सेनार्ट के अनुवाद के अनुसार लिया है, जो गलत है।

(iv) महामात्रों की नियुक्ति से ब्राह्मणों के अधिकार छीनने की बात शास्त्री जी ने गलत सोचा है। इनकी नियुक्ति इस कारण नहीं वरन् पाखण्डों तथा धार्मिक कट्टरता के कारण उत्पन्न विभेदों को दूर करने के लिये किया गया था।

(v) सभी शासक अपनी प्रजा के व्यवहार और दण्ड समता की बात करते हैं किन्तु प्रजा को पुत्रवत मानने वाला अशोक उनमें भेद कैसे कर सकता था। इसका सम्बन्ध ब्राह्मणों के अधिकार हनन से नहीं लिया जा सकता। दूसरे न्याय में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार पर शास्त्र भी एकमत नहीं हैं।

(vi) यह कहना कि अशोक के हटते ही ब्राह्मणों ने मौर्य शासकों विद्रोह किया गलत है क्योंकि जालौक और अशोक के दूसरे पुत्रों में पूर्ण सौहार्द्र था तथा वृहद्रथ मौर्य का सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण था। पुष्यमित्र शुंग का मौर्य वंश के अन्त और शुंग वंश की स्थापना में कोई हाथ नहीं था वरन् मौर्य सेना का सम्राट के प्रति उदासीनता का परिणाम था। पुष्यमित्र शुंग का अश्वमेघ यज्ञ ब्राह्मण प्रतिक्रिया का नहीं वरन् ब्राह्मण धर्म के अनुपालन में था।

अशोक के दायित्व के सम्बन्ध में जो अन्य निम्न आक्षेप किए गए हैं वे भी तर्कों के ऊपर निराधार हैं—

(i) अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में बेतहाशा पैसा खर्च किया। पर वास्तव में सम्प्रति ने तो जैन थर्म के प्रचार में कोष ही खाली कर दिया।

(ii) रोमीला थापर का कहना कि इस समय अधिकारी न प्रशिक्षित थे और न चयन प्रक्रिया के आधार पर रखे जाते थे। किन्तु अर्थशास्त्र परीक्षण द्वारा चयनित अधिकारियोंकी नियुक्ति की बात करता है जो इस समय भी लागू रहा होगा।

(iii) अशोक ने विशाल साम्राज्य स्थापित किया था जिसे उसके उत्तराधिकारी संभाल नहीं पाए। यह दोष अशोक का नहीं था।

(iv) अशोक ने अधिकारियों जैसे रज्जुक आदि को पूर्ण स्वतंत्र छोड़ दिया था जो उसके बाद

उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों को निर्बल देख अपने क्षेत्र में अपने को स्वतंत्र घोषित कर लिया जैसे सुभगसेन ने काबुल में, यज्ञसेन ने विदिशा में आदि। पर यह केन्द्रीय सत्ता के ढील का कारण था। अशोक के समय ऐसा कुछ नहीं हुआ था।

(v) अशोक ने सैन्य व्यवस्था को ढीला कर दिया था जिससे उसके बाद यह घातक सिद्ध हुई और विदेशी आक्रमणकारी भारत की ओर बढ़े जैसे यवन। किन्तु अशोक ने सेना को शिथिल नहीं किया था। युद्ध न करने पर भी उसने आटविकों और नाभपंक्तियों को सेना का भय दिखाकर दण्ड देने की बात कहा था कि यदि वे उसको तंग करेंगे तो वह उन्हें दंड देगा। दूसरी ओर पड़ोसियों को भरसक क्षमा करने की बात कहता है। यह वही कह सकता है जिसमें स्वयं बल हो। यह बिना सेना के सम्भव नहीं था।

(vi) अशोक ने अधिकारियों को उनके कार्य में भले ही स्वतंत्र किया था किन्तु वह उन पर कड़ी निगरानी रखता था। साथ ही स्वयं प्रजा के बीच जाकर उनका कुशल-क्षेम पूछता रहता था

(vii) वृहद्रथ मौर्य की हत्या का आरोप अशोक की नीति को दिया जाता है। पर वास्तव में, यह वृहद्रथ की ही अयोग्यता और मूर्खता का परिणाम था।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अशोक को मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह काल-चक्र का क्रम है कि विकास के बाद पतन होता है। उसी क्रम में उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों के दोषों के इकट्ठा कारणों से साम्राज्य का पतन अवश्यंभावी हो गया।

●

शुंग अभिलेख

1. बेसनगर गरुड़ध्वज अभिलेख
(Base Nagar Garuda Pillar Inscription)

स्थान : बेसनगर[1] जिला–भिलसा, (विदिशा), मध्य प्रदेश

भाषा : प्राकृत (संस्कृत प्रभावित)

लिपि : ब्राह्मी

काल : राजा भागभद्र के शासन के 14वें वर्ष का (लगभग 2 शती ई० पू०)

विषय : यवन दूत हेल्योडोरस द्वारा तक्षशिला से आकर विदिशा में गरुड़ध्वज की स्थापना

सन्दर्भ : आ० स० इ० (ए० रि) 1908-9, पृ० 126, भण्डारकर, जे० वी० आर० ए० एस०, 23, पृ० 104

मूल पाठ

I

1. [दे]वदेवस वा[सुदेव]स गरुडध्व्जे अयं
2. कारिते इ[अ]हेलिओदोरेण भाग-
3. वतेन दियस पुत्रेण तख्खसिलाकेन
4. योन-दूतेन [आ] गतेन महाराजस[2]
5. अंतलिकितस उपन्ता सकासं रञो
6. कासी-पु[त्र]स[3] [भा] गभसद्र त्रातारस[4]
7. वसेन च[तु]दसेन राजेन वधमानस[5] (।।)

II

1. त्रिनि अमुत-पदानि [इअ] [सु]-अनुठितानि

---

1. प्राचीन आकर पूर्वी मालवा की राजधानी प्राचीन विदिशा।
2. भारतीय शासकों की उपाधियाँ महाराज, राजतिराज, पीछे महाराजाधिराज विदेशी शासकों में प्रचलित हुई। भागवत पुराण में भागभद्र पाँचवा शुंग शासक था.
3. भण्डारकर का पाठ : कोसीपुत्रस, (कौत्सीपुत्रस्य). वोजोल=कासीपुत्र, बाल्ख-कौसीपुत्र। सम्भवतः भागभद्र की माता का गोत्र 'कस' था।
4. यूनानी शब्द 'सोटेरास' (जो यवन शासकों के सिक्कों पर उपाधि अंकित है) का सम्भवतः यह संस्कृत रूपान्तरण है। इससे लगता है कि यूनान शासक हेल्योडोरस ने ही इसका आलेख तैयार कराया होगा।
5. भण्डारकर का इस पंक्ति का पाठ वासिना मझ[दे]से नईराजे नवध[ ]मा[नुसा] [सनाय*]

2. नेयंति [स्वगं] दम-चाग अप्रमाद[1] (।।)

संस्कृत छाया

I

देवदेवस्य वासुदेवस्य गरुड-ध्वजः अयं कारितः इह हेलियोदोरेण भगवतेन दियस्य पुत्रेण तक्षशिलाकेन यवन दूतेन आगतेन महाराज अंतलिकितस्य उपान्तात् सकाशं राज्ञः काशीपुत्रस्य भागभद्रस्य त्रातुः वर्षेण चतुर्दशेन राज्येन वर्द्धमानस्य।

II

त्रीणि अमृत पदानि इह सुअनुष्ठितानि नयन्ति स्वर्गं—दमः त्यागः अप्रमादः।

हिन्दी अर्थान्तर

I

1. देवताओं में श्रेष्ठ वासुदेव का यह गरूड-ध्ल्ज
2. स्थापित किया गया हेल्योडोरस (Heliodoros) द्वारा
3. दियस (Diou) के पुत्र भागवत धर्मानुयायी तक्षशिला के
4. यवन दूत ने आकर महाराज
5. अंतलिकितस (Antialkidas) के समीप से राजा
6. काशीपुत्र के भागभद्र के
7. चौदहवें वर्धमान राज्य काल में

II

1. तीन अमृत पद ये सुअनुष्ठान के द्वारा
2. स्वर्ग में ले जाते हैं—दम, त्याग और अप्रमाद।।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह स्तम्भ-लेख मध्य प्रदेश के भिलसा जिले के समीप स्थित बेसनगर से प्राप्त हुआ है। इस स्थान का प्राचीन नाम विदिशा था। यह दशार्ण या पूर्वी-मालवा की राजधानी 'आकर' नाम से भी जानी जाती थी। प्राचीन भारतीय इतिहास में इस स्थान का विशेष महत्त्व है। इस अभिलेख की लिपि दूसरी शती ई० पू० की ब्राह्मी है तथा इसकी भाषा संस्कृत प्रभावित प्राकृत है। यह दो खण्डों में लिखा है। एक खण्ड में सात पंक्तियाँ हैं तथा दूसरे में दो। दूसरा भाग अंकित करने का कारण है कि इस अंश को महाभारत से उद्धृत किया है। अतः मौलिक लेख से उद्धृत अंश को अलग करने के लिए यह विभाजीकरण किया गया होगा। इसके लेखक का नाम तथा इसकी तिथि नहीं दी गई है। मात्र संकेत मिलता है कि यह स्तम्भ भागभद्र (?) के शासन के 14वें वर्ष में यवन दूत हेल्योदोरस द्वारा स्थापित किया गया था।

धार्मिक दृष्टि से यह स्तम्भ लेख अपने अन्तरनिहित तथ्यों तथा गरुड़ध्वज की स्थापना और

---

1. मिलाइए – दमत्यागोऽप्रमादय एतेष्वमृतमाहित्तम्। (महा०, फ. ४३, २२) अप्पमादी अमतपदं पमादो सच्चुनो पदं धम्मपद II, तथा गीता, 160/1-3

गरुड़चिह्न अंकित होने के कारण तत्कालीन समाज में **वैष्णव धर्म की व्यापकता पर प्रकाश डालता है**। एक तो इस स्तम्भ पर गरुड़ अंकित है जो विष्णु का वाहन है। अतः इसे विष्णु के प्रतीक के रूप में लिया गया है। यहाँ गरुड़ का अंकन वैष्णव धर्म की महत्ता का बोधक है। दूसरे, इस लेख की प्रथम पंक्ति में अंकित—'गरुड़ध्वजे अयं कारिते....' से स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म के विशेष प्रयोजन से ही यह गरुड़-ध्वज स्थापित किया गया था। तीसरे, यहाँ वैष्णव धर्म के प्रमुख देवता वासुदेव का उल्लेख है। वासुदेव पाणिनि के अनुसार वासुदेवकों के उपास्य देव थे। (अष्टा०, सूत्र 4|3|98) पातंजलि के अनुसार यह ईश्वर का नाम बताया गया है। यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने भी वासुदेव-कृष्ण (हेरोक्लीज) की उपासना का उल्लेख किया है। चौथे, यहाँ वासुदेव की उपाधि 'देवदेवस' दी गई है जिससे यह अभिलेख प्रारम्भ होता है। इसका अभिप्राय है कि यह देवताओं में प्रमुख देवता हैं। अतः यह विशेषण परिचायक है कि अन्य देवताओं की अपेक्षा यहाँ इस वैष्णव देवता को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। पाँचवें, यहाँ कृष्ण का नाम न लेकर वासुदेव का नाम लेना स्पष्ट करता है कि लीलामय कृष्ण के रूप की उपासना के स्थान अब उनके गौरवपूर्ण स्वरूप वासुदेव की उपासना पर बल दिया जाने लगा था। छठे, इसकी दूसरी पंक्ति में उल्लिखित 'इअ' (= यहाँ) से स्पष्ट होता है कि विदिशा, जहाँ यह स्तम्भ गाड़ा गया है, वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र था। सातवें, अभिलेख की दूसरी और तीसरी पंक्ति में 'हेलिओदोरेण भागवतेन' अंकित है। यहाँ स्पष्ट है कि हेलिओदोर (= हेल्योडोरस) जो एक यवन था भागवत धर्म का अनुयायी था तभी इसके साथ विशेषण 'भागवतेन' का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भागवत धर्म का प्रसार विदेशियों में भी हो गया था। आठवें, यह तक्षशिला के विदेशी राजा अंतलिकित का दूत था। इसकी समता यूनानी शासक एण्टीअलकाइडस से की जाती है। इससे ज्ञात होता है कि मथुरा और उसके पड़ोसी भागों के अतिरिक्त विदेशियों द्वारा शासित भारत के पश्चिमी भाग में भी वैष्णव धर्म का प्रसार होने लगा था। वहाँ के रहने वाले विदेशियों ने भी इसे स्वीकार किया था। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर पश्चिमी प्रदेश में इस समय वैष्णव धर्म के प्रचार का कोई दूसरा प्रमाण इस अभिलेख के अतिरिक्त प्राप्त नहीं है। नवें, अभिलेख का दूसरा भाग स्वर्ग दिलाने वाले जिन तीन मार्गों का उल्लेख करता वे महाभारत (5|43|22) तथा गीता (160|1-3) से लिए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि विदेशियों में भी भारतीय वैष्वण ग्रंथों की मानयता थी। उनकी शिक्षाओं के लिए उनका अध्ययन किया जाता था।

इस **अभिलेख का राजनीतिक प्रभाव** भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि जब मध्य प्रदेश में शुंगों का शासन अन्तिम चरण में था तो उस समय पश्चिमी भारत में यवन-बख्त्रियों का शासन था। दूसरे, उस समय वहाँ का यवन शासक अन्तलिकित (Antialkaidas) था। पर यहाँ इस शासक के विषय में कुछ और ज्ञात नहीं होता। तीसरे, यह भी ज्ञात होता है कि हेल्योडोरस तक्षशिला का यवन राजदूत था जो अन्तलिकित के समीप से यहाँ आया है। सम्भवतः अभिलेख का यह अन्तलिकित ही भारतीय-यवन शासक अन्टीअल्काइडस है। पश्चिमी भारत में इस समय यवन आ चुके थे तभी पातंजलि कहते हैं कि—'अरुनद यवनः साकेत, अरुनद यवनों माध्यमिका'। इस यवन राजा का वहाँ होना उस क्षेत्र में यूनानी शासन को स्पष्ट करता है। पर इस शासक की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। अनुमानतः इसे ई० पू० दूसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में रखा जा सकता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस राजा के बहुत से सिक्के पंजाब से प्राप्त हुए हैं। चौथे, दूसरी ओर विदिशा में भारतीय शासक काशीपुत्र 'भागभद्र' के होने का ज्ञान मिलता है। माल्विकाग्निमित्र के अनुसार इस समय विदिशा में शुंगवंशीय राजाओं का राज्य था। अतः भागभद्र

भी शुंगवशीय राजा ही रहा होगा। किन्तु पुराणों से जो शुंग राजाओं की वंश-तालिका प्राप्त होती है उसमें इस राजा का कहीं नामोल्लेख नहीं है। पर ब्रह्माण्ड पुराण में 'भद्र' तथा भागवत पुराण में 'भद्रक' या 'भड़क' का नाम आता है जिसे वसुमित्र का उत्तराधिकारी तथा शुंग वंश का पाँचवाँ शासक बताया गया है। सरजान मार्शल ने इसी से भागभद्र की समता की है। पर यह ग्राह्य नहीं है क्योंकि इसका शासन काल 2 अथवा 7 वर्ष उल्लिखित है जबकि यह अभिलेख भागभद्र के शासन के 14वें वर्ष का उल्लेख करता है। डॉ॰ भागवतशरण उपाध्याय के अनुसार यह शुंगवंशीय शासक पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी 'ओद्रक' अथवा 'भागवत' में से कोई रहा होगा। पुराणों के अनुसार 'ओद्रक' अथवा 'आद्रक' इस वंश का पाँचवाँ शासक था और 'भागवत' नवाँ। किन्तु पुष्यमित्र शुंग के बाद के शुंगवंशीय शासक भागवत से जो पुराणों की तालिका में शुंगवंश का नवाँ शासक है तथा जिसका शासनकाल 32 वर्ष था, नागभद्र की समता डॉ॰ जायसवाल ने स्थापित की है। भण्डारकर, रामप्रसाद चन्दा तथा डॉ॰ राजबलि पाण्डेय भी इसी मत के पोषक हैं। पर डॉ॰ रायचौधरी ने इसे उचित नहीं माना है क्योंकि बेसनगर से ही एक दूसरे गरुड़ स्तम्भ की प्राप्ति हुई है जो महाराजा भागवत के राज्यारोहण के बारहवें वर्ष में उत्कीर्ण है। यह उचित नहीं प्रतीत होता कि एक ही स्थान से दो वर्षों के अन्तर में प्राप्त दो अभिलेखों में एक ही राजा के दो नाम भागवत और भागभद्र अंकित हों। इस आधार पर उन्होंने काशिपुत्र (कौत्सीपुत्र) भागभद्र से भिन्न इसे विदिशा का शासक स्वीकार किया है। लगभग इसी समय की लिपि में अंकित राजस्थान के अजमेर जिले के बरली नामक स्थान से प्राप्त एक लेख में राजा भागवत का उल्लेख है। अतः डॉ॰ चौधरी का मत उचित प्रतीत होता है कि भागभद्र की समता भागवत या भागशुंग से नहीं की जा सकती। इस परिप्रेक्ष्य में कुछ लोग इसे शुंगवंश की मूलशाखा का शासक न मानकर स्थानीय शासक होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।

इसका पाँचवाँ राजनीतिक महत्त्व यह प्रतीत होता है कि वख्त्री यवनों ने भी पुष्यमित्र के समय गंगा घाटी में विजय में, सिकन्दर के सेनापति सिल्युकस की तरह की नीति के अनुसार पहले आक्रमण किया किन्तु जब स्वयं को असफल पाया तो पुनः जैसे सिल्युकस ने चन्द्रगुप्त से मैत्री की थी उसी प्रकार शुंग शासकों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। छठे, इस लेख से अन्टीअलकाइडस तथा यवन शासकों के तिथि निर्धारण में सहायता मिलती है। यह दौत्य सम्बन्ध इनकी मैत्री का ज्वलन्त प्रमाण है। सातवें, यहाँ देखते हैं कि भागभद्र को त्रातारस (= यूनानी सोटरस) विशेषण से सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है रक्षक, जो अन्तलिकित या किसी दूसरे समकालीन यूनानी शासक के लिए प्रयोग नहीं किया गया है। लगता है कि अन्तलिकित किसी संकट में पड़कर भागभद्र से सहायता मांगा था तथा भागभद्र की सहायता से ही उसकी रक्षा हुई थी तभी त्रातारस विरुद इसके लिए यूनानी दूत के लेख में प्रयोग किया गया है। पर यह स्पष्ट नहीं कि वह संकट क्या था ?

किन्तु इन दोनों शासकों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुका था। इसके दो प्रमाण इस अभिलेख से प्राप्त होते हैं—जहाँ इस विदेशी शासक के लिए भारतीय उपाधि 'महाराजा' प्रयुक्त है वहीं भारतीय शासक भागभद्र के लिए यूनानी विशेषण 'त्रातारस' का प्रयोग हुआ है। 'त्रातारस' यूनानी राजाओं के लिए प्रयुक्त उपाधि सोटेरस का संस्कृत रूपान्तर प्रतीत होता है। डॉ॰ सरकार ने त्रातारस के प्रयोग किए जाने का एक और कारण बताया है कि इस अभिलेख की मूल रचना किसी यूनानी द्वारा की गई होगी जो सम्भवतः हेल्योदीर स्वयं हो सकता है। दूसरी ओर हम यह देख चुके हैं कि यवन बस्तियों में भी वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार था। डॉ॰ राजबलि पाण्डेय के अनुसार

इससे ज्ञात होता है कि संकीर्णता के अभाव के कारण उस समय भारतीय धर्म का द्वार बाहर वालों के लिए बन्द नहीं था।

इस अभिलेख के दूसरे खण्ड में तीन अमृत पदों—दम, त्याग और अप्रमाद के समुचित रूप से अनुष्ठान करने की चर्चा की गई है। लगता है यह खण्ड उपदेशात्मक हो। दम, त्याग और अप्रमाद के पालन का आदेश महाभारत में भी दिया गया है—दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमहितम्। (5|43|23) इसी से मिलता-जुलता उपदेश धम्मपद से भी प्राप्त होता है—अप्पमादो अमेतपदं पमादो मच्चुनो पदं। (2|1) डॉ॰ रायचौधरी के अनुसार महाभारत के इस उद्धरण को यहाँ अंकित कराने से ज्ञात होता है कि वह यूनानी दूत संस्कृत भाषा जानता होगा।

वैष्णव धर्म का विकास

यह अभिलेख वैष्णव धर्म के विकास के इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डालता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारतीय तथा विदेशी समाजों में वैष्णव धर्म का प्रचलन था क्योंकि भारतीय शासक द्वारा शासित भूमि पर यूनानी राजदूत द्वारा यह वैष्णव ध्वज स्थापित है। इसमें वैष्वण धर्म के प्रमुख देवता वासुदेव (कृष्ण) का उल्लेख है जिसे 'देवदेवस' कहा गया है। इस धर्म का प्रतीक चिह्न गरुड़ इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर अंकित है। साथ ही इसमें वैष्णव धर्म के तीन प्रमुख आदर्श दम, त्याग और अप्रमाद का उल्लेख है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने इन्हीं पदों से अन्धकार के विनाश तथा अलौकिक प्रकाश के प्राप्ति की बात की है। यह दूसरी शताब्दी ई॰ पू॰ में वैष्णण धर्म के स्वरूप को व्यक्त करता है जब कृष्ण की उपासना पुरुषोत्तम के रूप में की जाती थी न कि गोपी बल्लभ लीलामय कृष्ण के रूप में जो रास रचाते थे।

वैष्णव धर्म की उत्पत्ति प्रारम्भ में नारायण नामक एक अवैदिक देवता से बतायी गई है जिसने पीछे वैदिक देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। बाद में इसे आदिपुरुष माना गया और भागवत नाम से भी सम्बोधित किया गया। इसी से यह सम्प्रदाय पीछे भागवत धर्म के नाम से भी जाना जाने लगा। भागवत देवता के लिए पंचरात्र सत्र किया जाता था जिससे पीछे पंचरात्र सम्प्रदाय का इसमें विकास हुआ।

बाद में वैदिक देवता विष्णु जो ऋग्वेद में इन्द्र के सहायक बताए गये हैं तथा उनका स्थान नीचे था, इस धर्म में समाहित होकर इसके प्रमुख देवता हो गये। यह नारायण के साथ रूप और कार्यो में साम्य के कारण एकाकार हुए और अब नारायण विष्णु के नाम से जाने लगे। पीछे इसमें वासुदेव की उपासना प्रारम्भ हुई जो वैदिक देवता नहीं थे अपितु मथुरा के पास पूजे जाने वाले एक यादव वीर थे। ये वृष्णियों के प्रधान थे जो वसुदेव और देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे जिन्हें कृष्ण नाम से भी जाना जाता है। महाभारत में इनके युवाकाल का वर्णन है जबकि पुराणों में इनकी बाललीलाओं का। मौर्य काल में मेगस्थनीज ने बताया है कि यमुना (जोबरेस) नदी के किनारे शूरसेनों (सौरसेनोई) में कृष्ण की पूजा वासुदेव नाम से की जाती थी। अतः मौर्यो के पहले से वासुदेव की उपासना का चलन इससे सिद्ध होता है। वासुदेव को पाणिनि के समय से ही साम्प्रदायिक देवता स्वीकार किया गया था। पातंजलि ने पाणिनि के सूत्र 'ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुम्यश्र' (4|3|98) पर भाष्य करते हुए कहा है कि अंधक-वृष्णियों द्वारा वासुदेव की पूजा की जाती थी। वासुदेव अब केवल एक क्षत्रिय नहीं रह गये वरन् एक उपास्य देव के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। डॉ॰ हरिपद चक्रवर्ती के अनुसार कहा जा सकता है कि मूल रूप में यदुवंशी वीर वासुदेव लगभग 150 ई॰ पू॰, पातंजलि के काल

में देवता के रूप में पूजे जाने लगे तथा अपने महत्त्वपूर्ण चरित्र के कारण अपना प्रभाव अत्यन्त सभ्य यूनानी जाति पर भी दूसरी शती ई॰ पू॰ में स्थापित किए। (अर्ली॰ ब्राह्मी रेकार्डस इन इण्डिया, पृ॰ 109)

चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ में वासुदेव धर्म की उपासना मथुरा में प्रचलित थी। पर तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ में इस धर्म के बहुत कम उपासकों का ज्ञान यहाँ प्राप्त होता है। दूसरी शताब्दी ई॰ पू॰ में तो इस धर्म का पूर्ण प्रचार भारत के पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेशों में हो चुका था। पर भारत के दूसरे भागों में इसका प्रचार लगभग नगण्य ही लगता है। इसका कारण कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ तक यह धर्म स्थानीय धर्म के रूप में प्रचलित था। यहीं से प्राप्त एक दूसरे स्तम्भ लेख के अनुसार यहाँ भागवत के मन्दिर होनेका भी ज्ञान प्राप्त होता है। डॉ॰ डी॰ आर॰ भण्डारकर के अनुसार इस मन्दिर के भग्नावशेषों को 156 ई॰ पू॰ में रखा जा सकता है। (ए॰ एस॰ आई॰ आर॰, 1914-15, पृ॰ 66) पीछे इसका क्षेत्र व्यापक हुआ और भारत के सीमा प्रदेशों पर स्थित विदेशी जातियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

इस बेसनगर गरुड़ध्वज अभिलेख से ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ई॰ पू॰ में वैष्णव धर्म के प्रमुख देवता वासुदेव थे जिनके लिए 'देवदेवस' विशेषण का प्रयोग यहाँ हुआ है जिसका अभिप्राय है सभी देवताओं में श्रेष्ठ। यह कृष्ण-वासुदेव से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। यहाँ उल्लेख है कि पाणिनि ने सम्मिलित रूप से वासुदेव और अर्जुन सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। पर दूसरी शती ई॰ पू॰ के इस लेख में अर्जुन का नाम हटाकर केवल वासुदेव का ही उल्लेख है। अतः यह अभिलेख वैष्णव धर्म के विकास का दूसरा चरण प्रदर्शित करता है।

इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर गरुड़ पक्षी की आकृति अंकित है। गरुड़ सूर्य का भी प्रतीक है। अतः सूर्य-उपासना और वासुदेव की पूजा के बीच इस समय घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो चुका होगा। डॉ॰ विन्सेण्ट स्थिम के अनुसार रोम की कला में निर्मित 'ईगल' (Eagle) की प्रतिमा गरुड़ के रूप में यहाँ निर्मित की गई है। किन्तु यह धारणा गलत प्रतीत होती है क्योंकि यह पक्षी भारतीय गरुड़ है जिसका सम्बन्ध पौराणिक ग्रन्थों में वैष्णव धर्म के साथ बताया गया है तथा जिसकी चर्चा इस अभिलेख में हुई है। इस भारतीय धर्म के साथ विदेशी भावना को जोड़ना अत्यन्त अनुचित और अप्रासंगिक है।

इस अभिलेख में दम, त्याग और अप्रमाद का उल्लेख है। ये अमृत पद स्वर्ग प्राप्ति के साधन बताए गए हैं। गीता और महाभारत के उद्योग पर्व में भी इसका उल्लेख है। पुनः डॉ॰ बर्नेट के अनुसार दम, त्याग और अप्रमाद ये तीनों वैष्णव धर्म के तीन आदर्शों को व्यक्त करते हैं।

यह अभिलेख वासुदेव तथा विष्णु की एकता को प्रमाणित करता है— 'गरुड़ध्वजे अयं कारिते' तथा वासुदेव के प्रतीक पूजा के रूप में विष्णु के वाहन गरुड़ को भी स्वीकार करता है। इसी समय के मध्य प्रदेश के विलासपुर जिले के मल्हर ग्राम से एक विशालकाय चतुर्भुजी विष्णु-वासुदेव की मूर्ति प्राप्त हुई है जिस पर द्वितीय शताब्दी ई॰ पू॰ की ब्राह्मी लिपि का एक लेख अंकित है। महाभाष्य में केशव और कुबेर के मन्दिरों का उल्लेख है। केशव वासुदेव और विष्णु का ही नाम है तथा राम उनके अवतार हैं। राजस्थान में वासुदेव विष्णु सम्प्रदाय बहुत पहले से प्रचलन में रहा होगा तभी वहाँ के नगरी और घोषुण्डी अभिलेखों, में जो इसी काल के हैं, वासुदेव सम्प्रदाय के होने का तथा इसके मन्दिर का उल्लेख है। इसी काल के नरवर्मन के मन्दसोर अभिलेख में महान देवता वासुदेव-

कृष्ण की प्रशंसा की गई है। नानाघाट से प्राप्त एक अभिलेख में इन्द्र, संकर्षण और वासुदेव इन तीनों देवताओं का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। यहाँ वासुदेव का उल्लेख ब्राह्मण देवता इन्द्र के साथ किया जाना दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित होने का द्योतक है। लगता है कि दोनों धर्मों के देवताओं का परस्पर सम्मिलन हो चुका था। बौद्धायन धर्मसूत्र से भी भागवत धर्म के वासुदेव का सम्बन्ध नारायण विष्णु से होने का ज्ञान मिलता है। इसी से गरुड़ चिह्न नारायण विष्णु के साथ सम्बन्धित हो चुका था। कृष्णा जिले के चिन्नगर से इन समय के प्राप्त एक अभिलेख में वासुदेव की स्तुति की गई है तथा गुण्टूर जिले से प्राप्त एक पल्लव अभिलेख में भगवत् नारायण के देवकुल का उल्लेख है। यद्यपि डा॰ के॰ डी॰ वाजपेयी के अनुसार अभी तक इन प्रमाणों की प्राप्ति के अभाव में ऐसी धारणा थी कि वासुदेव कृष्ण सम्प्रदाय का अंकन इस समय भारतीय कला में नहीं था जो अब निर्मूल हो गई है।

विदेशियों में भी इस धर्म का प्रचार था जैसा इस अभिलेख से स्पष्ट है। मथुरा के अतिरिक्त पंजाब, पश्चिमी सीमा प्रदेश तथा मध्य एशिया में भी इस धर्म का विस्तार हो चुका था। अतः पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में स्वदेशियों तथा विदेशियों के बीच यह धर्म फैल चुका था।

2. धनदेव का अयोध्या प्रस्तर अभिलेख

(Ayodhya Stone Inscription of Dhandeva)

स्थान : अयोध्या, जिला–फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

भाषा : संस्कृत (अशुद्ध-प्राकृत प्रभावित)

लिपि : ब्राह्मी

काल : प्रथम शती ई॰ पू॰ का उत्तरार्द्ध

विषय : पिता फल्गुदेव की मृत्यु पर पुत्र धनदेव द्वारा स्मारक की स्थापना

सन्दर्भ : इ॰ इण्डि॰ 20, पृ॰ 57, जायसवाल, जे॰ बी॰ ओ॰ आर॰ एस॰ 10, पृ॰ 202-89

मूल-पाठ

1. कोसलाधिपेन द्विरश्वमेध-याजिनः सेनापतेः[1] पुष्यमित्रस्य षष्ठेन[2] कोशिकीपुत्रेण धन (देवेन)[3]
2. धर्मराज्ञा[4] पितुः फल्गुदेवस्य केतन[5] कारितं (॥)

---

1. पुष्यमित्र के अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख महाभाष्य तथा माल्विकाग्निमित्र में हुआ है। इनमें भी इसकी उपाधि 'सेनापति' है। सम्भवतः पेशवाओं की तरह की गद्दी प्राप्त करने के बाद भी इसके यह उपाधि नहीं छोड़ी।
2. इसका अभिप्राय है मातृ पक्ष की ओर से पुष्यमित्र से छठे पीढ़ी में न कि पुष्यमित्र का छठा भाई। संस्कृत में इसके लिए 'पुष्यमित्रात्' का प्रयोग होना चाहिए पर यह प्रयोग 'पुष्यमित्रस्य' पालि प्रभाव के कारण है।
3. इसका पाठ कर सकते हैं : धनदेवन, धनदेन, धनकेन, धननन्दिना, धनभूतिना, धनमित्रेण, धनदत्तेन, धनदासेन आदि। पिता नाम फलादेव होने से किन्तु पाठ ठीक लगता है। धनदेवेन वह अयोध्या का स्थानीय शासक लगता है।
4. पाठ : धर्मराजेन
5. एक भवन या स्तम्भ ध्वज-स्तम्भ में फल्गुदेव की स्मृति में उसकी समाधि भूमि पर बना हुआ।

हिन्दी अर्थान्तर

1. कोशल के राजा दो अश्वमेघ यज्ञ करने वाले सेनापति पुष्यमित्र के छठे कौशिकी के पुत्र धनदेव द्वारा

2. धर्मराज पिता फल्गुदेव का निकेतन बनवाया गया।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह अभिलेख फैजाबाद जिला (उ० प्र०) के अयोध्या से फैजाबाद जाने वाली सड़क पर अयोध्या से लगभग एक मील दूर बने रणोपाली भवन मे बाबा सन्तबख्श की समाधि के पूर्वी द्वार के चौखट ललाट (सिरदल) से प्राप्त हुआ है। लगता है यह कहीं वहीं उत्कीर्ण कराया हुआ मिट्टी में दबा होगा जिस शिलापट्ट का प्रयोग पीछे अनजाने में इस चौखट में किया गया होगा। इसका उद्धार किसी इतिहासज्ञ की दृष्टि पड़ने पर हुआ होगा।

यह अभिलेख कोशल के राजा धन (देव ?) द्वारा खुदवाया गया है जो पुष्यमित्र की पीढ़ी का है। इसमें 'धन' के बाद का भाग टूटा है। पर इसके पिता का नाम यहाँ फल्गुदेव स्पष्ट है। अतः उसके पुत्र का नाम धनदेव ही रहा होगा। इस नामधारी राजा के सिक्के अयोध्या से प्राप्त हुए हैं तथा बनारस के राजघाट की खुदाई से इस नामवाले राजा की मुहरें भी मिली हैं। अतः यह कल्पना कि धनमित्र, धनदत्त, धनदास अयोध्या के शासक थे, के स्थान धनदेव नाम ही प्रामाणिक प्रतीत होता है।

शुंग वंश के इतिहास में इस अभिलेख का विशेष महत्त्व है क्योंकि यही एकमात्र ऐसा अभिलेख प्राप्त है जिसमें पुष्यमित्र की उपाधि 'सेनापति' दी गई है तथा उसके द्वारा किए जाने वाले दो अश्वमेघ यज्ञों का उल्लेख है। साथ ही शुंग राजाओं की धार्मिक नीति तथा वंशपरम्परा पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। यह संस्कृत भाषा का दो पंक्तियों का लघु-शिलालेख के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

कालिदास के माल्विकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस सन्दर्भ में उसने अपने पुत्र अग्निमित्र को एक पत्र लिखा था जो यज्ञ के उद्देश्य को स्पष्ट करता है। उसमें लिखा है—'स्वस्ति ! इस मण्डप से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित अपने पुत्र आयुष्मान अग्निमित्र को स्नेह से आलिंगन कर यह आदेश देता है—विदित हो, राजसूय की दिशा के लिए मेरे द्वारा सैकड़ों राजपुत्रों से प्रवृत्त वसुमित्र की संरक्षता में एक वर्ष के भीतर लौट आने के विधान से यज्ञीय घोड़ा छोड़ा गया था। वह सिन्धु नद के दाहिने तट पर विचरता हुआ अश्वारोही सेना से युक्त यवन शासक द्वारा पकड़ा गया। इसके पश्चात् यवन सेना तथा वसुमित्र की सेना में घनघोर युद्ध हुआ। धनुर्धर वसुमित्र ने शत्रुओं को विजित कर बलपूर्वक मेरा अश्वमेध का घोड़ा छुड़ा लाया। जिस प्रकार अंशुमान द्वारा लाए हुए घोड़े से उनके पिता महासगर ने यज्ञ किया था उसी प्रकार मैं भी यज्ञ करूँगा। इस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए प्रसन्नचित होकर तुम्हें बहुओं के साथ यहाँ आना चाहिए।' प्रस्तुत अभिलेख में भी पुष्यमित्र के लिए विशेषण प्रयुक्त है—'द्विरश्वमेधयाजिनः' अर्थात् दो अश्वमेधयज्ञ करने वाला। इससे प्रमाणित होता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेधयज्ञ किया था जबकि माल्विकाग्निमित्र (अंक 5) से एक ही अश्वमेधयज्ञ का ज्ञान प्राप्त होता है जो यवनों को वहिष्कृत करने के लिए हुआ था। पर यहाँ उल्लिखित दूसरे अश्वमेध यज्ञ का प्रयोजन स्पष्ट नहीं

होता। डॉ॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में उल्लिखित वहस्पतिमित्रि की समता पुष्यमित्र से मानकर खारवेल को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन बताया है। उनके विचार में चूँकि पुष्यमित्र खारवेल से पराजित हो गया था अतः उसको अपनी प्रतिष्ठा के रक्षार्थ दूसरा अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा था। डॉ॰ राजबलि पाण्डेय के अनुसार जायसवाल की 'यह प्रतिस्थापना बड़ी ही संदिग्ध' है। उनकी दृष्टि में लिपि-विज्ञान के आधार पर खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख की तिथि पुष्यमित्र के समकालीन नहीं ठहराई जा सकती। अतः खारवेल को पुष्यमित्र के समकालीन नहीं रखा जा सकता। उसके द्वारा पुष्यमित्र के समय मगध पर आक्रमण का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः हम यह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार नक्षत्र और स्वामी की समता का प्रतिस्थापन कर डॉ॰ जायसवाल ने पुष्यमित्र की समता हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्णित बहस्पतिमित्र से स्थापित की है उससे लगता है कि यहाँ पूर्वाग्रहपूर्वक खींचा-तानी की जा रही हो या कोई ज्यामितिक हल निकाला ज़ा रहा हो, जिसे सर्वथा मान्य नहीं ठहराया जा सकता। आगे हाथीगुम्फा अभिलेख के अध्ययन मे यह देखेंगे कि वह अन्य प्रमाणों से भी पुष्यमित्र का समकालीन नहीं सिद्ध हो सकता। इसी से डॉ॰ पाण्डेय के मतानुसार यह 'उसका दूसरा यज्ञ पूर्णार्थ ही था' क्योंकि दूसरा अश्वमेधयज्ञ पूर्णार्थ होने का शास्त्रीय विधान है। डॉ॰ पुरुषोत्तम लाल भार्गव ने माना है कि पुष्यमित्र ने पहला यज्ञ मगध सिंहासन को हस्तगत करने तथा यवनों के आक्रमण को विफल करने के उपलक्ष में किया होगा। अतएव दूसरे अश्वमेधयज्ञ का उद्देश्यपूर्ण पूर्णार्थ ही माना जा सकता है। पर डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार पहला अश्वमेधयज्ञ 'उसने वृहद्रथ-वध और अपने सिंहासनारूढ़ होने के शीघ्र बाद और दूसरा मिलिन्द के आक्रमण के पश्चात् किया था'। इस प्रकार उनकी राय में माल्विकाग्निमित्र में वर्णित अश्वमेधयज्ञ दूसरा अश्वमेध है जो ग्रीक शासक के पराजय से सम्बन्धित है। पातज्जलि ने भी अपने महाभाष्य में लिखा है कि—'अरुणद यवनः साकेतम्। अरुणद यवनो माध्यमिकाम्'—अर्थात् यवनों ने साकेत घेर लिया था और माध्यमिका घेर लिया था। उसने आगे यह भी कहा है कि—इह पुष्यमित्रं याजयामः, अर्थात् हम पुष्यमित्र को यज्ञ करा रहे हैं। लगता है कि दूसरे अश्वमेधयज्ञ का ऋत्विज् महर्षि पातञ्जलि ही था। अतः डॉ॰ उपाध्याय का विचार अधिक उचित प्रतीत होता है कि साम्राज्य स्थापनार्थ उसने पहला यज्ञ किया था तथा बलापहारी यूनानियों के वहिष्कारार्थ दूसरा। हरिवंश पुराण में भी एक सेनानी द्वारा कलियुग में यज्ञ की परम्परा को पुनः स्थापित करने का उल्लेख है। यह सेनानी दूसरा कोई नहीं अपितु पुष्यमित्र ही रहा होगा।

इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि जो यज्ञ बहुल वैदिक परम्परा नन्दों से पूर्व ही कुण्ठित हो चुकी थी जिसका कोई ज्ञान मौर्य शासकों के समय नहीं मिलता वहीं फिर अब प्रारम्भ हो गई। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव के कारण ही यज्ञ परम्परा लगभग समाप्त प्राय थी। उसे इस ब्राह्मण धर्मानुयायी ने पुनः विकसित किया। इसीलिए इस पर बौद्धों द्वारा आक्षेप किया जाता है कि यह नास्तिकों का पौरोहित्य करने वाला तथा बौद्धों का शत्रु था—(लामा तारानाथ)। ऐसी ही बात दिव्यावदान से भी ज्ञात होती है जहाँ वह घोषित करता है कि—'यो मे श्रमणशिरं दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि' (जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसको मैं सौ दिनार दूँगा)। पर ये सारे कथन एकपक्षीय प्रतीत होते हैं क्योंकि उसके शासन काल में बौद्ध कलाकृतियाँ भरहुत, साँची तथा बोधगया में विकसित हुईं। अनेक बौद्ध धर्मावलम्बियों ने इस कला के निर्माण में आर्थिक सहयोग दिया जिनका नाम उन स्तूपों की सूचियों तथा कार्ले की गुफाओं में अंकित है। भरहुत अभिलेख में

राजा धनभूति द्वारा स्तूप के तोरण के निर्माण का उल्लेख है। मथुरा स्तम्भ लेख से ज्ञात है कि धनभूति द्वितीय भी बौद्धधर्म का अनुयायी था। इनके अतिरिक्त गृहस्थ बौद्धों और भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा भी दान का उल्लेख मिलता है। पर उपर्यकित प्रसंग में डब्ल्यू॰ डब्ल्यू॰ टार्न का विचार उचित प्रतीत होता है कि वह कट्टर ब्राह्मण-नीति के कारण बौद्धों का विरोधी नहीं था बल्कि पश्चिमी भारत के बौद्धों की देशद्रोही नीति के ही कारण उसने केवल उसी क्षेत्र के बौद्धों का विरोध किया क्योंकि वे यवन आक्रमणकारियों को भारत पर आक्रमण के हेतु आमन्त्रित किये थे। यदि उसकी नीति बौद्धधर्म के विरोध की होती तो वह दिव्यावदान में दी गई अपनी घोषणा को स्यालकोट से प्रसारित न करके राजधानी पाटलिपुत्र से ही उद्घोषित करता। उसने किसी भी मौर्यकालीन बौद्ध कला का जो उसके राज्य में पहले से ही पल्लवित थी क्षति नहीं पहुँचाई। अतः वह ब्राह्मण होकर भी एक धर्म-सहिष्णु शासक कहा जा सकता है, बौद्ध विरोधी नहीं।

इस अभिलेख का प्रारम्भ 'कोशलाधिपेन' शब्द से होता है। पर यह विशेषण है जिसका अर्थ है—कोशल का राजा। इससे स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र के इस शासक का अधिकार कोशल पर भी था। यहाँ कोशल को विशेष रूप से सम्बोधित करना इस बात का परिचायक है कि यह उसके साम्राज्य का दूसरा प्रशासनिक महत्त्व का स्थान रहा होगा जहाँ पुष्यमित्र का प्रतिनिधि धनदेव शासन कर रहा था, जिसके लिए यह उपाधि प्रयुक्त है।

यहाँ दूसरी उपाधि है—'सेनापतेः।' यह उपाधि पुष्यमित्र के लिए प्रयोग की गई है। उसे राजा न कहकर सेनापति कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि शुंगवंशीय किसी शासक का सेनापति था वरन् डॉ॰ भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार सेना से पुष्यमित्र का अधिक लगाव था। वह वृहद्रथ मौर्य का सेनापति था। इसीके इशारे पर मौर्य सेना ने वृहद्रथ मौर्य की हत्या कर इसको अपना शासक नियुक्त किया। यह भी सम्भव है कि सैनिक शासन का प्रधान होने के कारण उसने अपनी पूर्व उपाधि 'सेनापति' ही धारण करना अधिक पसन्द किया हो न कि राजा कहलाना। यही उपाधि उसके लिए साहित्य में भी मिलती है। माल्विकाग्निमित्र में भी उसकी उपाधि सेनापति ही दी गई है। बहुत बाद की कृतियों यथा वाणभट्ट के हर्ष चरित तथा पुराणों में भी इसको इसी उपाधि से सम्बोधित किया गया है। श्री शंकर पाण्डुरंग और विल्सन ने सेनापति विरुद के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पुष्यमित्र कभी राजा था ही नहीं। उसका राजत्व कोरी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।' किन्तु इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यहाँ पुष्यमित्र से छठां पिता फल्गुदेव तथा माता कौशिकी के पुत्र धर्मराज धनदेव का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इस वंश में धनदेव नामक एक राजा ने शासन किया था। पुराणों के अनुसार शुंगवंश में पुष्यमित्र से लेकर दस शासकों ने शासन किया। पर इनकी तालिका में धनदेव का उल्लेख नहीं मिलता। साथ ही, इस अभिलेख में धनदेव की उपाधि 'कौशलाधिपेन'—कोशल का शासक होने से उसके कोशल के माण्डलिक शासक होने की सम्भावना की जा सकती है। किन्तु यहीं उल्लिखित 'पुष्यमित्रस्य ष्ठेन' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद स्थिति उत्पन्न करता है। इस समास से यह सन्दिग्ध है कि वह पुष्यमित्र का छठा लड़का था या उसकी छठी पीढ़ी का शासक। रत्नाकर, डॉ॰ बनर्जी शास्त्री तथा डॉ॰ काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार यह पुष्यमित्र का छठा लड़का था क्योंकि जहाँ पंचमी का प्रयोग पीढ़ी को बताने के लिए किया जाता है वहीं षष्ठी का

प्रयोग लड़के के क्रम निधौरण के लिए किया जाता है। इसकी पुष्टि में उन्होंने स्मृतियों का उदाहरण लिया है कि सपिण्ड के सम्बन्ध में वंशक्रम निर्धारणार्थ पंचमी का प्रयोग किया गया है। किन्तु एन॰ जी॰ मजुमदार ने रघुवंश में प्रयुक्त 'पञ्चमम् तक्षकस्य' के उद्धरण पर कहा है कि पाँचवीं संतान के लिए पंचमी का प्रयोग किया गया है। अतः षष्ठी का प्रयोग पीढ़ी को व्यक्त करने के लिए किया गया है। पर डॉ॰ जायसवाल ने मल्लिनाथ की टीका के आधार पर मजुमदार के तर्क के विरोध में यह प्रतिस्थापित किया कि यहाँ 'षष्ठे' से अभिप्राय छठे पुत्र से है। वायुपुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ पुत्र थे।

●

चेदि सातवाहन अभिलेख

1. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख
(Hathigumpha Inscription of Kharvel)

स्थान : हाथीगुम्फा—भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी, जिला—पुरी, उड़ीसा

लिपि : ब्राह्मी।

काल : लगभग प्रथम शती ई॰ पू॰ का उत्तरार्द्ध

विषय : चेदिवंशी राजा कलिंगाधिपति खारवले के जीवन की घटनाओं का क्रमिक विवरण एवं उसकी राजनैतिक उपलब्धियों तथा लोकमंगल के कार्यों का उल्लेख

मूल पाठ

1. नमो अरहंतानं[।] नमो सव-सिधानं [।।] ऐरेण महाराजेन[1] महावेघवाहनेन[2] चेति[3]-राजव (ं) स–वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन[4] चतुरंत लुठण-गुण उपितेन[5] कलिंगाधिपतिना सिरि-खारवेलेन

2. [पं] दरस-वसानि सीरि–[कडार]-सरीर-वता कीडिता कुमार-कीडिका [।।] ततो लेख-रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन सव-विजावदातेन नव-वसानि योवरज [प] सा-सितं [।।] संपुंण-चतुवीसति-वसो तदानि वधमान-सेसयो-वेनाभिविजयो[6] ततिये

3. कलिंग-राज-वंसे पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं[7] पापुनाति [।।] अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरि खिबी [रं][8] [।] सितल-तडाग-पाडियो च बंधापयति सवूयान प [टि] संथपनं च

---

1. ''महाराज की उपाधि सर्व प्रथम यवन-भारतीय शासकों के सिक्कों पर मिलती है जो द्वितीय शताब्द के पूर्वार्द्ध के हैं। इससे खारवेल की प्रथम शताब्दी में होने की संभावना व्यक्त होती है।— सरकार
2. महामेघवाहन यह वंश का नाम है जैसे— सातवाहन।
3. कुछ लोग इसे चेत पढ़ते हैं। चेति = चेदि तथा चेत = चैद्य. खारवेल अपने को चेदि वंश का मानता है।
4. बरुआ का पाठ : लखणेन
5. बरुआ : गुण-उपेतेन; जायसवाल : ॰ लुठितगुणोपहितेन
6. बरुआ : वधमान-सेसयोवनाभिविजयो
7. जायसवाल : माहा॰
8. जायसवाल और बनर्जी : ख़िवीर-इसि-ताल-तडाग

4. कारयति पनति [सि ?] साहि सत-सहसेहि पकतियों च रंजयति [।।] दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि[1] पछिम-दिंस हयं-गज-नर-रध-बहुलं दंडं पठापयति [।] कन्हबेंण-गताय[2] च सेनाय वितासिति[3] असिकनगरं[4] [।] ततिये पुन वसे

5. गंधव-वेद-बुधो दप-नत गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं [।।] तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं[5] अहतपुवं कलिंग-पुव-राज-[निवेसितं]...वितध-म [कु] ट[6] ...च निखित = छत

6. भिंगारे [हि] त-रतन-सपतेये सव-रठिक-भोजके पादे वंदापयति [।।] पंचमे च दानी वसे नंदराज-तिवससत-ओ [घा] टितं[7] तनसुलिय-बाटा पणाडिं नगरं पवेस [य] ति सो....[अ] भिसितो च [छठेवसे] राजसेयं[8] संदसयंतो सवकर-वण–[9]

7. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर-जानपदं [।।] सतमं च वसे[10] (पसा) सतो वजिरधर....[11] स मतुक पद.....[कु] म.....[12] [।] ....अठमे च वसे महता सेना...गोरधगिरिं

8. घातपयिता राजगहं[13] उपपीडयति [।] एतिन [।] कंमपदान—स [ ] नादेन....सेन—वाहने[14] विपमुचितं मधुरं अपयातो यवनरा [ज] [डिमित][15].....यछति.....पलव

9. कपरुखेहयगजरथसह यति[16] सवघरावास.....[17] सव-ग्रहणं च कारयितुं ब्राह्मणनं ज [य] परिहारं[18] ददाति [।] अरहत......[नवमे च वसे]....

---

1. पुराणों के अनुसार यह सातकर्णी नग्रीका के पति के कुछ ही बाद का शासक था। कुछ लोगों ने इसकी समता सातकर्णी I से की है।
2. जायसवाल और बनर्जी का पाठ : कन्हं ॰
3. जायसवाल का पाठ : वितासितं
4. जायसवाल के अनुसार पाठ है सुसिक = (असिक)
5. विद्याधर = सम्भवतः यह किसी राजा का नाम है।
6. इसके बाद के अक्षर हैं जायसवाल के अनुसार सबिंलदित बरुआ के अनुसार रूविप्रवजिते।
7. नन्द से अभिप्राय पाटलिपुत्र के एक नन्द राजा से है। यहाँ 'तिवससूत' = 300 या 103 वर्ष। यदि इससे 103 वर्ष पूर्व नन्द राजा की स्थिति को माने तो वह 223 ई॰ पू॰ में पड़ेगा तो अशोक का काल था। इससे 300 वर्ष पूर्व ही लेना उचित है जब पाटलिपुत्र पर नन्द वंश का शासक महापद्मनन्द शासन करता होगा।
8. जायसवाल ने इसे राजसूय राजा माना है जो खारवेल की तरह जैन था।
9. *Varna* here means 'description" as in No. 82, line 6, above.
10. बरुआ : सतमे च वसे [अ]स-सतो
11. बरुआ : वजिरघर-खतिय-सत-घटनि-समतक-पदघंन संतिपद.....; जायसवाल ॰ घरवलि-घुसित-घगिनि स मतुक-पद-पुंग....
12. इसका कोई भी पाठ अभी तक युक्ति संगत नहीं किया गया है। अतः सत्रहवें वर्ष की उपलब्धि संदिग्ध है।
13. प्रिंसेप का पाठ राजगभं उपपीडयति; कानिंघम : राजगंभु उपपीडयति; इन्द्रजी : राजगहनपं पीडापयति गोरधगिरि = बराबर की पहाड़ियाँ। कुछ लोगों के अनुसार गोरधगिरि नामक राजा था जिसकी राजधानी राजगिर थी। पर यह असंभव समता है।
14. प्रिंसेप : पंबात; जायसवाल : संवित
15. पाठ स्पष्ट है यवनराज पर दिमित डिमित
16. जायसवाल : सह-यंते
17. कनिंघम : घरवसय-अनतिकगवय; इन्द्रजी : घरवसधं...;
18. जायसवाल : जातिं परिहारं

10. .....[1] महाविजय-पासादं[2] कारयति अठतिसाय सत-सहसेहि [।।] दसमे च वसे दंडसंधीसा [ममयौ][3] भरघवस-पठा नं मह [ा] जयनं [?][4]...कारापयति[5] [।।] [एकादसमे च वसे].... प [।] यातानं च म [नि] रतनानि उपलभते

11. ...पुवं राज-निवेसितं[6] पीथुंडं गदभ नंगलेन कासयति [।] जन [प] दभावनं च तेरस वससत कतं[7] भि [ ] दति त्रमिरदह [?] संघातं[8] [।] बारसमे च वसे...[9] [सह] सेहि वितासयति उतरापध राजानो....

12. म [।] गधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय[10] पाययति [।] म [ाग] ध [।] च राजानं बहसतिमितं[11] पादे वंदापयति [।] नंदराज-नीतं च का [लि] ग-जिनं[12] संनिवेस...[13] अंग-मगध वसुं च नयति [।।]

13. ...(कं) जठर-[लखिल] [गोपु] राणि सिहराणि निवेसयति सतविसिकनं [प] रि [हारेहि] [।] अभुतमछरियं च हथीनिवा [स][14] परिहर....हयहथिरतन[मानिकं] पंडराजा...[भु] त-मनिरतनानि आहरापयति इध सत [सहसानि]

14. ...सिनो वसीकरोति [।] तेरसमे च वसे सुपवतविजयचके कुमारीपवते अरहते [हि] परिवन-सं [सि] तेहि कायनिसीदियाय[15] यापूजावकेहि[16] राजभितिनि चिनवतानि वासा [।] [सि] तानि पूजानुरतउवा [सगखा] रवेलसिरिना[17] जीवदेह [सयि] का परिखाता[18] [।।]

15. ...सकत-समण सुविहितानं च सव-दिसानं ञ [नि] नं [?] तपसि–इ [सि] न संघियनं अरहतनिसीदिया-समीपे पाभारे[19] वराकार-समुथापिताहि अनेक-योकना-हिताहि.... सिलाहि[20] ....[21] ....

---

1. जायसवाल : मानतिराजसंनिवासं
2. जायसवाल : महाविजयं
3. कनिंघम : दतिभिसर
4. कनिंघम : महयन
5. ग्यारहवें वर्ष के राज्य के विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं है।
6. पुवराज-निवेसितं पिथुडग-दभ नगले नेकासययि,
7. जायसवाल : सतिकं अभि-, संभवत: यह संख्या 1300 है न कि 113.
8. इन्द्रजी : तमर-देह-संघातं ;
9. बरुआ के अनुसार : सिवकानं.
10. जायसवाल : हथी सुगंगीय [ ] पाययति मौर्य राजमहल का संदर्भ है सुगांग जो मुद्राराक्षस में उल्लिखित है।
11. यह नाम है वृहस्पतिमित्र; हैन्सिकी समता पुष्यमित्र से की गई है क्योंकि वृहस्पति स्वामी है पुष्य नक्षत्र का।
12. बरुआ : नंदराज-जितं च कलिंगजन-सनिवेसं
13. इन्द्रजी : गह-रतन-परिहारेहि ; जायसवाल : ० पडीहारेहि
14. प्रिंसेप हथिन न ; कनिंघम : हथि-नवेन ;
15. बरुआ : कय्य (सं०/पा०) = कल्य = कल्ल
16. जायसवाल : यापुहवकेहि; यापञवकेहि
17. पाठ : सितानं
18. बरुआ : पनिखाता
19. बरुआ : पकव्सिसेहि सत[सहसा]हि सिलाहि
20. जायसवाल सिंहपथ : सिजप.
21. बरुआ : अभ[नि] वधसयाना[स]नानि

16. ....[1] चतेरे च वेडुरिय-गभे थभे पतिठापयति पानतरीय-सत सहसेहि [।] मु [खि] य[2]-कल[3]-वौछिनं च चोय [ठि]-अंग[4] संतिक[5] [ ] तुरीयं उपादयति [।] खेम-राजा स वढ-राजा स भि-राजा धम-राजा पसं [तो] सुनं [तो] अनुभव [तो] कलानानि असुभव [तो]

17. ...गुण-विसेस-कुसलो सव-पासंड पूजको सब-दे [वाय] तन-सकार कारको अपहितचक-वाहनबलो चकधरो गुतचको-पवतचकी-राजसि-वसू-कुल-विनिश्रितो[6] महाविजयो राजा खारवेलसिरि [।।]

हिन्दी अर्थान्तर

1. अर्हतों को नमस्कार। सब सिद्धों को नमस्कार। आर्य, महाराज, महामेधवाहन, चेदिराज के वंशवर्धन करने वाले, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणयुक्त चतुर्दिक प्रशस्त गुणों से पूर्ण, कलिंगाधिपति श्रीखारवेल ने

2. पन्द्रह वर्ष तक धूल धूसरित शरीर से बाल क्रीड़ा किया। तदनन्तर लेख, रूप, गणना तथा व्यवहार-विधि में विशारद, सभी विद्याओं (ज्ञान) से प्रकाशित नववर्षों तक युवराज पद पर बना रहा। इस प्रकार 24 वर्ष पूर्ण होने पर, शैशव से वर्धमान पृथु के समान विजय करने वाला वह युवा होने पर

3. कलिंग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में राज्याभिषेक प्राप्त किया। अभिषिक्त होने के प्रथम वर्ष तीव्र वायुवेग से क्षतिग्रस्त गोपुर एवं प्राकार पुनर्निर्मित कराया।

4. कलिंग नगरी के दुर्गों का जीर्णोद्धार कराया। शीतल जल युक्त सीढ़ियों से अलंकृत तड़ागों को बनवाया। 35 लाख मुद्रा खर्च कर प्रजा का रंजन किया। द्वितीय वर्ष में शातकर्णि का विचार न करके पश्चिम दिशा में बहुत से घोड़ों, हाथियों, पैदल सैनिकों तथा रथों से युक्त बहुत बड़ी सेना को भेजा और कृष्णवेणा तट पर गई हुई सेना द्वारा मूषिकनगर को त्रस्त किया।

5. पुनः तीसरे वर्ष में गान्धर्व शास्त्र के ज्ञाता खारवेल द्वारा मल्ल, नृत्य, गीत, वादन, प्रदर्शन तथा उत्सव एवं समाज के द्वारा, नगर के लोगों का मनोविनोद किया तथा चौथे वर्ष में पूर्वकाल में अक्षत, कलिंग के पूर्व राजाओं द्वारा निर्मित विद्याधरों के अधिवास (नगर) को....वितथकिरीट तथा क्षिप्तक्षत्र—

6. शृंगार एवं रत्नसम्पत्ति सब राष्ट्रिकों एवं भोजकों से छीना और उनसे पद वन्दना कराया। पाँचवें वर्ष में नन्दराज द्वारा 300 वर्ष पूर्व उद्घाटित तनसुलीय नहर को नगर में प्रविष्ट कराया। राज्याभिषेक के छठें वर्ष राजैश्वर्य को प्रदर्शित करते हुए सब वर्णो

7. पर अनुग्रह करते हुए लाख मुद्राओं को पौर और जनपद पर व्यय किया। प्रशासन के सातवें वर्ष वाजिरधर की रानी से उसे पुत्र उत्पन्न हुआ। आठवें वर्ष महती सेना.....(द्वारा) गोरथगिरि को

8. नष्ट कर राजगृह को पीड़ित किया, इस कार्य के सम्पादन में होने वाले शब्द से....सेना एवं वाहन के भय से छोड़कर यवनराज डिमित मधुरा (मथुरा) भाग गया।

1. इन्द्रजी : पटालके
2. स्टोनकोनो : सुरिय ; बरुआ : [म]खिय
3. इन्द्रजी : काल ; Cunningham कल which is supported by Barua.
4. बरुआ : च चोयठ अंगे
5. स्टोनकोनो : संतिकं
6. बरुआ : राजिसि-वंस-कुल

9. घोड़ों, हाथियों तथा रथों सहित गया सब गृहवास....और सब को ग्रहण कराने के लिए (सब के स्वीकार के लिये ?) ब्राह्मणों को जयोपलब्ध प्रदान किया।—नवें वर्ष में

10. 1138 मुद्राओं द्वारा महान विजय-प्रसाद बनवाया। दसवें वर्ष दण्ड-सन्धि साम-नीतियुक्त खारवेल ने (सेना) का भारतवर्ष की महती विजय हेतु प्रस्थान....कराया। तथा ग्यारहवें वर्ष....पलायित राजाओं का मणिरत्न ग्रहण किया।

11. पूर्व राजा की राजधानी पिथुण्ड नगर को गदहों से जुतवाया। जनपद के लिए 1300 वर्षों में बने त्रिमिरहृद का भेदन किया तथा बारहवें वर्ष......हजारों सैनिकों द्वारा उत्तरापथ के राजा को भयाक्रान्त किया....

12. मागधों में अत्यधिक भय उत्पन्न करते हुए हाथियों तथा घोड़ों को गंगा में जल पान कराया। मगध के राजा वृहस्पतिमित्र से अपने चरणों की वन्दना करायी। नन्दराज द्वारा (पाटलिपुत्र) ले जायी गई कलिंग से जिन (की प्रतिमा) को वहाँ वापस लाया। ....अंग तथा मगध का धन ले गया।

13. दृढ़ एवं सुन्दर गोपुर के शिखरों को बनवाने के लिए 100 विंशक मुद्रायें व्यय की, अद्भुत तथा आश्चर्यजनक हस्ति निवास को अपहृत किया.....घोड़े, हाथी तथा रत्न-माणिक्य; पाण्ड्य राजा से 1100 मुक्ता एवं मणिरत्न छीन कर यहाँ ले आया....

14. वासियों को वश में किया। तेरहवें वर्ष में विजयचक्र के सुप्रवर्तित होने पर जीर्ण आश्रय वाले धर्मोपदेशक अर्हतों के कार्यविश्राम-हेतु राजपुष्ट व्रतों का आचरण करने वाले, वर्षाश्रितों की पूजा में अनुरक्त, उपासक श्री खारवेल द्वारा कुमारी पर्वत में आश्रय-गुहायें खुदवायी गयीं।

15. श्रमणों को सत्कृत करने वाले ने संघीय, सर्वदेशीय, सुविहित ज्ञानी, तपस्वी, ऋषियों का पर्वतपृष्ठ में अर्हत विश्रामावास के समीप कई योजनों से लाई गई, सुष्ठु प्रकार से स्थापित की गई शिलाओं द्वारा

16. चत्वर में अन्तरभाग में वैदूर्ययुक्त 1105 मुद्राओं द्वारा, स्तम्भ स्थापित किया। (गीत नृत्यादि) प्रमुख कलाओं से समन्वित चौसठ प्रकार के वाद्यों से पूर्ण शक्तिकालीन सूर्य को उत्पन्न किया। क्षेमराज, वृद्धराज, धर्मराज, कल्याणों को देखते, सुनते और अनुभव करते हुए

17. गुणों में विशेष निपुण, समस्त पार्षदों का पूजक, सभी देव प्रतिमाओं का संस्कार करने वाला, अप्रतिहत चक्र तथा सैन्यबल वाला, राजचक्र धारण करने वाला, सुरक्षित राजचक्र वाला, प्रवृत्त राजचक्र वाला, राजर्षि वसु-कुलोत्पन्न, महाविजयी राजा श्री खारवेल।

ऐतिहासिक महत्त्व

कलिंग देश जिसमें आज का पुरी, गंजाम और कटक जिला सम्मिलित एक शक्तिशाली राज्य था उसमें दक्षिण के कुछ तेलगू भाषी क्षेत्र भी कभी सम्मिलित रहे। मगध के पड़ोसी होने से मगध शासक सदा इसे अधीन रखने और यह स्वतंत्र रहने के प्रयास में रहता था। प्लीनी के अनुसार कलिंगी जाति की राजधानी पार्थलिस थी जो अशोक के अभिलेखों का तोषली रहा होगा। सम्भवतः मेगस्थनीज के आधार पर प्लीनी कहता है कि इसके पास विशाल सेना थी।

कलिंग का इतिहास बड़ा ही अनिश्चित है। नन्दराजाओं के समय यह मगध के अधीन था। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के समय इसने मगध की अधीनता स्वीकार किया या नहीं यह संदिग्ध है। फिर अशोक के समय इसके इतिहास का ज्ञान मिलता है कि अशोक ने इसे विजित

किया था। इसके बाद यह कब तक मगध के अधीन बना रहा नहीं कहा जा सकता। उड़ीसा के उदयगिरि पहाड़ी में निर्मित हाथीगुफा से एक लेख प्राप्त हुआ है जिससे इसके बाद के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यहाँ का एक स्वतन्त्र राजा खारवेल था। जिसके सम्बन्ध में इस लेख से कलिंग के इतिहास की तत्कालीन घटनाओं का ज्ञान मिलता है।

संस्कृत भाषा एवं ब्राह्मीलिपि का यह अभिलेख कलिंगाधिपति खारवेल के जीवन के प्रारम्भिक 13 वर्षों तक का क्रमिक एवं विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार से वर्षानुसार क्रमिक विवरण देने वाले किसी भी दूसरे लेख का ज्ञान भारतीय इतिहास में नहीं है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इतनी घिस चुकी हैं कि पढ़ना और क्रम बैठाना अत्यन्त दुरूह एवं कल्पनाजनित हो गया है। इन संदिग्ध पंक्तियों की प्रामाणिकता किसी भी दूसरे स्रोत से सिद्ध नहीं होती क्योंकि खारवेल के विषय में और कहीं से ज्ञान का कोई आधार नहीं मिलता।

इस अभिलेख के संबंध की दो समस्याएँ आज भी अनिर्णीत हैं और इतिहासकारों के लिए चुनौती बनी हैं—एक कि इसे किसने उत्कीर्ण कराया ? तथा दूसरे खारवेल की तिथि क्या है ?

प्रस्तुत अभिलेख में खारवेल को चेतिवंशीय शासक कहा गया है। डा॰ चन्दा के अनुसार वेसन्तर जातक में इस वंश का उल्लेख है। मिलिन्दपञ्हो के अनुसार चेति वंश का सम्बन्ध चेदि वंश से है। चेदियों ने बुन्देलखण्ड में बहुत दिनों तक शासन किया था। यहीं से दक्षिण कोशल होते हुए कलिंग गए होंगे जैसे अनुश्रुति से ज्ञात होता है। ये 'ऐरेण' डा॰ राजबली पाण्डे के अनुसार ऐलवंशीय या चंद्रवशींय क्षत्रिय थे। यही उपयुक्त लगता है क्योंकि यह चंद्रवंशीय राजर्षि वसु के परिवार से उत्पन्न हुआ था। सरकार ने ऐरेण का अभिप्राय आर्य लिया है। जो संभवतः इन्हें उड़ीसा के आर्येत्तर लोगों से अलग रखने के लिए कहा गया होगा। खारवेल के लिए अभिलेख के प्रारम्भ में ही तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है—खारवेल, कलिङ्गाधिपति, महाराजा महामेघवाहन। श्री बरुआ का विचार है कि इसका सम्बन्ध पुराणों में वर्णित मेघवंश से है जो मेघवाहनवंश था। पर पुराणों के अनुसार मेघवंश का राज्य कोशल में था किन्तु इस अभिलेख में खारवेल का राज्य कलिङ्ग में बताया गया है। सम्भवतः यहीं से ये कलिंग गए होंगे। इस वंश को चेदिवंश कहा गया है। डा॰ विमल चन्द्र पाण्डेय ने मेघवाहन को इसके वंश का एक राजा माना है। पर इसका भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। यह प्रथम भारतीय नरेश है जिसने महाराज की उपाधि धारण की थी। इसका अभिप्राय इन्द्र से भी लिया गया है।

कलिंगाधिपति से स्पष्ट है कि खारवेल कलिङ्ग का राजा था और शौर्य में महामेघवान अर्थात् मेघ वंश में इन्द्र के समान पराक्रमी था। यहाँ यह भी उल्लेख है कि चेदि राज्य में बसने के कारण ये चेदिवंशीय कहलाए और इसी की एक शाखा उड़ीसा में शासन करने लगी थी। सम्भवतः उड़ीसा के चेदिवंशीय शासकों में खारवेल तीसरी पीढ़ी में शासक था। पहला नाम वसु का मिलता है (वसु-कुल-विनिश्रितो) मंचपुरी गुहा (उदयगिरि पहाड़ियों में) के निचले मंजिल का निर्माण उसके अभिलेखानुसार महामेघवाहन वंश के वक्रदेव ने कराया था जिसकी ऊपरी मंजिल वहाँ के दूसरे अभिलेख के अनुसार खारवेल की पटरानी द्वारा कराया गया था जो उनके बाद की पीढ़ी की रही होगी क्योंकि ऊपरी मंजिल निचली (वक्रदेव) मंजिल के बाद बना होगा। अतः इस वंश में क्रमशः वसु → वक्रदेव → खारवेल शासक रहे होंगे। इनमें केवल खारवेल के विषय में ही ज्ञान प्राप्त है। अर्हत और सिद्धों को प्रणाम करते हुए प्रारम्भ होता यह लेख खारवेल को जैन धर्मानुयायी बताता है।

इसके बाल्यकाल के विषय में ज्ञात होता है कि पंद्रह वर्ष की अवस्था तक खारवेल एक सामान्य बालक का जीवन व्यतीत करता रहा। उसके बाद वह 9 वर्षों तक युवराज बना रहा। इस समय वह विभिन्न विद्याओं का अध्ययन किया जिनमें लेख, रूप, गणना, व्यवहार, विधि का विशेष उल्लेख है। इस प्रकार (15 + 9) 24 वर्ष में 'पुरुष युग'—पूर्ण युवा अवस्था को प्राप्त होने पर वह कलिङ्ग का राजा बना दिया गया। इससे स्पष्ट है कि तब सिंहासन खाली था। चाहे उसका पिता मर गया हो या राज्य त्याग दिया हो।

राजा होने के प्रथम वर्ष इसने बवण्डरों से गिरे हुए गोपुर और प्रासाद को पुनर्निमित कराया तथा 35,00,000 द्रव्य व्यय करके बगीचों एवं शीतल जलाशयों का निर्माण कराया।

दूसरे वर्ष बिना शातकर्णी की चिन्ता किए हुए उसने पश्चिम की ओर आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त कश्यप क्षत्रियों की सहायता के लिए इसने मूषिक नगर को विनष्ट कर दिया। यहाँ खारवेल का युद्ध सातवाहनों से होना नहीं बताया गया है। सप्तकर्णी की चिन्ता न करते हुए सेना भेजने से लगता है कि मुसिक नगर सातवाहानों के प्रभाव में रहा होगा। यहाँ वर्णित सातकर्णी कौन था ? विवादास्पद है। पर आगे पृष्ठों में खारवेल की तिथि में देखेंगे कि उसका काल, लिपि, आन्तरिक विवरण तथा नन्द काल आदि के आधार पर इसे प्रथम शताब्दी ई॰ पू॰ में मानना उचित है। जबकि सातकर्णी प्रथम शताब्दी ई॰ पू॰ के अन्तिम चरण में शासन करता था।

तीसरे वर्ष उसने अपने विजय के उपलक्ष्य में उत्सव मनाया तथा अपने साम्राज्य की जनता का मनोरंजन किया।

चौथे वर्ष पुनः इसे रठिक और भोजकों पर आक्रमण कर उनके छत्र और स्वर्ण पात्र तोड़ दिए, रत्न-सम्पत्ति छीन ली और चरणों में झुकने के लिए बाधित किया तथा विद्याधरों के अधिवास और उनके वितथ मुकुट हो जाने की चर्चा है। इस संदर्भ में जैन सम्प्रदाय के विद्याधर के नाम लेने से लगता है कि रठिक और भोजकों को जीतना उद्देश्य नहीं था बल्कि विद्याधर सम्प्रदाय की सुरक्षा के लिए युद्ध हुआ था। अतः रठिक और भोजकों को खारवेल ने अपने साम्राज्य में जोड़ा नहीं।

पाँचवें वर्ष में नन्द राजा द्वारा 300 वर्ष पूर्व निर्मित तनसुलीय नामक नहर को उसने अपनी राजधानी में, सिंचाई की सुविधा प्रदान करने के लिए, बढ़ावा दिया।

छठें वर्ष अपने पुर तथा जनपद के लोगों को 1,00,000 मुद्राओं के व्यय से अनेक सुविधाएँ प्रदान किया।

सातवें वर्ष वाजिरधर की रानी से इसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

आठवें वर्ष इसने राजगृह को आतंकित किया और राजगृह के बाह्य भाग गोरथगिरि पर तूफान की तरह यह चढ़ कर वहाँ की जनता को उत्पीड़ित किया। इससे दिमित (डेमेट्रियस ?) डर कर अपनी सेना और वाहनों के साथ भाग गया। डेमेट्रियमस के साथ कुछ लोग दिमित की समता स्थापित करते हैं। पर यह द्वितीय शताब्दी ई॰पू॰ का शासक था जो खारवेल के समकालिक नहीं हो सकता। अतः यह कोई पूर्वी पंजाब और मथुरा का स्थानीय हिन्द-यवन शासक रहा होगा। पुनः अब यह पाठ भी गलत बताया जा रहा है।

नवें वर्ष मगध की विजय को मनाने के लिए इसने एक महाविजय प्रासाद का निर्माण कराया तथा हाथी, घोड़े और घुड़सवारों को ब्राह्मणों को दान दिया।

दसवें वर्ष उसने भरधवस (भारतवर्ष) पर फिर आक्रमण किया। यहाँ भारतवर्ष से अभिप्राय उत्तरापथ से है पर इस आक्रमण का प्रभाव किन पर पड़ा ज्ञात नहीं। लगता है वह लूट-पाट करके ही लौट गया होगा।

ग्यारहवें वर्ष उसने दक्षिण की ओर अपना ध्यान आकृष्ट कर पिथुण्ड नगर को गदहों से जुतवाया तथा पलायित शत्रुओं का मणि-रत्न प्राप्त किया। इसी वर्ष द्रविण राजाओं के संघ को इसने तोड़ दिया। पिथुण्ड नगर टालमी के अनुसार मूसल की राजधानी था जो कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच स्थित था।

बारहवें वर्ष उत्तरापथ पर इसने आक्रमण कर राजाओं को उत्पीड़त किया। फिर मगध की ओर गया। वहाँ उसने अपने हाथी और घोड़ों को उत्पीड़ित किया। फिर मगध की ओर गया। वहाँ उसने अपने हाथी और घोड़ों को गंगा में जल पिलाया। मगध का राजा वृहस्पतिमित्र इसके पैरों पर झुक गया। कलिङ्ग में स्थापित जैन मूर्ति, जो नन्द राजा पाटलिपुत्र ले गए थे, उसे वापस लाकर कलिंग में पुनः स्थापित किया। इस विजय अभियान में वह मगध तथा अंग से बहुत अधिक धन जीत लिया था। इसके बाद दक्षिण में पाण्डयों पर भी इसने विजय किया तथा वहाँ से कलिङ्ग में 10,000 मणि और मोती लाया तथा पर्वत की चोटियों को गोपुरों और प्रासादों से सुशोभित कराया। डा॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने वृहस्पतिमित्र की तुलना पुष्यमित्र से किया है क्योंकि दोनों के नामों के अन्त में मित्र शब्द है एवं ज्योतिष में वृहस्पति को पुष्य नक्षत्र का स्वामी माना गया है। इसलिए वह मानते हैं कि यहाँ पुष्य के स्थान वृहस्पति लिखा गया है। पर यह धारणा मान्य नहीं प्रतीत होती क्योंकि मगध के शासन के तेरहवें वर्ष खारवेल ने कुमारी खलतिक पर्वत पर जैनों की एक सभा बुलायी और मन्दिर बनवाया। इस सभा में जैन धर्म के आठों अंगों और चौसठों कलाओं को पुनः संगठित किया गया।

इसके बाद उसने आनन्दमय जीवन व्यतीत किया और अपने देश में जनता का गौरव पुनः स्थापित किया। उसका अपने साम्राज्य में आदर था तथा वह विभिन्न गुणों से युक्त और कलाओं से सम्पन्न था। उसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था।

अभिलेख की समस्याएँ

इस अभिलेख में निम्नांकित समस्याओं की ओर ऐतिहासिकों का ध्यान आकर्षित होता है:

1. खारवेल वसु के परिवार का बताया गया है। वसु महाभारत में कुरुवंश के पौरव राजा के परिवार का पाँचवाँ शासक कहा गया है। उसने सम्राट तथा चक्रवर्तिन की उपाधि धारण की थी। उसके राज्य में मगध तथा मत्स आदि देश सम्मिलित थे। पर यह चेदि परिवार का नहीं था। चूँकि इसने यादवों से चेदि राज्य जीत लिया था इसीलिए इसकी उपाधि 'चेदिपरिचर' प्राप्त होती है।

2. खारवेल को 'ऐट' उपाधि से सम्बोधित किया गया है। डा॰ बनर्जी के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'ऐल' है तथा उन्होंने इस नाम की समता पौरव की माता या पिता के नाम से किया है। बी॰ एम॰ बरुआ ने इसका संस्कृत रूप 'आर्य' माना है तथा अर्थ 'स्वामी' लिया है। डा॰ जायसवाल ने भी इसी समता को स्वीकार किया है पर इसके प्रयोग का कारण कलिङ्ग में रहने वाले द्रविणों से इसकी भिन्न स्थिति को व्यक्त करना बताया है। डा॰ सुकुमार सेन ने 'ऐट' की समता वैदिक शब्द 'इर्य' से किया है जिसका अभिप्राय ईश्वर सम्प्रदाय के उपासकों से है, जो मान्य नहीं प्रतीत होता।

डा॰ दिलीप कुमार गांगुली ने 'आर्य' की ही समता को ठीक माना है तथा इसका प्रयोग उसको सम्मान प्रदान करने वाला कहा है।

3. खारवेल के पूर्व के शासकों का कोई भी ज्ञान हाथीगुम्फा अभिलेख से नहीं प्राप्त होता। इसके लिए डा॰ राखालदास बनर्जी ने दो कारणों के सम्भावना व्यक्त किया है—(i) चाहे तो अल्पायु में ही उसने गद्दी प्राप्त की हो अथवा (ii) उसका पैत्रिक पक्ष संदिग्ध रहा हो क्योंकि कलिङ्ग में किसी प्रकार का मातृसत्तात्मक परिवार रहा हो। पर ये दोनों सम्भावनाएँ अमान्य हैं क्योंकि खारवेल पुरुषयुग में गद्दी पर बैठा तथा तथा कलिङ्ग में मातृसत्तात्मक परिवार नहीं था। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि चतुर्थ शताब्दी के पूर्व अभिलेखों में वंशावली के उल्लेख की परम्परा के अभाव के कारण यह कमी हाथीगुम्फा अभिलेख में भी प्राप्त होती है।

4. हाथीगुम्फा अभिलेख का 'महामेघवाहन' कौन था ? डा॰ दिनेश चन्द्र सरकार के अनुसार उक्त अभिलेख में महामेघवाहन इस वंश की तीन पीढ़ी के शासकों में प्रथम कहा गया है। जिसके अनुसार खारवेल का दादा कहा जा सकता है जो अमान्य है। एक फ्रांसीसी विद्वान के अनुसार सातवाहन की तरह महामेघवाहन (महा + मेघवाहन) दो शब्दों के योग से बना है। डा॰ बरुआ के अनुसार कलिंग के चेदि, पुराणों में वर्णित मेघवंशीय हैं। पर यह मान्य नहीं है क्योंकि मेघ कोशल में थे और चेदि कलिङ्ग में।

5. खारवेल की तिथि अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है जिसके निराकरण में विद्वानों नें मत वैभिन्य है। इसके लिए अभिलेख में दी गई नन्द राजा संबंधी तिथि जो उल्लिखित सामयिक राजा है, तथा सातकर्णी की पहचान के साथ ही इसकी पत्नी द्वारा मंजपुरी गुहालेख जैसे कुछ विन्दुओं को उभार कर उसके समाधान का प्रयास किया गया है यथा—

प्रस्तुत अभिले में चार ऐसे नाम हैं जिनको आधारस्वरूप लिया जा सकता है। ये हैं— वृहस्पतिमित्र, नन्द राजा, सातकर्णी और दिमित। इनकी पहचान ऐतिहासिक राजाओं से करके तिथि निर्धारण में सहायता ली जा सकती है क्योंकि ये सभी समसामयिक हैं। इन समीकरणों के आधार पर दो मत उभरे हैं—जायसवाल, बनर्जी, स्टेनकोनो ने इसे 2 शती ई॰ पू॰ का शासक माना है, जबकि दूसरे वर्ग के डा॰ चन्दा, बरुआ, रायचौधरी आदि इसे 25 ई॰ पू॰ अर्थात् प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण का शासक माना है।

डा॰ काशी प्रसाद जायसवाल तथा बनर्जी के अनुसार यह दूसरी शती ई॰ पू॰ के पूर्वार्द्ध में सिंहासनासीन हुआ था। इसका आधार है अभिलेख में उल्लिखित दिमित को डेमेट्रियस तथा वृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र माना गया है। डा॰ भगवान लाल इन्द्र जी के अनुसार यह 103 ई॰ पू॰ में कलिङ्ग का शासक था। इन्होंने मौर्य काल (मौरियकाल) होने की सम्भावना को स्वीकार किया है जो 255 ई॰ पू॰ में स्थापित किया गया होगा तथा खारवेल के शासन का 13वाँ वर्ष मौर्यकाल का 165 वर्ष माना गया है। ब्यूलर ने नन्दराजा के पूर्व 103 तिथि को आधार मानकर 302, 226 ई॰ पू॰ के बीच इसका शासन बताया है। फ्लीट ने 154 ई॰ पू॰ इसकी तिथि माना है तथा स्मिथ ने 223 ई॰ पू॰। जगन्नाथ ने द्वितीय शती ई॰ पू॰ के प्रारम्भ में इसका शासन काल रखा है।

किन्तु इन सभी मतों के बीच मान्यता के लिए निम्नांकित आधारों पर हम अध्ययन कर सकते हैं—

वृहस्पति का पुष्यमित्र से, नन्द का नन्दिवर्धन से समता स्थापित कर जायसवाल प्रभृति अनेक विद्वान खारवेल को पुष्यमित्र का समकालीन और दूसरी ईस्वी पूर्व के पूर्वार्द्ध में मानते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि लेख में मौरिय (मौर्य) सम्वत् के 165वें वर्ष का उल्लेख है। पर यह विचार कुछ मान्य नहीं है। श्री जायसवाल महोदय ने वृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र में समता स्थापित करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि वृहस्पति और पुष्य दोनों नाम समान उच्चारण के हैं तथा पुष्य नक्षत्र का स्वामी वृहस्पति है इसलिए वृहस्पति से अभिप्राय पुष्य से है। पर यह विचार पूर्ण काल्पनिक है। इस अभिलेख के लेखक ने ज्योतिष के इस समीकरण को यहाँ सीधे घुसेड़ा नहीं है। दूसरे अभिलेख में 'मगधं च राजनम् वृहस्पति मितम' का उल्लेख है। यहाँ स्पष्ट है कि मगध को हराने के साथ वृहस्पति मित्र को भी पराजित किया। सिक्कों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वृहस्पतिमित्र के सिक्के मगध तथा उसके पड़ोस पांचाल और कौशाम्बी से मिले हैं। जायसवाल ने इन सिक्कों को शुंग वंशीय माना है जो मान्य नहीं हो सकता क्योंकि शुंग शासकों ने सम्भवतः सिक्के चलाए ही नहीं। अतः भिन्न वंश शुंगों के बाद मगध का शासक बना होगा जिसके साम्राज्य में पांचाल और कौशाम्बी भी रहा होगा या वहाँ भी इस वंश की शाखा का शासन होगा। इन तीनों स्थानों से प्राप्त मित्र नामान्त सिक्कों की बनावट में एकरूपता होने से ये एक ही परिवार के माने जा सकते हैं। मगध से तीन भिन्न शासकों का सम्बन्ध ज्ञात होता है क्योंकि गया की वेदिका पर इनका नाम अंकित है। इसमें वृहस्पतिमित्र भी है। भास अभिलेख में भी इनका नाम है। अतः वृहस्पतिमित्र स्थानीय शासक था जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र रही होगी। इस अभिलेख में मौर्यकाल का पाठ भी गलत है। यह ज्ञात नहीं कि गुप्त सम्भवत् की तरह कभी मौर्य राजाओं ने भी अपना संवत् चलाया हो। सम्भवतः इसका सही पाठ है मुखीय कला। अशोक के अभिलेख उसके अभिषेक से काल निर्धारित करते हैं। यदि ऐसा होता तो वे मौर्य काल की गणना में लिखे गए होते। इस प्रकार इसमें उल्लिखित नन्दराजा की समता नन्दिवर्धन से नहीं की जा सकती। नन्दिवर्धन के विषय में कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि वह कभी भी मगध का प्रतापी राजा रहा हो जिसने कलिङ्ग पर विजय प्राप्त किया तथा वहाँ नहर बनवाया जैसा कि अभिलेख में वर्णित है।

पुनः खारवेल दिमित के समकालीन था—दूसरी समस्या है। जब उसने गोरधगिरि पर आक्रमण किया तो उसके आने की बात सुन भय से दिमित पाटलिपुत्र से मथुरा भाग गया। यह दिमित यूनानी आक्रमणकारी डेमेट्रियस माना जाता है। पर 'दिमित' पाठ सर्वमान्य नहीं है न इसे डेमेट्रियस प्रथम ही माना जा सकता है। यवनों के भारतीय विजय का विवरण गार्गी संहिता में देते हुए कहीं भी पुष्यमित्र का नाम नहीं है। इस ग्रंथ के अनुसार यह आक्रमण शालिशुक मौर्य के बाद हुआ था। शालिशुक काल 206 ई० पू० में होगा जबकि पुष्यमित्र ने 184 से 148 ई० पू० तक शासक था। अतएव यह आक्रमण इसके पूर्व हुआ होगा। पर इस आक्रमण का नेता डेमेट्रियस था यह नहीं माना जा सकता। खारवेल और सातकर्णी समकालीन थे क्योंकि खारवेल ने सातकर्णी पर आक्रमण किया था। पर यह सातकर्णी कौन था ? क्योंकि सातवाहन वंश में कई सातकर्णी हुए हैं। खारवेल की तिथि प्रथम शताब्दी रही होगी जो सातकर्णी प्रथम की तिथि है। अतः यह सातकर्णी प्रथम के समकालीन था।

इस अभिलेख का 'नन्द' निश्चित ही महापद्मानन्द है जिसकी दिग्विजय पुराणों में दी गई है। अभिलेखानुसार इससे 300 वर्ष बाद खारवेल गद्दी पर बैठा। महापद्मानन्द का अन्तिम समय चौथी शती होगा (322 + 22 ई॰ पू॰)। अतः खारवेल का समय पहली शती ई॰ पू॰ मानना उचित लगता है। सिमुक सातवाहन वंश का संस्थापक तथा कण्डव वंश का अन्त करने वाला था। सातकर्णी उसीका भतीजा था। अतः खारवेल और सातकर्णी समकालीन थे जिनका समय पहली शती ई॰ पू॰ का उत्तरार्द्ध होगा। लिपि के आधार पर चन्दा का मत है कि इसकी लिपि बेसनगर गरुड़ स्तम्भ लेख (लगभग 2 शती ई॰ पू॰ के अन्तिम चरण) तथा नानाघाट अभिलेख (प्रथम शताब्दी ई॰ पू॰) के पूर्वार्द्ध के बाद की है अर्थात् प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अन्तिम चरण की होगी। पुरातात्विक आधार पर भी यही ठीक बैठता है क्योंकि मंचपुरी का गुहा शुंगकालीन भरहुत के स्थापत्य कला के बहुत बाद की है। राजगृह का शासक ब्रहस्पतिमित्र एक मामूली स्थानीय शासक था जिसे खारवेल ने परास्त किया। मगध की यह स्थिति कण्डव वंश के समय या उसके तुरन्त बाद की होगी। इन आधारों पर खारवेल का समय प्रथम शती ई॰ पू॰ उचित लगता है।

इसके बाद का इतिहास फिर अंधकार में विलीन हो जाता है।

सातवाहन वंश के अभिलेख

1. नागनिका का नानाघाट गुहा-अभिलेख

(Nanaghat Cave Incription of Nagnika)

स्थान : नानाघाट, जिला–पूना, प्रदेश–महाराष्ट्र

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : प्रथम शती ई॰ पू॰ का उत्तरार्द्ध

विषय : शातकर्णि प्रथम की स्त्री नागनिका द्वारा विभिन्न यज्ञों का विवरण—सातवाहनों के समय दक्षिण भारत की राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक अवस्था का उल्लेख

मूल पाट

दीवाल के बायीं ओर

भाग–1

1. [सिधं][1]...नो धंमस नमो ईदस[2] नमो संकंसन-वासुदेवान[3] चंद-सूरानं[4] [महि]मा[व]तानं चतुंनं चं लोकपालानं यम-वरुन-कुबेर-वासवानं नमो (।।) कुमारवरस ख[द] सिरिस र [ञो]
2. ...[व]ीरस सूरस अ-प्रतिहत-चकस दखि[नप]ठ-पतिनो]............[5]
3. [मा]...[बाला]य महारठिनो अंगिय-कुल-वधनस सगर-गिरिवर-वल[या]य पथविय पथम वीरस वस ...... य व अलह (वतंठ ?)...सलसु महतो मह...
4. सिरिस...[6] भारिया(य) देवस पुतदस वरदस कामदस धनदस [खद]सिरि-मातु-सतिनो सिरिमतस च मातु[य] सीम......
5. वरिय......ा[न]ागवर-दयिनिय मासेपवासिनिय गह-तापसाय चरित-ब्रम्हचरियाय दिखव्रतयंञसुंडाय यञा हुता धूपन-सुगंधा य निय......
6. राय[7]...[य]ञेहि यिठ (।) वनो। अगाधेय यंञो द[खि]ना दिना गावो बारस 10 (+)2 असो च 1 (।) अनारभनियो यंञो दखिना धेनु[8]...

---

1. व्यूलर के अनुसार ओं (या सिधं) नमो प्रजापतिनो धंमस,
2. यहाँ धम्म के साथ अन्य देवताओं का अलग-अलग उल्लेख है।
3. प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का उल्लेख संकर्षण और वासुदेव के साथ न होने से स्पष्ट है कि व्युहवाद अभी प्रचलित नहीं था। प्रद्युवायानिरुङ्घाय (67.2).
4. व्यलरः चंद-सूतानं ;
5. सम्भवतः यहाँ होगा—अञो सिमुकसातवानस सुन्हाय,
6. इसकी पूर्ति की जा सकती है : [सातकंणि*]-सिरिस or सिरि-सा[तकणिस*]
7. सरकारः त्यस।
8. दो अंकों के चिह्न के बाद संभवतः अंकित

7. ......दखिनायो दिना गावो 1000 (+) 700 हाथी 10......

8. ......स ससतरय [व]सलठि 200(+) 80 (+) 9 कुभियो रुपामायियो 10(+) भि...

9. ......रिको यञो दखिनायो दिना गावो 10000 (+) 1000 असा 1000 पस[पको]......

10. .....10(+) 2 गमवरो 1 दखिना काहापना 20000 (+) 4000 (+) 4000 पसपको काहापना 6000......। राज[सूयो यंञो] ...सकटं

दीवाल के दाहिनी तरफ

भाग-2

11. धंञगिरि-तंस-पयुतं 1 सपटो 1 असो 1 असरथो 1 गावीनं 100 (।) असमेघो यंञो वितियो [यि]ठो दखिनायो [दि]ना असो रुपाल[का]रो 1 सुवंन...नि 10 (+) 2 दखिना दिना काहापना 10000 (+) 4000 गामो 1[हठि]...[दखि]ना दि[ना]

12. गावो... सकटं धंञगिरि-तस-पयुतं (।) ोवायो यञो...10 (+)7 [धेनु]...ोवाय...सतरस

13. ...10 (+)7 अच...न...लय पसपको दि[नो]...[दखि]ना दिना सु...पीनि 10 (+)2 अ(?)सो रूप[ालं]कारो 1 दखिना काहाप[ना] 10000...2

14. ...गावा 20000 [।] [भगल]-दसरतो यंओ यि[ठो] [दखिना] [दि]ना [गावो] 10000। गर्गतिरतो यञो यिठो [दखिना]......पसपको पटा 300। गवामयनं यंञो यिठो [दखिना दिना] गावो 1000 (+) 100 (।) .... गावो 1000 (+) 100 पसंपको काहायना .... पटा 100 (।) अतुयायो यंञो ....अतुयामो यंञो......

15. ...[ग] वामयनं य [ञो] दखिना दिना गावो 10000 (+) 100 (।) अंगिरस [ा] मयनं यंञो यिठो [द]खिना गावो 1000 (+) 100 (।) त... [दखिना दि] ना गावो 1000 (+) 100 (।) सतारितं यंञो.... 100 .... (।) [यं] ञो दखिना ग [ा] [वो] 1000 (+) 100 (।) अंगिरस [ति]रतो यंञो यिठो [दखि] ना गा [वो] .... (।)

16. ...[गा]वो 1000 (+) 2 (।) छन्दोमप [व]मा[नतिरत]दखिना गावो 1000। अं[गि]र[सतिर]तो यं[ञो] [यि]ठो द[खिना]...(।)...रतो यिठो यञो दखिना दिना.... (।).... तो यंञो यिठो दखिना.... (।).... यञो यिठो दखिना दिना गावो 1000।

17. ...न स सयं...... दखिना दिना गावो त...[।] [अं]गि[रसा]मयनं छवस...[दखि]ना दिना गाव 1000...(।)...[दखिना] दिना गावो 1000। तेरस...अ...(।)

18. ...(।) तेरसरतो स...छ...[अ]गदखिना दिना गावो...(।)...दसरतो म...[दि]ना गावो 10000। उ...10000। द...

19. ......[यं]ञो दखिना दिं[ना]......

20. ......[द]खिना दिना......[1]

---

1. सम्भवतः इसके बाद भी लेख की पंक्तियाँ रही होंगी। यज्ञों की संख्या से ज्ञात होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड प्रारम्भिक सातवाहन शासकों के समय अपनी चरमता पर था। इसमें दक्षिणा में अधिक सम्पत्ति दी जाती थी।

हिन्दी अर्थान्तर

प्रथम भाग

1. (सिद्धम्)...धर्म को नमस्कार है, संकर्षण-वासुदेव, महिमावान् चन्द्रसूर्य, चारोलोकपालों, यम-वरुण-कुवेर-वासुदेव को नमस्कार है। श्रेष्ठकुमार राजा वेदि श्री की

2. ... वीर, शूर, अप्रतिहतचक्र (जिसका चक्र सदा चलता रहता हो), दक्षिणा-पथपति की...

3. (माता)...(कन्या) द्वारा महारथी अंगिय-कुल के वर्धन, सागर और श्रेष्ठ गिरि के आभूषण वाले, पृथ्वी के प्रथम वीर,

4. ...श्री (शातकर्णि) की भार्या द्वारा, देव, पुत्रद, वरद, कामद, धनद (वेदि) श्री की माता (द्वारा)......तथा श्रीमान् शक्ति की माता द्वारा

5. ...श्रेष्ठ नाग का दान करने वाली, मास का उपवास करने वाली, गृह में तपस्या करने वाली, ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाली, दीर्घ व्रत तथा यज्ञ में प्रवीणा द्वारा धूप से सुगन्धित अनेक यज्ञ किये गये।

6. राज श्री शातकर्णि के साथ...यज्ञों द्वारा पूजन किया—विवरण के अनुसार अग्न्याधेय यज्ञ में दक्षिणा दी गयी—12 गायें और एक अश्व; पशुवलिरहित यज्ञ में दक्षिणा...

7. दक्षिणा दी गयी—1700 गायें, 10 हाथी

8. ...186 बाँस की लाठियाँ, रुपए से भरे घड़े 17

9. रिक यज्ञ में दक्षिणा दी गयी—11000 गायें, 1000 अश्व, 12 यज्ञ दर्शकों को तथा सेवकों को

10. 1 ग्रामवर, दक्षिणा—4400 कार्षापण, 6000 प्रसर्पक-कार्षापण। राज (सूय यज्ञ)...1 सग्गड़ (पर लदे)

द्वितीय भाग

11. धान की ऊँची ढेरी से युक्त, 1 सत्यपट्ट, 1 अश्व, 1 अश्वरथ, 100 गायें। दूसरा अश्वमेध किया गया, दक्षिणा दी गयी...1 अश्व, 1 रौप्यालंकार, 1 हाथी, (यज्ञ) दक्षिणा दी गयी

12. गायें...धान्य-समूह से युक्त एक शकट (।) देवाययज्ञ (दक्षिणा दी गई) 17 गायें; देवाय (यज्ञ-दक्षिणा दी गयी) सतरह

13. ...17, प्रसर्पक दिया गया...। (यज्ञ) दक्षिणा दी गयी...13 अश्व, 1 रौप्यालंकार, दक्षिणा—10000 कार्षापण

14. 20000 गायें (।) (भगाल) दशरात्र यज्ञ किया (गया दक्षिणा दी (गयी)—10000 (गायें)। गर्गातिरात्र यज्ञ किया गया—(दक्षिणा)—300 प्रसर्पक-पट्ट। गवामयन यज्ञ किया गया (दक्षिणा दी गयी)—1100 गायें। ...गायें 100 + 100 प्रसर्पक—कार्षापण...100 पट्ट। आप्तोर्याम यज्ञ...

15. (ग) वामयन य (ज्ञ)-(द)क्षिणा दी गई—1100 गायें। अंगिरसामयन यज्ञ किया गया—(द)क्षिणा—1100 गायें। ...(दक्षिणा दी) गयी—1100 गायें। 100 शतातिरात्र यज्ञ...(।) (य) ज्ञ, दक्षिणा—1100 गायें।) अंगिरसा (ति) रात्र यज्ञ किया गया—(दक्षि)णा-गा (यें)...(।)...

16. 10002 (गा) यें (।) छन्दोमप वमनातिरात्र (यज्ञ)—दक्षिणा—1000 गायें। अंगिरसातिरात्र यज्ञ किया गया—द(क्षिणा)...(।)...रात्र यज्ञ किया गया—दक्षिणा दी गयी...(।) त्र यज्ञ किया गया, दक्षिणा...(।) यज्ञ किया—दक्षिणा दी गयी 1000 गायें।

17. दक्षिणा दी गयी गायें...षडवर्षीय अंगिरसामयन...दक्षिणा दी गयी 1000 गायें (।) (दक्षिणा) दी गयी 100 गोप (।) त्रयोदश (रात्र)

18. त्रयोदश रात्र...अग्रदक्षिणा दी गयी—गायें...। दशरात्र...(दक्षिणा) दी (गयी) 10000 गायें। ...10000

19. (य) ज्ञ दक्षिणा दी (गयी)...

20. (द) क्षिणा दी गयी...

ऐतिहासिक महत्त्व

सातवाहन शासकों का यह अभिलेख दक्षिण भारत के नानाघाट नामक स्थान से जो महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट में पूना के पास कोंकण से जुन्नर जाने वाले एक दर्रे में बने गुहा से जो पैठान से सीधी दूरी पर स्थित है प्राप्त हुआ है। यह नायनिका या नागनिका का है। यह शातकर्णि की रानी थी और अंगीय वंश की लड़की थी। यह वंश बहुत अधिक शक्तिशाली था क्योंकि अंगीय वंश के राजा अपने को महारथी कहते थे। अंगीय वंश नाग वंश था अतएव सातकर्णी को इन्होंने विजय करने में पर्याप्त सहायता दी होगी। तभी इस अभिलेख में उनके द्वारा सम्पादित दो अश्वमेघ यज्ञों का वर्णन है।

इसमें वर्णित सातकर्णी को मार्शल ने सातकर्णी प्रथम से भिन्न माना है क्योंकि साँची स्तूप शुंग काल में 2शती ई॰ पू॰ में बना था। तब वहाँ शुंगों का अधिकार था, जबकि सातकर्णी प्रथम खारवेल का समकालीन दूसरी शती ई॰ पू॰ का शासक है। पर मार्शल खारवेल की तिथि प्रथम शती ई॰ पू॰ के स्थान द्वितीय शती मानने के कारण शंका उठा रहे हैं जो तिथि के हिसाब से गलत है।

यहाँ 'दक्षिणापथपति' सातकर्णी की उपाधि दी गई है। इससे लगता है कि दक्षिण में उसका अधिकार था। साँची के अभिलेख और मालव शैली के सिक्कों से मालवा तथा काठियावाड़ पर उसका अधिकार ज्ञात होता है। तभी यहाँ दो अश्वमेघ यज्ञों की बात की गई है—एक राज्य के प्रारम्भ में और दूसरे अन्त में तथा एक राजसूय यज्ञ करने का भी उल्लेख किया गया है।

इस अभिलेख से सातवाहन शासकों के समय दक्षिणी भारत की धार्मिक स्थिति पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। साथ ही सातवाहन शासन की नग्नीका की महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं उसका चरित्र भी ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी यहाँ शतकर्णी के लिए प्रयुक्त किए गये हैं जिनसे उनकी कृतियों की गुरुता पर भी आलोक पड़ता है जैसे—'शूर', 'वीर' तथा 'अप्रतिहत दक्षिणापथपतिः' आदि। ये शब्द शातकर्णी के दक्षिणी भारत के विजय का परिचय कराते हैं। इससे सातवाहन परिवार के सदस्यों का परिचय मिलता है जो उस समय के दूसरे किसी भी अभिलेख से ज्ञात नहीं होता। इसमें वर्णित देवताओं से विदित होता है कि लोकपालों की अवधारणा स्थापित हो चुकी थी तथा पौराणिक हिन्दू धर्म यथा यज्ञ, दान, पुरोहितवाद आदि एवं चतुर्व्यूह सिद्धान्त का भी समुचित विकास हो चला था। धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के समबन्ध में निम्नलिखित विवरण इस अभिलेख में मिलते हैं—

1. बेसनगर गरुड़-ध्वज स्तम्भ लेख, जिसका अध्ययन पहले किया जा चुका है तथा जो पहला ज्ञात अभिलेख है, जिसे वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे कुछ बाद का यह नानाघाट अभिलेख है। इस अभिलेख में भी वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में परिचय मिलता है। इस अभिलेख में विभिन्न ब्राह्मण देवताओं का उल्लेख है। इसके साथ ही वासुदेव का भी वर्णन किया गया है। वासुदेव वैष्णव धर्म के प्रमुख देवता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैष्णव धर्म का प्रसार दक्षिणी भारत में इस समय हो रहा था। साथ ही संकर्षण और वासुदेव का यहाँ साथ-साथ युग्म रूप में उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार दोनों देवताओं के साथ-साथ उपासना का ज्ञान घोशुण्डी के प्रस्तर अभिलेख से भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अबतक दोनों की स्वतन्त्र सत्ता बनी थी तथा एक साथ दोनों की पूजा होती थी। व्यूहवाद का प्रचार इस समय तक नहीं हुआ था क्योंकि प्रद्युम्न आदि का अभाव है।

2. हिन्दू धर्म का पौराणिक सम्प्रदाय इस समय दक्षिण भारत में प्रचलित था। डा॰ हरिपद चक्रवर्ती के अनुसार यह अभिलेख इस विशेष दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इस समय दक्षिण भारत धार्मिक संतरण के काल से गुजर रहा था। यहाँ वैदिक धर्म का स्थान पौराणिक धर्म लेने लगा था। इसका स्पष्ट परिचय यहाँ पौराणिक देवताओं के उल्लेख से प्राप्त होता है। इसमें इन्द्र, संकर्षण–वासुदेव, सूर्य, चारों लोकपाल—यम, वरुण, कुबेर और वासव का उल्लेख है।

3. पौराणिक धर्म सम्बन्धी कर्मकाण्डों का भी वर्णन यहाँ मिलता है। इसमें 36 यज्ञों का उल्लेख किया गया है। इनमें से उन्नीस यज्ञों का नाम स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सका है। शेष इतना टूटा-फूटा है कि उसको पढ़ना सम्भव नहीं है। इनमें कुछ यज्ञों का उल्लेख एक से अधिक बार किया गया है। लगता है कि यज्ञों को बार-बार किये जाने का चलन था। इनमें दो यज्ञ प्रमुख हैं—राजसूय तथा अश्वमेध। राजसूय एक बार किया गया और अश्वमेध दो बार। इनके अतिरिक्त अन्य वर्णित यज्ञों में रिक, अगाध, अनारभनिय, भगल, भगाल-दसरथ, गर्गतिरात्र आदि का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि सातवहनों के शासनकाल में दक्षिण भारत में विभिन्न वैदिक यज्ञों का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था। डा॰ सरकार के अनुसार इतनी बड़ी संख्या में वहाँ यज्ञों का होना सिद्ध करता है कि सातवाहन राज्य के प्रारम्भ में वैदिक कर्मकाण्ड का व्यापक प्रभाव था। इनमें दक्षिणा के रूप में बहुत अधिक सम्पत्ति का दान लोगों की समुन्नत आर्थिक स्थिति का मात्र बोधक नहीं है अपितु सामान्य वैदिक यज्ञ परम्परा में जटिलता का द्योतक है।

4. इन यज्ञों में बहुत अधिक दक्षिणा देने का विधान किया था। यह परम्परा यद्यपि वैदिक काल में भी प्रचलित थी पर उससे कहीं अथिक दान इस समय दिया जाता था। पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा में गायों का उल्लेख बड़ी संख्या में मिलता है। इसके साथ ही घोड़े, हाथी आदि पशु भी दान दिए जाते थे। बर्तन भी दान में देते थे। एक स्थल पर कलश के दान की चर्चा मिलती है। पर ये बर्तन खाली नहीं दिए जाते थे वरन् इनमें द्रव्य भर-भर कर दान दिया जाता था। सोने तथा चाँदी प्रायः बहुत कम मात्रा में दान देते थे। पर कहीं-कहीं इनकी बड़ी मात्रा में दान का ज्ञान भी प्राप्त होता है। एक स्थान पर एक बैलगाड़ी के दान का उल्लेख है जो धान से लदी हुई थी। कभी-कभी ग्राम दान भी दिया जाता था। इसी अभिलेख में बाँस की लाठी में मुद्राएँ भरकर दान दिए जाने का वर्णन किया गया है। यह गुप्तदान का परिचायक है। हमारे शास्त्रों में गुप्तदान का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। परन्तु इन सभी दान विवरणों की प्रमुख विशेषता थी कि दान

बहुत अधिक मात्रा में दी जाती थी—यथा 100 गायों के दान का उल्लेख बार-बार किया गया है। हजार भी कई बार उल्लिखित है। इसी प्रकार अश्व और हाथी भी इसके अतिरिक्त अश्वरथ, शकट आदि गाड़ियों को धान्य से भरकर दिया जाता था। वस्त्रों का भी दान देते थे।

5. जहाँ इस अभिलेख से धार्मिक पक्ष और परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त होता है वहीं आर्थिक सम्पन्नता का भी परिचय मिलता है। आर्थिक सम्पन्नता का यद्यपि कहीं अलग से उल्लेख नहीं किया गया है पर इतना अवश्य है कि विवरणों के अध्ययन से सहज ही यह धारणा बैठ जाती है कि आर्थिक दृष्टि से ये बहुत अधिक समृद्ध थे अन्यथा इतना अतुलित दक्षिणा देना सामान्य जनता के लिए सम्भव नहीं था।

6. इस समय दक्षिण भारत में क्रय-विक्रय के लिए प्रचलन में सुवर्ण और कार्षापण नामक मुद्राएँ थीं। कार्षापण का उल्लेख पूरे लेख में पाँच-छः बार हुआ है।

7. प्रशासनिक दृष्टि से ज्ञात होता है कि राजाओं की उपाधि राजन और 'स्वामिन' की थी।

8. सामाजिक दृष्टि से विधवा के जीवन का भी आभास मिलता है। वेदश्री घर में तपस्वी की तरह रहने वाली, ब्रह्मचारिणी, दीर्घव्रत और यज्ञ करने वाली तथा कल्याण के लिए दक्षिणा देने वाली थी। ऐसा ही वैधव्य जीवन अब विधवाएँ भी बिताती होंगी।

2. गौतमीपुत्र सातकर्णी का नासिक गुहालेख (वर्ष 18)

(Nasik Cave Inscription of Gautamiputra Satkarni [Regnal Year 18]

स्थान : नासिक, महाराष्ट्र, गुहा सं॰ 3 के दीवार पर बरामदे के पूर्वी भाग में

लिपि : ब्राह्मी (2 शती ई॰ पू॰)

भाषा : प्राकृत

काल : 106-30 ई॰ (लगभग) (गौतमीपुत्र का शासन वर्ष 18)

विषय :

सन्दर्भ : सरकार, सलेक्ट इन्सक्रृपशन्स पृ॰ 197, इपि॰ इ॰ खण्ड 8, पृ॰ 71

मूल-पाठ

1. सि[धं][1] (।।) सेनाये [वे]जयं[ति]ये विजय-खधावारा [गो]वधनम बेनाकटक[2]-स्वामि गोतमिपुत्रो सिरिसदकणि
2. आनपयति गोवधने अमच वि[ण्हु]पालितं (।) गामे अपर-कखडि[ये] [य]खेतं अजकालकियं उसभदातेन भूतं निवतन-[3]
3. सतानि बे 200 एत अम्हखेत निवतण-सतानि बे 200 इमेस पवजितान तेकिरसिण[4] वितराम (।) एतस चस खेतस परिहार
4. वितराम अपावेसं अनोमस अलोण्खा[दकं] अरठसविनयिकं सवजातपारिहारिक च (।) ए[ते]हि नं परिहारेहि परिह[र]हि (।)

---

1. सिद्धं = सिद्धिः अस्तु
2. सेनार्ट ने इसे नगर का नाम माना है आधुनिक वनवासी उत्तरी कोंकण में। पर यह सेना की उपाधि है।
3. कटका. कुछ इसे पढ़ते हैं। इससे लगता है कि वेण नदी पर स्थित बेनाकटकात् से यह निर्गत है।
4. निवर्तन भूमि का एक माप बराबर-बराबर एकड़ के लगभग

5. एते चस खेत-परिहा[रे] च एथ निबधापेहि (।) अवियेन[1] आणतं (।) अमचेन सिवगुतेन छतो (।) महासामियेहि उपरखितो (।)
6. दता पटिका सवछरे 10 (+)8[2] वास-पखे 2 दिवसे 1 (।) तापसेन कटा (॥)

हिन्दी अर्थान्तर

सिद्ध ॥ विजय करती हुई सेना के विजय स्कंधावार से गोवर्धन (जिले के) वेनाकटक (नामक स्थान) पर नियुक्त आमात्य विष्णुपालित को (उसके) स्वामी गौतमीपुत्र शातकर्णी आज्ञा देते हैं कि पश्चिमी कखड़ी ग्राम में जो खेत आजतक (अथवा जो आजकालकीय नाम का) उषवदात द्वारा भोगा गया 200 निवर्तन हम त्रिरश्मि (पर्वत पर गुफा में रहने वाले) परिव्रजितों को प्रदान करते हैं। इस खेत को हम स्थान सम्बन्धी इन विशेषाधिकारों से मुक्ति प्रदान करते हैं कि वह राजकीय सैनिकों और भटों से अप्रवेश्य सरकारी कर्मचारियों की बाधाओं से अस्पर्श्य, (सरकार द्वारा) नमक के लिए न खोदा जाने वाला, राष्ट्र के शासन (सामान्य दण्ड विधान) से अलग तथा सब प्रकार की विमुक्तियाँ इस खेत में लागू करें और इन विमुक्तियों को तथा खेत के दान को पंजीकृत (निबद्ध) करें। यह आज्ञा मौखिक रूप से दी गई है। यह आज्ञापत्र आमात्य शिवगुप्त द्वारा लिखा गया, महास्वामी द्वारा जांचा गया। यह दानपत्र (पट्टिका) संवत्सर 18वें वर्ष के दूसरे पक्ष में पहले दिन दिया गया। तापस ने इस आदेश को कार्यान्वित किया।

ऐतिहासिक महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख महाराष्ट्र के नासिक स्थित गुफा सं० 3 के बरामदे के पूर्वी दीवार पर छत के निकट प्राकृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में अंकित है। यह नासिक क्षेत्र में स्थित गोवर्धन जिले के वेनाकटक स्थित स्कंधावार से स्वामी गौतमी पुत्र श्री सातकर्णी के आमात्य विष्णुपालित को सम्बोधित है। इसमें एक भूमिदान का उल्लेख है जो बौद्ध भिक्षुओं को प्रदान किया गया है। यह विशिष्टता है कि सातवाहन नरेश वैदिक धर्मानुयायी थे। पर यहाँ बौद्ध धर्म को उनके द्वारा दान देना उनकी सहिष्णु धार्मिक नीति का परिचायक है।

राजनीतिक दृष्टि से भी यह अभिलेख अपनी विशेषता रखता है। इसमें 'सेनाएँ वेजयंतिये' का उल्लेख है जिसका अर्थ है—विजय करती हुई सेना। इसके आगे विजय स्कन्धावार का उल्लेख है जो गोवर्धन जिले के वेनकटक में स्थित था। इससे स्पष्ट है कि राज्यारोहण के 18वें वर्ष उसने विजय अभियान किया था और गोवर्धन जिले के वेण नदी के तट पर अपना शिविर बनाया था। दूसरे, विदित होता है कि सैनिक छावनियों से भी राजा लोग आज्ञाएँ प्रसारित करते थे। यहाँ यह आज्ञा आमात्य विष्णुपालित को दी गई है। डा० रायचौधरी के अनुसार यह विचित्र लगता है कि जब उसका पुत्र महाराष्ट्र का राज्यपाल था तो उसने उसे आदेश न देकर वहाँ के स्थानीय आमात्य को आदेश क्यों दिया। इस सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि आदेश के तत्कालिक क्रियान्वयन के लिए ही यह आदेश सीधे दिया गया होगा। तीसरे, नहपान के दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) के अधीन की भूमि जो 'अपस्कखड़' ग्राम में पहले से थी उसको इसने दान में बौद्धों को दिया। यह स्पष्ट करता है कि

---

1. तेकिरसिनं का शुद्ध पाठ है—तेरसिकानं = त्रैरश्मिकानां, जो त्रिरश्मि पर्वत पर रहते हैं।
2. तिथि नहपान की तिथि के समीप ज्ञात होती है।

शकक्षत्रपों द्वारा अधिकृत भूमि पर युद्ध के द्वारा विजय प्राप्त कर गौतमीपुत्र सातकर्णी ने दान में दिया था। स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र का युद्ध शकक्षत्रप नहपान और उसके उत्तराधिकारी से हुआ था। इसमें शकक्षत्रपों की पराजय हुई और उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्र पर इस सातवाहन शासक का अधिकार स्थापित हो गया। चौथे, इसके शासनाविधि का भी ज्ञान प्राप्त होता है कि अधिकारियों का सीधा सम्बन्ध राजा से होता था और उन्हें शासक का आदेश पालन करना पड़ता था। पाँचवें, यह ज्ञात होता है कि भूमि पर राज्य का स्वत्व होता था। वह जिसे चाहे उसको दान में दे सकता था। यहाँ ग्राम कखड़ी में यह दान दिया गया है। पर इसी राजा का दूसरा अभिलेख जो इसी स्थान से शातन वर्ष 24वाँ का मिला है वह गोवर्धन नगर के भूमिदान का उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि नीचे क्रम से शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी और फिर नगर थे।

आर्थिक दृष्टि से भी इस अभिलेख की महत्ता दीखती है। इसके अनुसार लवण खनिज पर राज्य का अधिकार होता था। यहाँ यह कहना कि अबसे राज्यकर्मचारी इस क्षेत्र के लवण खनिज पर अपना अधिकार नहीं जताएँगे स्पष्ट करता है कि भूमि पट्टे पर चाहे जिसे भी दें पर उसके खनिज पदार्थ और लवण पर राज्य ही का अधिकार होता था, जबतक कि राज्य अपने ही आदेश से अपने को उस अधिकार से वंचित न कर ले। यह भी ज्ञात होता है कि राज्यकर्मचारियों को कृषि भूमि की देखरेख का अधिकार प्रदान किया गया था तभी यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे अबसे उस भूमि में नहीं जायँगे।

तिथि की दृष्टि से इस अभिलेख से स्पष्ट होता है कि गौतमीपुत्र ने अपने समकालीन प्रतिद्वन्द्वी नहपान को अपने राज्यारोहण के अठारह वर्ष के पूर्व ही पराजित कर लिया था। नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि अभिलेखों के अनुसार 46 है। रैप्सन के अनुसार यह तिथि शक संवत् की है जो 78 ई० में प्रारम्भ हुआ था। अतः नहयान की अन्तिम ज्ञात तिथि (78 + 46 =) 124 ई० है। इसके बाद उसका शासन समाप्त हो गया होगा। गौतमीपुत्र का प्रस्तुत अभिलेख निश्चित ही इसी के आस-पास का होगा जब उसने नहपान का अधिकार उसके क्षेत्र से समाप्त कर दिया होगा। इससे यह भी ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र का राज्यारोहण 124 – 18 = 106 ई० में हुआ होगा।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि पहले राजा मौखिक रूप से दान का आदेश देता था। उसके बाद उसको लिखित स्वरूप प्रदान किया जाता था। दूसरी विशेषता यह है कि दान पत्र दाता के नाम जारी होता था, जैसा दान पत्रों से ज्ञात होता है, पर यहाँ अमात्य के नाम से जारी किया गया है।

3. गौतमीपुत्र सातकर्णी का नासिक गुहालेख (वर्ष 24)

(Nasik Cave Inscription of Gautamiputra Satkarni Reg. Year 24)

स्थान :
लिपि :
भाषा :
काल :
} पूर्ववत्

विषय : गौतमीपुत्र सातकर्णी का पत्र आमात्य श्यामक को

सन्दर्भ : डॉ० पाण्डेय, हि० लि० इ० पृ० 51; सरकार, स० ह०, पृ० 200

मूल-पाट

1. सिद्धं (।।) गोवधने अम[च]स सामकस[1] [दे]यो [रा]जाणितो (।)
2. रञो गोतमिपुत्रस सातकणि[स] म[हा]देवीय च जीवसुताय राज-मातुय वचनेन गोवधने [अम]चो सामको अरोग वतव[2] (।) ततो एव च
3. वतवो (।) एथ अम्हेहि पवर्त तिरण्डुम्हि अम्हधमदाने लेणे पतिवसतानं पवजितान मिखून गा[मे] कखडीसु[3] पुव खेतं दत (।) तं च खेत
4. [न] कसते[4] सो च गामो न वसति (।) एवं सति य दानि एथ नगर-सीमे राजकं खेतं अम्ह-सतकं ततो एतेस पवजितानं भिखूनं तेरण्डुकानं दद[म]
5. खेतस निवतण-सतं 100 (।) तस च खेतस परिहार वितराम अपावेस अनोमस अलोण-खादक-अरठ-सविनयिक सव-जात-पारिहारिक च (।)
6. एतेहि न परिहारेहि परिहरेठ (।) एत चस खेत-परिहा[रे]च एथ निबधापेथ (।) अवियेन आणत (।) पटिहार-(र) लोटाय छतो लेखो (।)[5] सवछरे 20 (+)[6]
7. वासान पखे 4 दिवसे पचमे 5 (।) सुजिविना[7] कटा (।) निबधो[8] निबधो सवछरे 20 (+) रखिय 4 गिंहान पखे 2 दिवसे 10 (।।)

हिन्दी अर्थान्तर

सिद्धम् ।। गोवर्धन के आमात्य श्याम को देने के लिए राजाज्ञा पत्र। राजा गौतमीपुत्र सातकर्णी और महादेवी राजमाता जीवित पुत्र वाली के आज्ञा से गोवर्धन के आमात्य श्याम के आरोग्य की कामना की जाय (पूछा जाय) और इसके पश्चात् यह कहा जाय—त्रिरश्मि (तिरण्हु) पर्वत पर जो हमारा धर्मदान गुहा (लेण) है उसमें प्रव्रजित होकर रहने वाले भिक्षुओं के लिए कखड़ी ग्राम में पूर्वकाल में हमारे द्वारा दिया गया खेत है। किन्तु वह खेत न जोता जाता है और न वहाँ गाँव ही बसा है। इसलिए इस नगर की सीमा पर हमारे स्वत्व से विशिष्ट जो राजकीय खेत हैं उसमें से एक सौ निवर्तन (भूमि की एक इकाई) इन प्रव्रजित भिक्षुओं के लिए देते हैं। यह खेत राज्य सैनिकों के लिए अप्रवेश्य, राजकर्मचारियों द्वारा उत्पन्न बाधा से निर्लिप्त, सरकार द्वारा नमक के लिए न खोदा जाने वाला, राज्यशासन से पृथक् और सभी प्रकार की विमुक्तियों से युक्त रहेगा। इस खेत को इन सभी विमुक्तियों से मुक्त करें। इन विमुक्तियों तथा खेत के दान को पंजीकृत कराएँ। यह आज्ञा मौखिक

---

1. कुछ लोग पढ़ते हैं : समक
2. जीवासुता से अभिप्राय है कि राजा बीमार था। लोग उसके स्वास्थ्य की जानकारी की प्रतीक्षा में थे क्योंकि दूसरा उत्तराधिकारी इस पद के लिए प्रतीक्षारत था।
3. यह गाँव पश्चिमी काखड़ी गाँव की सीमा पर था।
4. पढ़ें : व कुसते
5. किसी स्त्री अधिकारी द्वारा विवरण तैयार करने की बात अधिक रुचिकर है। स्पष्ट है कि रानी की माँ ने यह दान पत्र बनवाया था। Read दता पटिका संवछरे
6. कुछ पढ़ते हैं : पुजितिना

रूप से दी गई थी। पतिहार रक्षिका लोटाद्वार आज्ञा पत्र का प्रारूप तैयार किया गया। इसे संवत्सर 24 में वर्षाकाल के चौथे पक्ष के पाँवचें दिन सुजीव द्वारा कार्यान्वित किया गया। इसे संवत्सर 24 ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पक्ष में दसवें दिन पंजिका में निबद्ध किया गया।

ऐतिहासिक महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख गौतमीपुत्र सातकर्णी नामक राजा के द्वारा उसके पूर्व अभिलेख नासिक गुहालेख (वर्ष 18) के तारतम्य में है। इसकी शैली, सम्बोधनशीलता, प्रस्तुति, विवरण तथा विषय-वस्तु लगभग वही है। उसी प्रकार का दान बौद्ध भिक्षुओं के लिए इस ब्राह्मण-धर्मानुयायी शासक द्वारा दिया गया है। अतः जो विशेषताएँ उपर्यक्ति पूर्व अभिलेख में देखी गई है वे सभी विशेषताएँ धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि इसमें भी हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वह दान ग्राम की भूमि का था और यह दान नगर की भूमि का है। इसे ग्राम और नगर क्रमशः शासनिक इकाई ज्ञात होते हैं।

तिथि का अन्तर इस अभिलेख में है। पूर्ववर्ती अभिलेख उसके शासन वर्ष 18 का जहाँ उल्लेख करता है वहाँ यह वर्ष 24 का उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व अभिलेख के अनुसार शक संवत् में उल्लिखित यह तिथि ई० 130 की बोधक है क्योंकि पहले सन्दर्भ में देखा गया है कि नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि 46 शक संवत् के अनुसार (78 ई० + 46 =) 124 ई० है। उससे 18 वर्ष पूर्व जैसा पूर्व अभिलेख में उल्लिखित है, गौतमीपुत्र की प्रथम ज्ञात तिथि है। अतः (124 – 18 =) 106 ई० में वह सिंहासनासीन हुआ था। इसकी अन्तिम ज्ञात तिथि इस अभिलेख की 24 (= 106 + 24 =) 130 ई० है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस शासक ने अर्थात् 106 से 130 ई०, 24 वर्षों तक शासन किया था।

यहाँ सातवाहनों के शासन व्यवस्था का भी कुछ ज्ञान मिलता है। कुछ अधिकारियों का उल्लेख यहाँ किया गया है यथा––अमच्च, महास्वामी और प्रतिहार। साथ ही भूमिदान देने, दानपत्र के लिखे जाने तथा उस राजाज्ञा के कार्यान्वियन तक की सारी प्रक्रिया का विवरण भी इस अभिलेख से प्राप्त होता है।

4. वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि का नासिक गुहालेख (वर्ष 19)

(Nasik Cave Inscription of Vashisthiputra Pulmavi-Year 19)

स्थान : नासिक, महाराष्ट्र

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि का 19वाँ राज्यवर्ष (लगभग 141 ई०)

विषय : गौतमीपुत्र सातकर्णि की राजनैतिक उपलब्धियों, भिक्षुसंघ को महादेवी गौतमीबलश्री तथा पुलमावि-माता द्वारा गुहावास-दान

मूल-पाट

1. सिद्धं (॥) रञो वासिठीपुतस सिरि-पुलुमायिस सवछरे एकुनवीसे 10 (+) 9 गीम्हाणं पखे बितीये 2 दिवसे तेरसे 10 (+) 3 राजरञो गोतमीपुत्रस हिमव[त]-मेरु

2. मंढर-पवत सम-सारस असिक-असक-मुलक-सुरठ कुकुरापरांत-अनुप-विदभ-आकरावंति-राजस[1] विझछवत-परिचात[2]-सय्ह-कण्हगिरि-मच-सिरिटन-मलय-महिद-
3. सेटगिरि-चकोर पवत-पतिस[3] सवराज [लोक]म[ ] डल-पतिगहीत-सासनस दिवसकर-[क]र-विबोधित-कमलविमळ-सदिस-वदनस तिसमुद-तोय-पीत-वाहनस पटिपू[ ]ण[4]-चद-मउल-ससिरीक-
4. पियदसनस वर-वारण-विकम-चारु-विकमस भुजगपति-भोग-पीन-वाट-विपुल-दीघ-सुद[र]-भुजस अभयोदकदान-किलिन-निभय-करस[5] अविपन-मातु-सुसूसाकस सुविभत-तिवग-देस-कालस
5. पोरजन-निविसेस-सम-सुख-दुखस[6] खतिय-दप-मान-मदनस सक-यवन-पल्हव-[7] निसूदनस धमोपजित-कर-विनियोग-करस कितापराधे पि सतु-जने अ-पाणहिसा-रुचिस दिजावर-कुटूब-विवध-
6. नस खखरात-वस-निरवसेस-करस सातवाहनकुल-यस-पतिथापनकरस सव-मंडलाभिवादित-च[र]णस विनिवतित-चातूवण-संकरस[8] अनेक-समरावजित-सतु-सघस अपराजित-विजयपताक-सतुजन-दुपधसनीय
7. पुरवरस कुल-पुरिस-परपरागत-विपुल-राज-सदस आगमान [नि]लयस सपुरिसानं असयस सिरी[ये] अधिठानस उपचारान पभवस एककुसस एकधनुधरस एकसूरस एक-बम्हणस राम-

---

1. यहाँ आनर्त का उल्लेख नहीं है। आनर्त कुकुर का एक भाग माना जाता है। जो गौतमीपुत्र ने नहयान से पाया था उसे चष्टन और रुद्रदामन द्वारा छीना गया था। (Reference to Malaya (Western Ghots to the South of Nilgiris) and Mahendra (Eastern Ghots) points to vague claim of suzerainty over theDecan Pennisulas possibly basic or **digvijayo** cf. ति-समुद-तीय-पोत-वाहन in line 3).
2. कुछ पढ़ते हैं : वात०
3. विंध्या पूर्वी विंध्या ; त्रिक्षवत् नर्मदा के उत्तर का विंध्य ; परियात्रा = अरावली और पश्चिमी विंध्य कृष्णगिरि ; सहय = पश्चिमी घाट ; कण्हगिरि सेतगिरि गुण्टू जिले में नागार्जुनी कोण्डा के पास की पहाड़ी
4. यह शब्द है : प्रतिपूर्ण पर पढ़ते हैं : परिपूर्ण
5. देखिए विष्णु पुराण—सर्वदानाधिकमभयप्रदानम् (विष्णु, 92, .1).
6. देखिएप्रजामुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः। स कीर्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥ विष्णुसंहिता |3|70
7. The Sakas have again been referred to as Khakharata (=Kshaharata, cf. *supra,* Nos. 59f.). Their success was responsible for the insignificance of the Sotavohana kingdom for many years before Gautamoputra re-established his family's fortune. The Yavanas (Greeks) and Pahalavas (perso-Perthians) ruled in the Punjab-N.W.F.P. Sind region. For their exsitence in Western India, see *supra,* No. 67. notes. Some take Kahatreiya in the sense of the Khatri tribe ; but cf. *eka-bamha*ona in line 7 and the tradition referring to the Brahmana. Naga origin of the Satavahanas.
8. सेनार्ट का पाठ : चातुवण-सकरस. देखिए : चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे। दण्डनीतिकृते क्षेने प्रजानामकुतोभये॥ आदि, महाभारत। शान्तिपर्व। 99|77

8. केसवाजुन-भीमसेन-तुल-परकमस छण-घनुसव[1]-समाज-कारकस नाभाग-नहुस-जनमेजय-सकर-य[या]ति-रामाबरीस-सम-तेजस अपरिमितमखयमचितमभुत पवन-गरुळ-सिध-यख-राखस-विजाधरभूत-गधव-चारण-

9. चद-दिलकर-नखत-गह-विचिणसमरसिरसि[2] जित-रिपु-सघस नागवर-खघा गगनतल.-मभिविगाढस कुल-विपु[लसि]रि-करस सिरि-सातकणिस मातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय सचवचन-दान-खमाहिसा-निरताय तप-दम-निय-

10. मोपवास-तपराय राजरिसिवधु-सदमखिलमनुविधीयमानाय कारित देयधम [केलासपवत]-सिखर-सदिसे [ति] रण्हु-पवत-सिखरे विम[ान]वर-निविसेस महिढीकं लेण (।) एत च लेण महादेवी महराज-माता महाराज-[पि]तामही ददाति निकायस भदावनीयान[3] भिखु-सघस (।)

11. एतस च लेण[स] चितण-निमित महादेवीय अयकाय सेवकामो पियकामो च ण[ता][सिरि-पुलुमावि] [दक्षिणा]पथेसरी पितु-पतियो धमसेतुस [ददा]ति गामं तिरण्हु-पवतस अपर-दखिण-पसे पिसाजिपदक सव जात-भोग-निरठि[4] (।।)

हिन्दी अर्थान्तर

1. सिद्धम्। राजा वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलमावि के संवत्सर 19 में, ग्रीष्मऋतु के दूसरे पक्ष के 13वें दिन—राजाओं में श्रेष्ठ गौतमीपुत्र हिमालय, मेरु,

2. मन्दर पर्वत के समान बलवान, असिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ, आकर, अवन्ति के राजा, विन्ध्य, क्षवत्, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मत्स्य, सिरिटन, मलय, महेन्द्र,

3. सेतगिरि एवं चकोर पर्वतों के स्वामी, समस्त राजमुह द्वारा स्वीकृत शासन, रवि-रश्मियों से खिले विमल कमलसदृश्य मुखवाला, तीनों समुद्रों के जल का पान करने वाले वाहन से युक्त, परिपूर्ण चन्द्रमण्डल–श्रीपूर्ण

4. जो प्रियदर्शन था, जिसका विक्रम महान और श्रेष्ठ था, जिसकी सुदीर्घ भुजाएँ शेषनाग की तरह गोल थी, जो अभयदान करने वाला था, निर्भय करने वाला, माता की सेवा में अवियन तथा देशकाल को त्रिवर्ग में सुविभक्त करने वाला था।

5. परिजनों के सुख-दुख में बिना भेद के समान दृष्टिवाले, क्षत्रियों के दर्प-मान का मर्दन करने वाले, शक, यवन तथा पह्लवों को नष्ट करने वाले, धर्मोचित कर—लगाने वाले, शत्रुओं के अपराध करने पर भी उनके वध में रुचि न रखने वाले, द्विज तथा अद्विज के कुल का वर्धन करने वाले

6. क्षहरातवंश का समूल नाश करने वाले, सातवाहनकुल के यश को प्रतिष्ठापित करने वाले, सब राजाओं के मण्डलों द्वारा विन्दत चरण वाले, चारों वर्णों में वर्णसांकर्य को समाप्त करने वाले, अनेक समरों में शत्रु संघ को जीतनेवाले, अविजित विजय-ध्वजयुक्त शत्रुओं के लिए दुरतिक्रम्य

---

1. पढ़े : छषयनुस
2. देखिए—समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनाकाङ्क्षिणाः।
   ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः। (रामायण, II, 23, 19)
3. देखिए—भद्रयानिक-स्थविखादिन की एक शाखा थे। (*I.H.Q.* XXIV, p. 252)
4. पाठ : निरठं,

7. पुर के लोगों में श्रेष्ठ, कुलपुरुषों से परम्परागत व्यापक राज शब्दवाले, आगमों के निधि, सत्पुरुषों के आश्रय, श्री के अधिष्ठान, सदाचारों के उद्भव, एकांकुश, एक शूर, एक ब्राह्मण, राम,

8. केशव, अर्जुन, भीम तुल्य पराक्रमी, विशिष्ट समय धन, उत्सव तथा समाज करने वाले, नाभाग, नहुष, जनमेजय, सगर, ययाति, राम, अम्बरीष के समान तेजस्वी, अपरिमित, अचिन्त्य, अद्भुत, पवन, गरुड़, सिद्ध, यक्ष, राक्ष, विद्याधर, भूत, गन्धर्व, चारण,

9. चन्द्र–सूर्य, नक्षत्र, ग्रहों द्वारा दृष्ट, युद्ध में शत्रुसमूहों को जीतने वाले, श्रेष्ठ हाथी स्कन्धों से गगनतल का अवगाहन करने वाले, कुल की महान श्री की वृद्धि करने वाले, श्री सातककर्णी की माता महादेवी गौतमीबल श्री द्वारा जो सत्यभाषण, दान, क्षमा, अहिंसा में निरत, तप, इन्द्रिय-निग्रह, नियम,

10. उपवास, तपस्या, राजर्षिवधू अभिधान को पूर्णरूप से धारण करने वाली थी निर्मित कराया गया कैलाश पर्वत के शिखर सदृश त्रिरश्मिपर्वत के शिखर पर श्रेष्ठ विमान के तुल्य दृश्य, महासमृद्धिकर, धर्मदये गुहावास। यह लयन महादेवी महाराज—माता, महाराज—पितामही भद्रायणीय भिक्षुसंघ के निकाय को प्रदान करती है।

11. इस लक्षण के चित्रण हेतु पितामही महादेवी के सेवाभिलाषी एवं प्रिय चाहने वाले नप्ता दक्षिणपथपति स्वर्गीय पिता के प्रीत्यर्थाधर्मसेतुवत लयन को त्रिरश्मि पर्वत के दूसरी ओर दक्षिण भाग में (स्थित) समस्त राजभाग भोगादि से मुक्त पिसाचीपदक ग्राम प्रदान करता है।

ऐतिहासिक महत्व

वाशिष्टिपुत्र पुलमावी के शासन के 19वें वर्ष में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पक्ष (शुक्ल) के 13वें दिन महारानी गौतमी बलश्री द्वारा त्रिरश्मि पर्वत शिखर पर महिढीक गुहा निर्मित करायी गयी तथा उसे भद्रायणी भिक्षुसंघ-निकाय को दिया गया। वह दाता राजाओं के राजा गौतमीपुत्र सातकर्णी की माता थीं। सत्य, श्रद्धा, शान्ति, दया आदि गुणों से युक्त तथा तपस्या, आत्म-संयम, नियमन तथा राजसी ऋषियों की नारियों की तरह वह अपना जीवन व्यतीत करती थीं।

महारानी गौतमी बलश्री के सम्बन्ध में उल्लिखित इस विवरण के बाद यहाँ गौतमीपुत्री श्रीसातकर्णी के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। गौतमीपुत्र एक बहुत शक्तिशाली शासक था जो शक्ति में हिमालय तथा मेरु पर्वत के समान दृढ़ बताया गया है।

इसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था। इसने असिक[1], असक[2], मूलक[2], सुरथ[4], कुकुर[5], अपरान्त[6], अनूप[7], विदर्भ[8], अकरावन्ति[9], आदि प्रदेशों के राजाओं को जीत लिया था। इसके अतिरिक्त विन्ध्य[10],

1. गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश
2. गोदावरी का तटीय प्रदेश
3. पैठान के चतुर्दिक प्रदेश
4. दक्षिणी काठियाबाढ़
5. उत्तरी काठियाबाढ़
6. बम्बई प्रान्त का उत्तरी प्रदेश
7. नर्मदा नदी पर स्थित महिष्मति प्रदेश (मध्य प्रदेश का निमाड़ जिला)
8. बरार
9. (आकर + अवन्ति) = पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा
10. गुजरात से पूर्व में स्थित विंध्य का पूर्वी भाग

छवत[1], पारिचात[2], सह्य[3], कण्हगिरि[4], मच्च[5], सिरिटन[6], मलय[7], महेन्द्र[8], सेतगिरि[9], तथा चकोर[10] आदि पर्वत इसकी अधीनता में थे। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ ये पर्वत स्थित थे वे सभी क्षेत्र भी इसकी राज्य सीमा में समाहित थे। इस विवरण से लगता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण में कृष्णा नदी से लेकर उत्तर में मालवा एवं सौराष्ट्र तक तथा पूरब में विदर्भ से लेकर पश्चिम में कोंकण तक फैला था। ये भाग उसके सीधे शासन में थे। पर्वतों के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि विंध्य पर्वत से लेकर पूर्वी एवं पश्चिमी घाट के बीच के क्षेत्रों पर भी उसका प्रभाव था। इसकी पुष्टि इसी अभिलेख के 'त्रीसमुद्र-तोय-पोत वाहन' के उल्लेख से होती है—अर्थात् बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक। पर दक्षिण में आंध्र और दक्षिणी कोशल इसके अधिकार के बाहर थे क्योंकि यहाँ इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

इसका मुखमण्डल अत्यन्त सुन्दर कमल पुष्प के समान था जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता था। इसकी सेनाएँ तीनों समुद्रों के जल का पान करती थीं। यह विवरण उसके शौर्य को प्रदर्शित करता है कि वह इतना बलशाली था कि तीनों समुद्र—बंगाल की खाड़ी, अरब सागर तथा हिन्द महासागर तक का क्षेत्र उसके अधीन था। हो सकता है कि यह कथन अतिरंजनापूर्ण हो और शौर्य के सम्बन्ध में ऐसा कहने की परम्परा अभिलेखों में रही हो। (देखिए चालुक्य अभिलेख ऐहोल प्रशस्ति श्लोक 35, हर्षचरित आदि।) उसका शारीरिक सौन्दर्य बड़ा ही आकर्षक था, चाल मन्थर थी, चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान इसका वस्त्र था। नागराज की तरह इसकी भुजाएँ चमकीली, लम्बी, गोल तथा उभरी मांसपेशियों वाली थीं। इसकी निर्भीक भुजाएँ निर्भीकता प्रदान करने वाले दैविक जल में घुल चुकी थीं।

माता के प्रति इसमें असीम आज्ञा-पालन का भाव था। समय और स्थान का समुचित विभाजन यह त्रिवर्ग की पूर्ति के लिए बराबर करता रहता था एवं नागरिकों के सुख-दुःख में सदा उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार रखता था।

वह क्षत्रियों के मान एव दर्प का मर्दन करने वाला था। यहाँ उल्लिखित 'खतिय-दप-मान-मदनस', में खतिय का अर्थ कुछ लोगों ने खत्री या व्रात्यक्षत्रिय माना है। पर आगे की पंक्तियों में इसकी समता परशुराम से की गई है जिन्होंने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से युद्ध कर निःक्षत्रिय किया था। अतः क्षत्रियों के दपमान को विनष्ट करने वाले से यहाँ अभिप्राय लगता है। यद्यपि पुराणों में सातवाहनों

1. नर्मदा के उत्तर में विंध्य का मध्यवर्ती भाग
2. पारियात्र = अरावली पर्वत श्रेणियाँ
3. पश्चिमीघाट
4. कृष्णगिरि (कन्हेरी)
4. मस्त्य (?)
6. श्रीस्थान (?)
7. पश्चिमीघाट का दक्षिणी भाग
8. पूर्वीघाट का दक्षिणी भाग
9. पूर्वी घाट की पहाड़ियों में कोई भाग
10. वही

को वृषल (= क्षत्रिय) तथा इस अभिलेख में ब्रह्मर्षि वधू के स्थान 'राजर्षिवधू' कहने से इनके क्षत्रिय होने में सन्देह किया जाता है। इसके कार्य क्षत्रियोचित थे परन्तु यह स्वयं अपने को एक ब्राह्मण कह कर पुष्ट करता है कि वास्तव में वह ब्राह्मण था। साथ ही—'शक यवन-पह्लव निसूदनस' का उल्लेख देखकर डा० हरिपद चक्रवर्ती का मत है कि यहाँ उन क्षत्रियों के दर्प को नष्ट करने का उल्लेख है जो शक, यवन, पह्लव आदि विदेशी शक्तियों को सहयोग देते थे। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार दक्षिण भारत, राजस्थान आदि में विजय के क्रम में इसने अनेक क्षत्रिय राजाओं को विनष्ट किया होगा जिसका यहाँ संकेत दिया गया है।

शक, पह्लव यवनों को भी इसने विनष्ट किया। 'शक-यवन-पह्लव-निसूदनस', का अभिप्राय लिया गया है कि इन विदेशी राजवंशों को जो भारत में शासन करते थे इसने समाप्त कर दिया। उसके कथन—'खखरात वंश निरवशेष करस' से भी यह प्रमाणित होती है कि खखारात का अभिप्राय क्षहरात (शक-क्षत्रप से) है। इसने इनको समूल विनष्ट कर दिया। इसकी पुष्टि इसके द्वारा विजित प्रदेशों से होती है जो नहपान के राज्य में थे जिन्हें गौतमीपुत्र ने जीत लिया था। जैन ग्रंथ आवश्यकसूत्र बताता है कि सातवाहन नरेश ने नहपान को हराया था। साथ ही जोगलठम्भी निधि से नहपान के मिले सिक्कों पर गौतमीपुत्र की मुहर पुनः लगाई गई है। इसकी पुष्टि गौतमीपुत्र सातकर्णी के 18वें वर्ष के नासिक गुहा लेख से होती है जिसकी दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि उषवदात जो नहपान का दामाद तथा पूना और नासिक प्रदेश का गवर्नर था उसके अधिकार की भूमि को गौतमीपुत्र ने दान में दिया था। इससे स्पष्ट है कि शक-सातवाहन युद्ध के दूसरे क्रम का संघर्ष नहपान और गौतमीपुत्र के बीच हुआ था। अभिलेखों से नहपान की ज्ञात तिथियां 41, 42, 45, और 46 है जो शक-संवत् के अनुसार (41 + 78) 119 से (46 + 78) 124 ई० तक उसका शासन काल बतलाती है जबकि गौतमीपुत्र सातकर्णी के शासन की तिथि 106-130 ई० ज्ञात होती है। इसकी प्रामाणिकता इससे भी होती है कि नहपान के दामाद तथा शक साम्राज्य के दक्षिणी प्रांत के प्रान्तपति के अधिकार में दक्षिण कठियाबाढ़, भड़ौंच, पश्चिमी मालवा (म० प्र०), नासिक का पड़ोसी भाग (गोवर्धन, सोपारा–महाराष्ट्र) उसके अधीन थे। दूसरी ओर सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णी के नासिक गुहालेख 18 (124 ई०) में वेणाकटक नामक अपने स्कंधावार से जहाँ वह स्वयं उपस्थित था आमात्य विष्णुपालित को संबोधित करता है। यह भी नासिक क्षेत्र में युद्ध को व्यक्त करता है।

इस राजनीतिक उपलब्धि के साथ उसने अपने जातीय गौरव को भी उजागर किया है। यहाँ उल्लिखित उसके लिए 'एक ब्राह्मण' शब्द विशेष महत्त्व का है। डा० राजबली पाण्डेय तथा डा० भगवतशरण उपाध्याय ने इसका अर्थ उसका ब्राह्मण कुल का होना बताया है। पर नीलकण्ठ शास्त्री ने (सम्पादित—'ए कम्प्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑव इण्डिया' खण्ड–2, पृ० 314) शंका उठाई है कि यह मातृ-सत्तात्मक परिवार था तभी माता का नाम यहाँ पुत्र के पहले दिया गया है। चूँकि वे क्षत्रिय जाति के थे और इनकी माता गौतमी बलश्री ब्राह्मण परिवार की रही होगी इसीसे इसने अपने को अकेला ब्राह्मण-एक ब्रह्मण, कहा है। पर यह विचार अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि इसी अभिलेख की सातवीं पंक्ति में प्रयुक्त राम शब्द जो परशुराम का बोधक है तथा उनसे इसकी समता सिद्ध कर स्पष्ट किया गया है कि यह परशुराम की तरह क्षत्रियों का विरोधी था। दूसरे, इसकी आठवीं पंक्ति में राम, अम्बरीष आदि राजाओं की परम्परा में इसे रखकर इसके शौर्य की समता इन राजाओं से आंकी गई है। तीसरे,

यदि यह क्षत्रिय पित्रिकुल का रहता तो क्षत्रियों के मानमर्दन की घोषणा करके प्रसन्न नहीं होता, जैसा ऊपर देखा गया है। चूँकि ब्राह्मण परिवार में उद्भूत होकर उसने इतना शौर्य प्रदर्शित किया था इसीसे इसे 'एक ब्राह्मण' कहा गया है।

अभिलेख की 11वीं पंक्ति में—'सिरि पुलुमाविदखिणा पथेसरो' उल्लिखित है। स्पष्ट है कि वह दक्षिण भारत का स्वामी माना जाता था। डा॰ सरकार ने उपर्यंकित विजय को दक्षिण क्षेत्र के राजाओं के लिए बताई गई चक्रवर्ती क्षेत्र की अभिव्यक्ति माना है। अतः यह विशेषण उपयुक्त है।

जनता पर कभी भी इसने बहुत अधिक कर नहीं लगाया। यह सदा उतना ही कर लगाता था जो न्यायसंगत था। यह किसी की भी हत्या का विरोध करता था। इतना दयालु था कि शत्रुओं पर भी प्राणघातक प्रहार नहीं करता था। निम्न तथा द्विज वर्णों के साध सदा सौजन्यतापूर्ण व्यवहार करता था। छहरात वंश के गौरव को इसने समूल विनष्ट कर दिया। सातवाहन वंश का गौरव इसके समय फिर स्थापित हुआ। प्रत्येक प्रान्तों के प्रान्तपति इसके चरणों पर झुक कर प्रणाम करते थे। चातुर्वर्णों के बीच अन्तर सम्बन्ध (विवाह) की परम्परा को इसने रोक दिया। अनेक युद्धों में सहस्रों शत्रुओं को इसने विजित कर लिया था। इसका ध्वज किसी भी विजेता के हाथों विनष्ट नहीं किया गया था तथा इसकी राजधानी इतनी सुदृढ़ थी कि सरलतापूर्वक वहाँ पहुँचना बड़ा ही कठिन था। अपने पूर्वजों से इसने राजसी संगीत सीख लिया था। गुणवानों का यह आश्रयदाता था, भाग्यवानों का घर था तथा सद्गुणों का स्रोत था। इन गुणों के साथ ही यह एक अद्वितीय सैन्य संचालक, नायक तथा तीर चलाने में निपुण था।

इन्हीं के गुणों के कारण इसकी समता भारतीय परम्परा के अनेक महारथियों से की गई है। शक्ति में इसकी तुलना राम, केशव, अर्जुन, भीष्म, आदि से की गई है। गरिमा तथा गौरव में इसे अम्बरीष, राम, नाभाग, नहुष, जनमेजय, सगर, ययाति आदि के समान कहा गया है। युद्ध क्षेत्र में इसने अपने शत्रुओं को विशिष्ट कौशल से पराजित करने की कला सीखी थी। वहाँ इसका शौर्य गरुड़, सिद्ध, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, भूत, गन्धर्व, चन्द्र, सूर्य, ग्रह तथा नक्षत्रों की तरह दिखाई पड़ता था। यह शत्रुओं के ऊपर हाथी की पीठ पर से तत्काल कूद पड़ता था। इसने अपने परिवार के गौरव को बहुत अधिक गौरवान्वित किया तथा त्रिणहु पर्वत पर, कैलाश पर्वत की तरह बहुत अधिक दान सामग्री बाँटी गई थी।

यह गुहा बड़े ही कौशल से बनी थी। इस गुहा को महारानी ने स्वयं बौद्ध संघ के भद्रायनी शाखा को व्यक्तिगत रूप से दिया था जिससे मैत्रीपूर्ण रीति से बांधव निवास की तरह वे वहाँ रहें। इस गुहा को चित्रित किया गया था। यह कलात्मक भावना का पोषक है। माता के इस कार्य को और भी अधिक गौरवान्वित करने के लिए 'दक्षिणापथ पृथीव्याः स्वामी' ने पसाजि पदक नामक गाँव भी जो त्रिणहु पर्वत के दक्षिण पश्चिम था दान में दे दिया तथा प्रत्येक प्रकार के भाग से उसने अपना मुँह मोड़ लिया।

इस अभिलेख से सामाजिक स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ उल्लिखित—'विनिवतित-चातूवण संकरस' से ज्ञात होता है कि इस समय जातीय मर्यादा का उल्लंघन कर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता था जिससे वर्णसंकरता विद्यमान थी। सातवाहन भी शकों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए थे। इसने क्षत्रियों के लिए मान्य अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञों को किया था। इनके दूसरे अभिलेखों से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों के पुत्र वैश्य का व्यवसाय तथा कुछ ब्राह्मण बालक चमार

का भी कार्य करते थे। इसीसे गौतमीपुत्र को इस असामाजिक व्यवस्था को रोकने का प्रयास करना पड़ा। नारी की अवस्था के विषय में विदित होता है कि बलश्री की तरह ही विधवाएँ भी पुत्रों द्वारा सम्मान प्राप्त करती थीं—महादेवीय अयकाय सेवकामो पियकामो च (अपने दानी महादेवी का सम्मान और प्रिय करने का इच्छुक उसका पौत्र)। विधवा के आदर्श जीवन की ओर भी यह संकेत करता है कि वे सत्य, दया, क्षमा, हिंसा, तप, दान, नियमोपवास में तत्पर रहती थीं—सचवचन-दान-क्षमा-हिंसा-निरताप-तप-दम-नियमोपवास...। यह अभिलेख ब्राह्मणों का समाज में विशेष महत्त्व प्रदर्शित करता है। तभी एक ब्रह्मण शब्द का उल्लेख यहाँ किया गया है।

आर्थिक क्षेत्र में राजा भूमि से कर लेता था तथा भूमिदान स्वयं करता था। यहाँ गुहादान के साथ 'पिसाजिपदक' नामक गाँव को सब प्रकार के भोग (राज भागकर) से मुक्त करके दान दिया गया था। अतः भूमिकर राजकीय आय का एक स्रोत था। पर यह कथन—'धर्मोजित विनियोग करस', स्पष्ट करता है कि अनैतिक कर जनता पर नहीं लगाया जाता था। भद्रायणी बौद्ध संघ को कर मुक्त गुहादान के विषय में प्रो॰ शर्मा ने कहा है—The comprehensive competence based on the centralised control which was the hallmark of the Mauryan State gave way to decentralisation in the post-Mauryan age. (मौर्यकाल की केन्द्रित नियन्त्रण व्यवस्था मौर्योत्तर काल में विकेन्द्रित हो गई)।

यहाँ यह भी ज्ञात होता है कि सातवाहन यद्यपि ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे परन्तु धार्मिक भगवान में सहिष्णु थे। तभी बौद्धों को उन्होंने गुहादान किया था।

इस अभिलेख की चौथी पंक्ति में 'वरवारण विकमस-चारुविकमस' का उल्लेख है। कुछ विद्वानों ने विक्रम (विकम) शब्द के आधार पर इसकी समता विक्रमादित्य से स्थापित करने का प्रयास किया है। यह गलत है क्योंकि विक्रमादित्य उज्जैनी का शासक था तथा उसने विक्रम संवत चलाया था जबकि यह गौतमी पुत्र प्रतिष्ठान (पैठान) का शासक था और उसने कोई संवत नहीं चलाया। इसी से इसके लेख इसके शासन वर्ष में अंकित है। यह सातवाहन 'शक निसूदन' कहा गया है जबकि कालिदास ने भी विक्रमादित्य को 'शकारि' कहा है जिनका अर्थ एक ही है। ये दोनों पद फिर भी दो व्यक्तियों के लिए है। यह राजा शकों के साथ यवन और पहलवों का भी अन्त करने वाला 'शक-यवन-पह्लव निसूदनस' कहा गया है। पर ऐसा विक्रमादित्य ने नहीं किया था। साथ ही—वर-वारण-विक्रम चारु-विक्रम, में विक्रम का अर्थ हाथी हैं जिसके मन्थर गति के चाल से गौतमीपुत्र की समता की गई है।

इसी नासिक गुहा में इस अभिलेख से पूर्व गौतमी पुत्र के शासन के 24वें वर्ष का एक लेख है जिसमें इसने अपनी माता के साथ गुहा दान का उल्लेख किया है। पुनः इसी अभिलेख में उसके पौत्र के शासनकाल के 19 वर्ष में मातामही द्वारा इस दान का उल्लेख है और यहीं गौतमीपुत्र तथा वासिष्ठीपुत्र का भी उल्लेख है। इन दोनों अभिलेखों में एक ही दान के लिए दो विभिन्न समयों में दो विभिन्न राजाओं के नामों का उल्लेख देखकर डा॰ आर॰ जी॰ भण्डारकर एवं डी॰ आर॰ भण्डारकर ने गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र को कुछ समय के लिए सहशासक माना है। पर यह मान्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि—(1) दोनों अभिलेख उसी गुहा में दो स्थलों पर अंकित है। अतः दोनों अभिलेखों से अलग-अलग गुहा के भाग के दान का प्रयोजन ज्ञात होता है। (2) गौतमीपुत्र के 24वें वर्ष के

अभिलेख में 'महादेवी जीवसुता' और 'राजमाता' विशेषणों का प्रयोग माता के लिए हुआ है। पर इस अभिलेखों में 'जीवसुता' विशेषण होना स्पष्ट करता है कि इस समय गौतमीपुत्र जीवित नहीं था। (3) इसका कोई भी दूसरी अभिलेख पिता पुत्रों के सहशासन का उल्लेख नहीं करता। (4) इस अभिलेख में गौतमी बलश्री को महाराजा की माता और महाराज की पितामही कहने से पुत्र और प्रपौत्र दोनों के जीवित होने तथा साथ-साथ सिंहासन पर शासन करने का बोध नहीं होता। वरन यह दोनों से अपना सम्बद्ध व्यक्त करता है। (5) इस अभिलेख में केवल पुलमावी का शासन वर्ष दिया गया है। अगर दोनों सहशासक होते तो इसमें पूर्व अभिलेख की तरह गौतमीपुत्र का भी शासन वर्ष दिया गया होता।

●

अध्याय 5

शक-क्षत्रप अभिलेख

1. शोडासकालीन मथुरापूजा अभिलेख (सं० 72)

(Mathura Votive Tablet Inscription of the time of Sodas-Year 72)

स्थान : कंकाली टीला, जिला–मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : संस्कृत प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : अनिर्दिष्ट संवत् 72 (15 ई०)

विषय : जैन भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए आर्यवर्ती (पूजा शिला) की स्थापना

सन्दर्भ : राजबली पाण्डेय हि० लि० इन्सक्रृपशन्स, पृ० 68-9; इ० इण्डिया अंक 2, पृ० 199

मूल पाठ

1. नमो अरहतो वर्धमानस[1] [।]
2. स्व[ा]मिस महाक्षत्रपस शोडासस स[ं]वत्सरे 70[2] (+) 2 हेम [ं]त-मासे 2 दिवसे 9 हरितिपुत्रस पालस भयाये सम(न)-स[ा] विकाये
3. कोछिये अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पीठघोषन धनघोषेन आर्यवति[3] [प्र]तिथापिता (।) प्रियं***[4]
4. आयवंति[5] अरहत-पूजाये (॥)

संस्कृत छाया

नमः अर्हते वर्धमानाय। स्वामिनः महाक्षत्रपस्य शोडस्य संवत्सरे 72 हेमंत मासे 2 दिवसे 9 हारीतिपुत्रस्य पालस्य भार्याया श्रमण-श्राविकया कौत्स्या अमोहिन्या सह पुत्रेहि पालघोषेण, पीठघोषेण, धनघोषेण आर्यवती प्रतिष्ठापिता। प्रियं आर्यवती अर्हत पूजायै।

हिन्दी अर्थान्तर

1. नमः अर्हत वर्धमान

---

1. वर्धमान या महावीर २४वें तीर्थंकर थे। अर्हत् से अभिप्राय है—सर्वज्ञो जितरागादिदाअेषस्त्रैलोख्यपूजितः। यथास्थितार्थवादी च देवोर्हन् परमेश्वरः॥ वर्धमान महावीर ही जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक थे।
2. रैप्सन ने ४० पढ़ा है। ब्यूलर के अनुसार यह अंक ४० है या ७० है। पर पीछे उन्होंने ७० ही सही माना। अब सभी ७० ही उचित मानते हैं।
3. ब्यूलर : आयवती.
4. पाठ सम्भवतः है : प्रियतां भगवती
5. ब्यूलर : आर्यवती

2. स्वामी महाक्षत्रप शोडास के संवत्सर 72, हेमन्त मास, दिवस 9 हारीतिपुत्र के पालकी भार्या श्रमण-श्राविका के लिए

3. कौत्स गोत्रोत्पन्न अमोहिनी के साथ पुत्र पालघोष, पीठघोष, घनघोष के द्वारा आर्यवती को प्रतिस्थापित किया। प्रिय भगवती

4. आर्यवती अरहत पूजा के निमित्त।

ऐतिहासिक अध्ययन

उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले के कंकाली टीले से प्राप्त मथुरा के शकक्षत्रप शोडस के शासन काल का यह अभिलेख पाषाण-फलक पर उत्कीर्ण है तथा इस पर दासियों से घिरी रानी अंकित हैं। इसमें एक दासी छत्र लिए है। यह धार्मिक प्रकृति का पूर्ण व्यक्तिगत अभिलेख है जो गद्य में लिखा है। इसकी लिपि ब्राह्मी तथा भाषा संस्कृत प्रभावित प्राकृत है। इस शासक के अन्य तिथि विहीन लेख मिले हैं। केवल इसी में एक मात्र अनिर्दिष्ट संवत् 72 अंकित है।

यह अभिलेख जैन धर्म से सम्बन्धित है। इसका प्रारम्भ ही-'नमः अरहतो वर्धमानस', से होता है, अर्थात् सबसे पहले वर्धमान महावीर को नमस्कार करके ही लिखना प्रारम्भ किया गया है। यहाँ प्रयुक्त 'अरहत' शब्द से अभिप्राय है उस महापुरुष से जिसने सभी राग, दोष आदि को जीत लिया हो तथा जो तीनों लोकों में पूजित हो (सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः। यथास्थितार्थवादी च देवोर्हनपमेश्वरः॥)। वर्धमान, जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर के लिए प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी उनको वर्धमान महावीर नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस धर्म के पहले तीर्थंकर आदिनाथ थे। पर महावीर ने ही इस धर्म के स्वरूप को स्थायित्व प्रदान किया तथा इन्हीं के द्वारा इसे गति मिली। यहाँ आर्यवती शब्द आपागपट्ट का बोधक है। यह एक पट होता था जिस पर अर्हत की प्रतिमा बनी होती थी। कंकाली टीला को जैन धर्म का आगार (Emporium) माना जाता है क्योंकि यहाँ से जैन धर्म की ही सामग्रियाँ प्रायः प्राप्त हुई है। इसका कंकाली नाम जैन धर्म की चौसठ योगिनियों में से एक योगिनी कंकाली के नाम पर पड़ा है। अतः यह लेख जैन धर्मनुयायी का ही होगा। इससे यह भी ज्ञात होता है कि शक-क्षत्रपों के समय मथुरा में जैन धर्म का प्रसार था।

इसमें उल्लिखित 'स्वामिस महाक्षत्रप शोडासस' से स्पष्ट है कि यह लेख शोडास के शासन काल का है। मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख से ज्ञात होता है कि महाक्षत्रप का पुत्र क्षत्रप शोडास था। पर दूसरे अभिलेखों में इसकी उपाधि महाक्षत्रप दी गई है। क्षत्रप से अभिप्रेत है महाक्षत्रप रंजुबल के साथ सहशासक या स्थानीय शासक से। लगता है कि यह पहले किसी के अधीन था पर जब स्वतन्त्र होता गया तो महाक्षत्रप उपाधि से विभूषित किया गया। इस लेख में संख्या 72 अंकित है। अतः इस समय यह एक स्वतन्त्र शासक बन गया होगा। इस कथन की पुष्टि के लिए हम महाक्षत्रप चष्टन को ले सकते हैं जिसके साथ-साथ शासन करने वाले जयदामन तथा रुद्रदामन को क्षत्रप ही कहा गया है। अतः यह भी अपने पिता रञ्जुबल के साथ पहले सहशासक रहा होगा। पीछे जब इसने स्वतन्त्र सत्ता धारण कर लिया होगा तब इसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की होगी। इसलिए एक दूसरा विशेषण 'स्वामी' भी यहाँ इसके लिए प्रयुक्त है।

यहाँ तिथि का उल्लेख है—संवत्सरे 70 + 2 हेमन्त मासे 2 दिवसे 9। रैप्सन ने 70 के सात को 4 पढ़ा है और इस प्रकार इसकी तिथि संवत्सर 42 माना है। पर सामान्यतया इसे 72 ही पढ़ा

जाता है जो अनिर्दिष्ट संवत का है। डॉ॰ मजुमदार ने इसे 78 ई॰ में प्रारम्भ होने वाले शक संवत् में माना है। इस प्रकार गणना करने पर (78 + 72 =) 150 ई॰ में इसको रखा जा सकता है। पर यह तिथि मान्य नहीं प्रतीत होती क्योंकि दूसरी शताब्दी के मध्य में पड़ने वाली इस तिथि के ही आस-पास इतिहासकार टालमी का समय माना जाता है। उसके विवरण के अनुसार उस समय शकों का साम्राज्य सिन्धु के मुहाने, आभीर प्रदेश (पश्चिमी भारत) तथा काठियावाड़ में था। मथुरा में तब कैस्पीराई का अधिकार था। अब्बे बोयर के अनुसार कैस्पेराइ से अभिप्राय कुशान वंश से है। अतः शक संवत् में गणना करने से मथुरा में शोडास का शासन काल ठीक नहीं बैठता। इसकी पुष्टि रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से भी होती है जिसमें शक राज्य का उल्लेख किया गया है। अतः स्टेनकोनो के अनुसार इसकी गणना विक्रम संवत में ही करना उचित प्रतीत होता है जो 58 ई॰ पू॰ में प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार यह अभिलेख (72 – 58) = 14 या 15 ई॰ का माना जा सकता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि शक-क्षत्रपों के अभिलेखों में तिथि अंकन की विधि कुषाण शासकों के अभिलेखों की तिथि अंकन विधि से पूर्णतया भिन्न थी। शकक्षत्रप अभिलेखों में जहाँ विक्रम संवत् में तिथि गणना की गई है वहीं कुषाण अभिलेखों में शक संवत् का प्रयोग हुआ है। दूसरे कुषाण अभिलेखों में मास गणना विदेशी मास में की गई है जैसे—मथुरा के प्रस्तर अभिलेख में 'गुर्पिये' (मास) का उल्लेख है जबकि शकक्षत्रपों ने भारतीय मास— 'हेमन्त', का प्रयोग किया है। उल्लेखनीय है कि सातवाहन अभिलेखों में तिथि लिखते समय ऋतु के साथ पक्ष का उल्लेख किया गया है यथा पुलमावी के नासिक गुहालेख (वर्ष 190 में)। यूनानियों ने (मिनाण्डर का शिनकोट पेटिका अभिलेख) वर्ष के साथ माह का उल्लेख किया है। किन्तु इस शकक्षत्रप अभिलेख में इन दोनों का समन्वय है। साथ ही, हेमन्त ऋतु के उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि भारत में तीन ऋतुएँ होती थीं—ग्रीष्म (चैत्र से आषाढ़), वर्षा (श्रावण से कार्तिक) तथा हेमन्त (मार्गशीर्ष से फाल्गुन)।

2. नहपानकालीन नासिक गुहालेख

(Nasik Cave Inscription of the time of Nahpan)

स्थान : नासिक (गुहा सं॰ 10) महाराष्ट्र,

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : नहपानकालीन (लगभग 119-24 ई॰)

विषय : नहपान की पुत्री दक्षमित्रा द्वारा धर्मार्थ गुहावास का दान

मूल-पाठ

1. सीधं[1] (।।) रांओ क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस दीहि-
2. तु दीनीकपुत्रस उषवदातस कुडुंबिनिय दखमित्राय देयधम[2] औवरको[3] (।।)

---

1. कुछ का पाठः मिध, व्यूलर : सिधं
2. सेनार्ट धंमं
3. इसी प्रकार का लेख इसी गुहा के बरामदे में दाहिने द्वार पर है।

संस्कृत छाया

सिद्धम्। राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्म नहनापस्य दुहितुः दिनीक पुत्रस्य ऋषभदत्तस्य भार्यायाः दक्षमित्रायाः देयधर्मः उपवारकः।

हिन्दी अर्थान्तर

1. सिद्धम्।। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान की

2. दुहिता, दीनीकपुत्र ऋषभदत्त की स्त्री दक्षमित्रा का धर्मदेय—के लिए दिया गया गुहावास।

3. नहपानकालीन तिथिविहीन नासिक गुहालेख
(Undated Nasik Cave Inscription of the time of Nahpan)

स्थान : नासिक गुहा सं॰ 10, महाराष्ट्र

लिपि : ब्राह्मी

भाषा : संस्कृत, प्राकृत, प्रभावित

काल : नहपान के काल का

विषय : उषवदात द्वारा त्रिरश्मि पर्वत पर दिया गया दान

संदर्भ : सरकार, स॰ इ॰, पृ॰ 167; पाण्डेय, हि॰ एण्ड लि॰ इ॰, पृ॰ 58

मूल-पाट

1. सीद्धम्[1] [स्वस्तिक चिह्न] (।।) राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्य नहपानस्य जामात्रा दीनीकपुत्रेण उषवदातेन त्रि गोशत-सहस्रदेन नद्या बार्णासायां सुवर्णदानतीर्थकरेण देवत[ा]भ्यः ब्राह्मणेभ्यश्च षोडशग्रामदेन अनुवर्षं ब्राह्मणशतसाहस्त्री-भोजापयित्रा

2. प्रभासे[2] पुण्यतीर्थे ब्राह्मणेभ्यः अष्टभार्याप्रदेन[3] भरुकछे दशपुरे गोवर्धने शोर्पारगे च चतुशालावसध-प्रतिश्रय-प्रदेन आराम तडाग-उदपान-करेण इबापाराद-दमण-तापा-करबेणा-दाहनुका-नावा-पुण्य-तर-करेण एतासां च नदीनां उभतो तीरं सभा–

---

1. कुछ पढ़ते हैं : सिद्धं

2. देखिए : ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासन तीर्थमुत्तमम् III, 82, 20, 58 ये तीर्थ सभी पश्चिमी भारत में थे शक क्षत्रप नहयान के साम्राज्य में जो उषावदात्त का श्वसुर था।

3. इनमे से बहुत से तीर्थ पुराणों में उल्लिखित हैं। क्षितिं सशम्यां यो दद्याब्राह्मणाय द्विजोत्तम। विष्णुलोके सुखं भुङ्के यावदिन्द्राश्चतुर्दश।।३।। समद्वीपां महीं दत्त्वा यत्पुण्यं प्राप्यते द्विज। तत्पुण्यं प्राप्तयान्मर्त्त्यो धेनुं यच्छन् द्विजातये।।१३।। तिलप्रमाणं स्वर्ग यो ब्राह्मणाय प्रयच्छति। हरेर्निकेअतनं याति युक्तं कोटिकुलैरपि।।१८।। सालङ्कारां ्रजिश्रेष्ठ कन्यां यच्छति यो नरः। स गच्छेद्ब्रह्मसदनं पुनर्ज्जनम न विद्यते।।२२।। अन्न वारि द्विजश्रष्ठ येन दत्तं महीतले। तेन दत्तानि दानानि सर्वाणि च जिर्षभ।।४१।। पद्मपुराण, ब्रह्म खण्ड, पृ. २४ विष्णु संहिता अय कूपकर्त्तुस्तत्प्रवृत्ते पानीये दुष्कृतस्यार्द्धं विनयसित।१। तडागकव्चिन्यतृप्तो वारुणं लोकमयुते।२। जलप्रदः सदा तृप्तो भवति।३। कूर्मपुराण २।३१।५।७९ अनाथं दुर्गतं विप्रं नाथवन्तमथापि वा। उद्वाहयति यस्तीर्ये तस्य पुण्यफवं शृणु।।

3. प्रपाकरेण पींडीतकावडे गोवर्धने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे[1] चरक पर्षभ्यः ग्रामे नानंगोले द्वात्रीशत नाळीगेर-मूल सहस्र-प्रदेन गोवर्धने त्रोरश्मिषु[2] पर्वतेषु धर्मात्मा इदं लेणं कारितं इमा च पोढियो (।।)[3] भटारका-अञातिया[4] च गतोस्मिं वर्षारतुं मालये[हि] हि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं (।)
4. ते च मालया प्रनादेनेव[5] अपयाता उतमभद्रकानं[6] च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता (।) ततोस्मिं गतो पोक्षरानि[7] (।) तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च (।।) दत च[ा]नेन क्षेत्र[ ] ब्राह्मणस वाराहि-पुत्रस अश्विभूतिस हथे कोणिता मुलेन काहापण-सहस्रेहि चतुहि 4000 यो[8] स-पितु-सतक नगरसीमायं उतारपरा[यं] दीसायं (।) एतो मम लेने वस-
5. तानं चातुदीसस भिखु-सघस मुखाहारो भविसती[9] (।।)

हिन्दी अर्थान्तर

सिद्धम्। क्षहरात क्षत्रपराजा नहपान के दामाद और दीनीक के पुत्र उषवदात के द्वारा—जिसने तीन हजार गायें दान दी हैं, वर्णासा[10] नदी पर सुवर्ण तथा सीढ़ियों का दान दिया है, देवताओं एवं ब्राह्मणों को 16 ग्राम दान दिये हैं, जो प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराता है, प्रतिवर्ष वह पुण्य तीर्थ प्रभास[11] में ब्राह्मणों को आठ भार्यायें देता है, जिसने भृगुकच्छ[12], दशपुर[13], गोवर्धन[14] और शूर्पारक[15] को चतुःशाला-गृह और विश्रामागार प्रदान किया, जिसने वाटिका, तालाब और

1. देखिए :ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम्।
   रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्राद बहुसुवर्णकम्।। महा० III, 85, 42
   रामतीर्थ एक परशुराम से संबद्ध है, जो महेन्द्र पर है दूसरा गोमती पर दाशरथी राम से संबद्ध है।
2. सेनार्ट : चिरश्मषु यह गुहा वारु पर्वत का नाम था।
3. देखिए :का कथा वाणसन्धाने ज्याशब्दनैव दूरतः।
   हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति।। शकुन्तला, III., 1.
4. बहुवचन में उत्तमभद्र के प्रयोग से यह एक जाति का बोधक है। इसकी समता मथुरा के उत्तमदत्त के सिक्कों के करना सम्भव नहीं है।
5. देखिए : पुष्करे स्नानमात्रतः सर्वपापेभ्यः पूतो भवति। विष्णुसंहिता।85।2 ; III., 82, 20
6. सेनार्ट : य
7. सेनार्ट : भविसति
8. चम्बल की सहायक नदी बनास
9. दक्षिण काठियावाड़ का एक स्थान
10. भड़ौंच = भरुकच्छ (एक स्थान तथा बन्दरगाह)
11. मंदसौर = पश्चिमी मालवा, मध्य प्रदेश
12. आधुनिक नासिक के पड़ोस का भाग और एक शहर भी
13. महाराष्ट्र के थाना जिले में सोपारा नामक स्थान
14. अज्ञात नदी
15. पार नामक नदी, सूरत, गुजरात में

कुओं को बनवाया, उसने इबा[1], पारदा[2], दमन[3], तापी[4], करवेण्वा[5] तथा दाहनुक[6] नदियों के निःशुल्क नाव से पार करने की व्यवस्था किया है तथा इन नदियों के दोनों किनारों पर विश्रा-मागार और प्याऊ बनवाया है, जिसने पण्डितकावड्, गोवर्धन सुवर्णमुख[7], शूर्पारक एवं रामतीर्थ[8] में स्थित चरक सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए नानंगोल[9] गाँव में बत्तीस हजार नारियल का मूल (पेड़) दिया।

धर्मात्मा उषवदात द्वारा गोवर्धन प्रदेश के त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुफा और जलकुण्ड बनवाये गये। भट्टारक की आज्ञा से वर्षाऋतु में उत्तमभद्रो के अधिपति को मालयो[10] द्वारा जो बंदी बनाया गया था छुड़ाने के लिए मैं (उषवदात) गया। वे मालव मेरा हुंकार सुनकर भाग गये और सभी अब उत्तमभद्रो द्वारा बन्दी बना लिये गये। फिर मैं पुष्करतीर्थ (अजमेर) गया और वहाँ स्नान कर 3000 गायें तथा ग्राम दान दिया। वहाँ मेरे द्वारा वाराहीपुत्र अश्वभूति नामक ब्राह्मण के हाथ से 4000 कर्षापण से खेत खरीदकर दिया गया जिस पर अश्वभूति के पिता का स्वत्व है। यह नगर के पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित है। इससे मेरी गुफा में रहने वाले चारों दिशाओं से आये भिक्षु संघ का भोजन होगा।

ऐतिहासिक महत्त्व

उज्जैन के शक-क्षत्रप की तरह काठियावाड़ गुजरात में भी शकों की एक दूसरी क्षत्रपी थी जिन्हें गुजरात के शकक्षत्रप नाम से जाना जाता है। इस क्षत्रपी का प्रमुख शासक नहपान था। नहपान के विषय में ज्ञान प्राप्ति का स्रोत है उसके सिक्कों से तथा उसके काल के उत्कीर्ण कराए गए लेख। इसके अधिकांश लेख महाष्ट्र के नासिक के आस-पास की गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। इसी क्रम का एक अभिलेख यह भी है। यह नहपान के जामाता दिनक के पुत्र उषवदात द्वारा नासिक के गुहा सं॰ 10 में उत्कीर्ण कराया गया है।

यह अभिलेख किसी विशिष्ट राजनीतिक महत्त्व का नहीं है पर इससे नहपान की साम्राज्य सीमा के निर्धारण में सहायता मिलती है। यह तत्कालीन दक्षिणी भारत के आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था का विवरण प्रस्तुत करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय शक-क्षत्रप धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में सम्मिलित होने लगे थे क्योंकि इसके जामाता का नाम अभिलेख में उषवदात मिलता है जो पूर्णतया हिन्दू नाम है। पुनः रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपनी लड़की का विवाह सातवाहन शासक यज्ञश्री सातकर्णी के साथ किया था।

यहाँ नहपान के लिए दो उपाधियों का उल्लेख 'राजन' और 'क्षत्रप' साथ-साथ प्रयोग हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग उसके अन्य अभिलेखों से भी प्राप्त होता है। उसके समय के पश्चिमी घाट में

---

1. दमन गंगा नदी
2. ताप्ती नदी
3. अज्ञात नदी
4. दहनु के समीप बहने वाली कोई धारा
5. अज्ञात तीर्थ
6. वही
7. सोपारा के समीप का इस नाम का तीर्थ
8. नरगोल, महाराष्ट्र के थाना जिले में

खुदे आठ गुहालेखों में से सात में राजन और क्षत्रप का प्रयोग साथ-साथ हुआ है पर आठवें केवल जो उसके राज्य के 46वें वर्ष का जुन्नर गुहा-लेख है वहाँ उसे 'महा-क्षत्रप' कहा गया है। उसके सिक्कों पर भी 'राजन' उपाधि ही अंकित है।

उषवदात द्वारा दान वाले तीर्थ तथा वर्णित नदियाँ जिनके किनारे उसने दान दिया था अगर सभी नहपान के अधीनता में रहे होंगे तो इस आधार पर इसका विस्तृत साम्राज्य ज्ञात होता है। इसकी सीमा उत्तर में पुष्कर से लेकर दक्षिण में गोवर्धन तक निर्धारित की जा सकती है। 'मालय' शब्द का उल्लेख यहाँ हुआ है जो इसके शत्रु बताए गए हैं। इन्द्र जी ने इसको जाति बोधक मानकर इससे मालव जाति का अर्थ किया है। यह राजस्थान की रहने वाली जाति थी। अतः राजस्थान में इसके अधिकार की बात इससे स्पष्ट होती है क्योकि मालवों के बन्दी बनाए जाने का यहाँ उल्लेख है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि छठीं शताब्दी ई० पू० का यह गणराज्य अभी भी स्वतन्त्र था।

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि क्षहरातवंश के राजा क्षत्रप नहपान के समय उसके दामाद उषवदात्त ने वर्णासा नदी के किनारे तीर्थ क्षेत्र में 3000 गाय तथा सुवर्ण का दान दिया था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण तथा देवताओं को 16 ग्राम भी दिए गए थे। वहाँ प्रत्येक वर्ष एक सौ सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराता था। स्पष्ट है कि दान की परम्परा विदेशी शकों ने भी अपना लिया था। ये भी गौ और ग्राम दान पुण्य के लिए देते होंगे। ब्राह्मणों को तीर्थ स्थानों में खिलाने का महत्त्व रहा होगा। साथ ही लगता है कि हिन्दू वर्ण व्यवस्था को इन विदेशियों ने भी मान्यता दिया था।

जन-कल्याण के लिए उसने अनेक कार्य किया। उसने दशपुर, शोर्पारग, गोवर्धन तथा भरुकच्छ में यात्रियों के विश्राम के लिए चौकोर विश्राम गृहों का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त इन स्थानों पर उद्यान तथा तालाब भी बनवाए। इबा, पारदा, दमण आदि नदियों के उभय किनारों पर लोगों की सभा (बैठकों) के लिए बैठक ग्रहों की व्यवस्था की गई तथा जल के वितरण के लिए जलाशय का भी निर्माण कराया गया। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए इसने विश्रामगृह, उद्यान तालाब, नदियों के किनारे बैठक बनवाया था जो आज पर्यटन स्थलों में यात्रियों को आकर्षित करने के लिए किया जाता है। यह प्राकृतिक स्थलों में पर्यटन को बढ़ावा देने का बोधक है।

इसने पण्डितकोवड़ा, गोवर्धन, सुवर्णमुख, शोर्पारग तथा रामतीर्थ पर्वतों को चरक की सभा के लिए दिया था। धर्म से अभिप्रेत होकर इसने त्रिरश्मि पर्वत पर गुफाओं का निर्माण कराया तथा वहाँ जलाशय की व्यवस्था किया। राजा की आज्ञा से उषवदात्त ने उत्तमभद्र को स्वतन्त्र किया जो मालवों द्वारा वर्षाकाल के लिए पकड़ लिए गए थे। इसके आगमन को सुनकर मालव उत्तमभद्र को छोड़कर भाग गए। परन्तु पीछे वे बन्दी बना लिए गए।

ऊपर जिन स्थानों का नाम लिया गया है इनसे यह अनुमान लगाया जाना सहज ही है कि इसका साम्राज्य विस्तृत था। महाराष्ट्र तो इसके अधिकार में था ही। इसके अधिकृत स्थानों में अधिकांश पहले सातवाहनों के अधीन थे जैसा उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है। सम्भवतः ये सभी भू-भाग सातवाहनों को पराजित कर प्राप्त किया गया होगा। तभी उषावदत्त गोवर्धन (नासिक) और मामल्ल (पुणे) अर्थात् दक्षिणी प्रान्त का प्रतिनिधि शासक (राज्यपाल) नियुक्त किया गया था। भरुकक्ष (भड़ौंच), दशपुर (पश्चिमी मालवा), गोवर्धन, शोर्पारक (सोपारा), प्रभास (काठियावाड़), पुष्कर

(अजमेर) आदि इसके अधीन थे। इवा, पारद (सूरत की पार नदी), दमण (दमण गंगा) आदि नदियाँ इसी की सीमा में थी। त्रिरश्मि पर्वत पर अनेक गुफाएँ इसने दान दी थीं जो इसके ही राज्य का अंग रहा होगा। इसकी पुष्टि इसके सिक्कों से होती है जो महाराष्ट्र, काठियावाढ़, अजमेर और कुछ दक्षिणी सिन्धु में मिले हैं। अतः इसके साम्राज्य में महाराष्ट्र, अपरान्त, मालवा, गुजरात, काठियावाढ़, राजस्थान और निचले सिन्धु घाटी के भाग सम्मिलित थे। इसके लिए एक युद्ध का उल्लेख यहाँ हुआ है कि इसने मालवों से घिरे अपने मित्र उत्तमभद्रों की सहायता के लिए जाकर मालवों को पराजित किया और उपलक्ष में पुष्कर तीर्थ में स्नान कर 3000 गाँवों और गायों का दान किया।

इसके बाद उषवदात्त पोक्षरिताल जाकर स्नान करके 3000 गौ और बहुत से ग्रामों को देकर नगर के उत्तर स्थित भूमि को जो वाराहिपुत्र अश्वभूति के अधीन था इसने 4000 कार्षापण पर खरीद कर उसे भी दान दे दिया। यह भूमि उन लोगों को भोजन देने के प्रयोग में लाने के लिए खरीदी गई थी जो परिव्राजक इन नासिक की गुफाओं में निवास करते थे।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि शकों का भारतीय संस्कृति में मिश्रण हो चुका था। तभी भारत की सभी धार्मिक परम्पराएँ यथा तीर्थ स्थलों की मान्यताएँ, वहाँ दान देना, भोजना कराना, पुण्य नदियों में स्नान करना तथा उसके बाद अनेक प्रकार के दान का उल्लेख यहाँ किया गया है। यहाँ जिन दान या तीर्थों का उल्लेख है वे पुराणों में पुण्य प्राप्ति के माध्यम बताए गए हैं। अतः पौराणिक धर्म का प्रत्यारोपण इनमें भी होने लगा था। यहाँ यह भी उल्लेख है कि साथ-साथ बौद्ध धर्म की भी मान्यता प्रचलित थी तभी भिक्षु संघ के लिए दान किया गया है। लगता है इस संघ में विरोध था तभी बिना भेदभाव के भोजन की चर्चा है।

इस प्रकार इस लेख के विवरण से जहाँ हिन्दू धर्म में शक क्षत्रपों की आस्था का ज्ञान मिलता है वहीं तत्कालीन पश्चिमी दक्षिण भारत की आर्थिक अवस्था के विषय में भी परिचय प्राप्त होता है। भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। राजा मात्र कर का अधिकारी था। तभी वाराहीपुत्र अश्वभूति से 4000 कार्षापण पर दान हेतु राजा द्वारा भूमि क्रय करने का उल्लेख है। इसके साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि उस समय सुवर्ण एवं कार्षापण नामक सिक्के प्रचलन में थे। सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का स्थान धर्म में सर्वोच्च था। तत्कालीन परिस्थिति पर प्रकाश डालने के लिए केवल यही एक मात्र अभिलेख नहीं है पर इसके समान अन्य अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं।

4. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख
(Junagarh Rock Inscription of Rudra-Daman)

स्थान : जूनागढ़, गुजरात

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी

काल : रुद्रदामन के राजत्वकालान्तर्गत (एक अनिर्दिष्ट संवत् का) 72वाँ वर्ष[1]

विषय : रुद्रदामन के प्रान्तीय शासक सुविशाख द्वारा सुदर्शन बाँध का पुनर्निर्माण, बाँध का पूर्व इतिहास एवं रुद्रदामन की राजनैतिक उपलब्धियों का विवरण

---

1. रायचौधरी के अनुसार यह नया पदाधिकारी है जो राष्ट्रपाल ही था तथा कुमार की तरह वेतन प्राप्त करता था। यही मत डा० पाण्डेय का मत है कि इसका शाब्दिक अर्थ है—राष्ट्रेऽधिकृत = जो प्रान्त या नगर के शासन के लिए नियुक्त हो।

मूल-पाठ

1. सिद्धं(द्धम्) (।) इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद[पि][1]......(मृ)[त्ति]कोपल-विस्तारायामोच्छ्रय-निःसन्धि-बद्ध-दृढ़-सर्व्व-पाळीकत्वात्पर्व्वत-पा-
2. द-प्रतिस्पर्द्धि-सुश्लि[ष्ट]-[बन्धं]...[व]जातेनाकृत्रिमेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्रति-विहित-प्रनाळी-परीवाह-
3. मीढविधानं[2] च त्रिस्क[न्ध]......नादिभिरनुग्र[है]र्महत्युपचये वर्त्तते (।) तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सुगृही-
4. त-नाम्नः[3] स्वामि-चष्टनस्य पौत्र[स्य] [राज्ञः क्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामीजयदाम्न]ः पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्त-नाम्नो रु[द्र]दाम्नो वर्षे द्विसप्ततित[मे] 70(+)2
5. मार्ग्गशीर्ष-बहुल-प्र[ति] [पदि]... : सृष्टवृष्टिना[4] पर्ज्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरेरूर्जयतः सुवर्णसिकता-
6. पलाशिनी-प्रभृतीनां नदीनां[5] अतिमात्रोद्धृत्तैर्व्वेगैः सेतुम [यमा]णानुरूप-प्रतीकार-[6] मपि गिरिशिखर-तरु-तटाट्टालकोपत[ल्प]-द्वार-शरणोच्छ्रय-विध्वंसिना[7] युगनिधन-सह-
7. श-परम-घोर-वोगेन[8] वायुना प्रमथि[त]-सलिल-विक्षिप्तजर्जरीकृताव[दी] [र्ण]... [क्षि] प्ताश्म-वृक्ष-गुल्म-लताप्रतानं[9] आ नदी[त]लादित्युद्धाटितमासीत् (।) चत्वारि हस्त-शतानि वीशदुत्तराण्यायतेन[10] एतावंत्येव [वि]स्ती[र्णे]न
8. पंचसप्तति-हस्तानवगाढेन[11] भेदेन निस्तृत-सर्व्व-तोयं मरु-धन्व[12]-कल्पमतिभृशं दु[र्द][13]...(।)...[स्य]ार्थे मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र[गु][प्त][स्य] राष्ट्रियेण [वै]श्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशेकस्य[14] मौर्यस्य (कृ)ते[15] यवनराजेन तुष[ा]स्फेनाधिष्ठाय
9. प्रण[ा]ळीभिरल[ ]कृत[ ](तम्) (।) [त[त्कारित[या] च राजानुरूप-कृत-विधानया

---

1. इन्द्रजी और ब्यूलर गिरिनगर[द्रि-पाद-रम]; गिरनार जुनागढ़ नगर का प्राचीन नाम था। सुदर्शन झील गिरनार पर्वत के पाद तल में बनाया गया था। यह स्थान अभिलेख की प्राप्ति स्थान के पास ही है।
2. मीढ का अर्थ है गोमूत्रक इन्द्रजी का अनुवाद है—'the outline of which runs in curves like a stream of urnie'. कीलहार्न के अनुसार मीढगिगिर गोबर का ढेर अनुवाद करते हैं—
3. देखिए : नामापि गृह्यतोऽस्य पापकारिणः पापमलेन लिप्यत इव मे जिह्वाः हर्षचरित, पृ० 210.
4. इन्द्रजी और ब्यूलर : सुम्रट
5. पढ़ें : ० नाम् अति०
6. ब्यूलर : ० र्व्यमाणा०.
7. उपतल्प का अर्थ है तल्प रघुवंश XVI, 11, ऊपरी मंजिल शरणोच्छ्रय
8. पाठ : वेगेन
9. पाठ : तानम् आ०
10. पाठ : विंशत्यु०
11. कीलहार्न सप्तति
12. पढ़ें : धन्व
13. कीलहार्न ने जोड़ा है दुर्दर्शनमासीत्
14. पढ़ें : कारित्। अशोकस्य
15. भाऊदाजी पढ़ते हैं : तेन, और इन्द्रजी : तत् कीलहार्न : कृते

तस्मिं[1] [भे]दे दृष्टया प्रनाड्या[2] वि[स्तृ]त-से[तु]......णा[3] आ गर्भात्प्रभृत्यवि[ह]त-समुदि[व[4]-रा]जलक्ष्मी-धारणा-गुणतस्सर्व्व-वर्णैरभिगंम्य[5] रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन [आ] प्राणोच्छासात्पुरुषवधनिवृति-कृत-

10. सत्यप्रतिज्ञेन अन्य[त्र] संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु-प्रहरण-वितरणत्वाविगुण-रि[पु]......त-कारुण्येन[6] स्वयमभिगतजन-पदप्रणिपति[ता][यु]षशरणदेन दस्यु-व्याल-मृग[7]-रोगादिभिरनुपसृष्टपूर्व्व-नगर-निगम-

11. जनपदानां स्ववीर्य्यार्जितानामनुरक्त-सर्व्व-प्रकृतीनां पूर्व्वापराकरान्त्यनूपनीवृदानर्त्त-सुराष्ट्र-श्व[भ्र-मरु-कच्छ-सिन्धु-सौवी]र-कुकुरापरांत-निषादादीनां[8] समग्राणां तत्पप्रभावाद्य [थावत्प्राप्तधर्मार्थ]-काम-विषयाणां[9] विषयाणां पतिना सर्व्वक्षत्राविष्कृत-

12. वीर-शब्द-जा[तो]त्सेकाविधेयानां[10] यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथ-पते-स्सातकर्णेर्द्विरपि नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य[1] संबंधा[वि]दूर)त [या][11] अनुत्सादनात्प्राप्तयशसा [वाद][12]......[प्रा] [प्त]-विजयेन भ्रष्टराज-प्रतिष्ठापकेन यथार्त्थ-हस्तो-

13. च्छ्रयार्जितोर्जित-धर्मानुरागेन[13] शब्दार्थ-गान्धर्व्व-न्यायाद्यानां[14] विद्यानां महतीनां पारणधारण-विज्ञान-प्रयोगावाप्त-विपुल-कीर्त्तिना तुरग-गज-रथचर्य्यासि-चर्म-नियुद्धाद्या......ति-परबल-लाघव-सौष्ठव-क्रियेण अहरहर्द्दान-मानान-

---

1. पढ़ें तस्मिन्
2. कुछ पढ़ते हैं प्रणालया
3. कुछ पढ़ते हैं नी
4. पढ़ें समुदित
5. पढ़ें ०गमय
6. इन्द्रजी एवं व्युलर का पाठ धृत.
7. पढ़ सकते हैं : मृगोरगा०.
9. The restroation of the damgaed text is due mainly to Indraji. Akaravanti = Malwa; आकर = पूर्वी मालवा (विदिशा) ; अवन्ति = पश्चिमी मालवा (उज्जैन). अनूप = माहेश्वर आनर्त, आनर्त = North उत्तरी काठियावाड़ (द्वारका) ; सौराष्ट्र = दक्षिणी काठियावाड़, गिरनार, कच्छ ; मरु = मारवाड़ कच्छ : सिंधु सौवीर = पश्चिमी और पूर्वी उत्तरी काठियावाड अपरान्त = उत्तरी कोंकण शूपरिक ;
10. Read निर्व्याजमवजित्यावजित्य
11. The Kaneri Buddhist tank inscription (Luders, No. 994) mentions the *devi* of Vasishthiputra sri-Satakarni, who descended from the Kardamaka kings and was the daughter of a Mahakshatraps with name beginning with *Ru* (apparently Rudradaman.) *Devi* does not always meas a quee. Charudevi, wife of a crown-priven, is called *devi* in the British Museum grant (*infra*, Bk. III, No. 66). It is thus unbcertain whether this Satakarni was a king before the data of Rudradaman's record. The king might have been Gautamiputra Satakarni who was possibly twice defeated by Rudradaman (cf. the list of countries in line 11 with that in *infra*, No. 85, line 2).
12. Kielhorn : मा[द?].
13. Read ० रागेण
14. शब्द = grammar ; अर्थ = lexigraphy or politics : गान्धर्व = music ; न्याय = logic.

14. वमान-शीलेन स्थूळलक्षेण यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कः-भागः[1] कानक-रजत-वज्र-वैडूर्य[2] रत्नोपचय-विष्यन्दमान-कोशेन स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारालंकृत[3]-गद्य-पद्य-[काव्य-विधान-प्रवीणे]न[4] प्रमाण-मानोन्मान-स्वर-गति-वर्ण्ण-सार-सत्वादिभिः[5]

15. परम-लक्षण-व्यंजनैरुपेत-कान्त-मूर्त्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रप-नाम्ना[6] नरेंद्र-क[न्या]-स्वयंवरानेक-माल्य-प्राप्त-दाम्न[ा][7] महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गो-ब्रा[ह्म][ण]......[र्थं] धर्म्म-कीर्त्ति वृद्ध्यर्थं च अपीडयि[त्व]ा कर-बिष्टि-

16. प्रणयक्रियाभिः[8] पौर-जानपदं जनं स्वस्मात्कोशा[9] -न्महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुण-दृढतर-विस्तारायामं सेतुं विधा[य स]र्व्वत[टे][10]......[सु]दर्शनतरं कारितमिति (।) [अस्मि]न्नर्त्थे

17. [च][11]महा[क्ष]त्रप[स्य] मतिसचिव-कर्मसचिवैरमात्य-गुण[12]-समुद्युक्तैरप्यतिमहत्वा-[13] द्भेदस्यानुत्साह-विमुख-मतिभि[:] प्रत्याख्यातारंभ[ ]

---

1. स्थूललक्ष = बहुव्ययी ; बलि = tax, ofter identical with कर; शुल्क = tolls and duties ; भाग = king's grain share.
2. Read कनक. Usually वैदूर्य.
3. Cf. the characteristics of the Vaidarbha style as explained by Dandin in his *Kavyadarsa* Chater I : श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।41. श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। शिथिलं मालतीमाला लीलालिकलिला यथा ।।43. प्रसादवत्प्रसिद्धार्यमिन्दीवरद्युति। लक्ष्म लक्ष्मीं मनोनीति प्रतीतिसुभगं वचद्ध ।।45. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदु स्फुट मध्यमाः। बन्धा मृदुस्फटोन्मिश्र-वर्ण-विन्यास-योनयः ।।47. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमतो मधुनेव मधुव्रताः ।।51. कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।63. अनिष्टुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। बन्ध-शैथिल्य-दोषस्तु दर्शितः सर्व-कोमले ।।69. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणेद्धता। भूः-खुर-क्षुण-नागासृग्लोहितादुदधेरिह ।।73. उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते। तदुदाराह्वयं येन सनाथा काव्यपद्धति ।।76. ओजः समास-भूस्त्वमेद् गद्यस्य जीवितम्। पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदकें परायणम् ।।80. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्त्ताभिधानेपु वर्णनास्वपि दृश्यते ।।85. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।93. कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च। इति नेत्र-क्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः ।।94.
4. This very probable restoration is due to Buhler. Various definitions of काव्य and its varieties are noticed by Sanskrit rehetorician Cf. note 5 above.
5. Read. सत्व॰
6. This possibly shows that Rudradaman became almost independent of the Kushana overlord about the end of his rule. The Kushana power by this time began to decline and was losing its hold on its southernmost province.
7. शके भारतीय परम्पराओं को अपना कर तथा भारतीय परिवार में वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा भारतीय हो चुके थे।
8. कर = टैक्स : विष्टि = बेगार ; प्रणय = दया या आपात कर
9. पढ़ें ॰कोशात्
10. इन्द्रजी और व्यूलर : [सर्व्व]नग[र]
11. दूसरों द्वारा असूचित
12. मतिसचिव (देखें धीसचिव या सलाहकार) ; कर्मसचिव = कार्याधिकारी
13. पढ़ें ॰महत्त्वा॰

18. पुनः—सेतुबन्ध-सनैराश्यादा हाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त्त-सुराष्ट्रानां[1] पालनार्थन्नियुक्तेन

19. पह्लवेन[2] कुलैप-पुत्रेणामात्येन सुविशाखेन यथावदर्थ-धर्म-व्यवहार-दर्शनैरनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्य्येण

20. स्वधितिष्ठता धर्म-कीर्त्ति-यशांसि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठित[मि]ति।

हिन्दी अर्थान्तर

1. सिद्धम्। यह जलाशय सुदर्शन गिरिनगर से.....मिट्टी एवं पत्थर द्वारा निर्मित — चौड़ाई, लम्बाई तथा ऊँचाई तथा बिना जोड़ के बँधे सब किनारों से दृढ़ पर्वत के

2. पाद की तरह संयुक्त रचनायुक्त, प्राकृतिक सेतुरचनायुक्त, भलीभाँति निर्मित जल प्रणाली, गंदे जलवाहक नाले

3. तथा गोमूत्र की तरह तथा तीन स्कन्धों युक्त.....आदि अनुग्रहों के कारण अत्यन्त उन्नतावस्था में है। यह महाक्षत्रप, यथायोग्य

4. नामधारण करनेवाले, स्वामि चष्टन के पौत्र, राजा क्षत्रप सुगृहीत नाम वाले स्वामी जयदामन के पुत्र, श्रेष्ठ जनों द्वारा पुनः लिये जानेवाले नाम वाले राजा महाक्षत्रप रुद्रदामन के, राज्य के 72 वर्ष में,

5. मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन.......वर्षाकारी मेघ द्वारा पृथ्वी को एक समुद्र की भाँति किये जाने वाले ऊर्जयत पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिकता,

6. पलाशिनी आदि नदियों के अत्यन्त बढ़े हुए वेगों के बाँध.......समुचित उपाय किये जाने पर भी पर्वत—शिखर, वृक्ष, तट, अट्टालक के ऊपरी मंजिल, शरणगृह का नाश करने वाले युग—युगों में

7. अत्यन्त तीव्र वायु द्वारा मथे हुए जल द्वारा फेंके गये तथा जर्जर किये हुए.....फेंके हुए पत्थर, वृक्ष, झाड़ तथा लता से आच्छादित नदी के तल तक टूटा हुआ था। 24 हाथ लम्बी तथा उतनी ही चौड़ी

8. और 75 हाथ गहरी दरार पड़ने से समस्त जल निकल जाने से मरु-धन्व के समान अत्यन्त दुर्दर्शन.....के लिए मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय[1] वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया मौर्य शासक अशोक के लिये यवनराज तुषास्फ द्वारा

9. प्रणालियों से युक्त किया गया। उसके द्वारा बनवायी हुई तथा राजानुरूप रचनावली, उस दरार से दिखायी पड़नेवाली प्रणाली द्वारा विस्तृत सेतुगर्भ से अविच्छिन्न तथा प्रकट राजलक्ष्मी धारण करने के गुण के कारण रक्षणहेतु समस्त वर्णों द्वारा आकर स्वामित्व के लिये चुने गये, मरण पर्यन्त संग्राम को छोड़कर मानव वध से निवृत्ति की

10. दृढ़ प्रतिज्ञा वाले, सम्मुख आये हुए समान शत्रु पर प्रहार न करने वाले, करुणावश स्वयं पास आये हुए तथा चरण पर झुकने वाले लोगों को जीवन रक्षण प्रदान करने वाले, डाकू, सर्प, जंगली पशुओं तथा रोगों से मुक्त नगर, निगम,

---

1. पढ़ें सुराष्ट्राणां
2. पह्लव = पार्थिन। पह्लव इरान की पुरानी पह्लवी भाषा से सम्बद्ध थे

11. तथा जनपदयुक्त अपने पराक्रम से प्राप्त प्रजानुरागयुक्त, पूर्व तथा पश्चिम आकर तथा अवन्ति, अनूप, नीवृत, आनर्त, सूराष्ट्र, श्वभ्र, भरु कच्छ, सिन्धु, सौवीर, कुकुर, अपरान्त, निषाद आदि समस्त को अपने प्रभाव के कारण यथोचित प्राप्त धर्म, अर्थ और काम विषयों के स्वामी, समस्त क्षत्रियों में प्रमुख

12. वीर उपाधि वाले उत्साह के कारण अदम्य योधाओं का बल उत्साह करने वाले, दक्षिणापथ स्वामी सातकर्णी को दो-दो बार युद्ध में जीतकर सम्बन्ध की समीपता के कारण उसका समूल नाश न करने से यश प्राप्त करने वाले, विजय प्राप्त करने वाले......पदच्युत राजाओं को पुनः उनके राज्य पर प्रतिष्ठित करने वाले, यथार्थ हाथ

13. को उठाकर दृढ़ धर्मानुराग अर्जित करने वाले, व्याकरण, संगीत, न्याय
आदि महती विद्याओं के अर्जन और व्यवहार से महान् कीर्ति प्राप्त करने वाले, घोड़े, हाथी, रथ का व्यवहार, तलवार, ढाल आदि....शत्रुबल के नाश में स्फूर्ति एवं दक्षता युक्त काम करने वाले, प्रतिदिन दान और सम्मान-प्रदान तथा

14. असम्मान का नाश करने वाले, दानशील, यथोचित बलि, कर तथा राज्यांश से सोने, चाँदी तथा हीरे, वैदूर्य आदि रत्नों की अधिकता से भरे कोषवाले, स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, सुन्दर तथा यथोचित शब्द के प्रयोग से सुन्दर एवं अलंकृत गद्य और पद्य की रचना करने वाले लम्बाई, चौड़ाई, स्वर, गति, रंग, दृढ़ता और शक्ति आदि

15. उत्तम लक्षणों तथा चिह्नों से युक्त सुन्दर शरीरवाले, अपने द्वारा प्राप्त महाक्षत्रप उपाधिवाले स्वयवंरों में राजकन्याओं द्वारा अनेक माला प्राप्त किए हाथ वाले, महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा सहस्त्रों वर्ष तक गोब्राह्मण धर्म यश की अत्यधिक वृद्धि के लिये कर, बेगार

16. और प्रीति-कार्य से पुर और जनपद के लोगों को कष्ट में न डाल कर अपने कोष से प्रचुर धन द्वारा बिना अधिक समय लगाये विस्तार तथा लम्बाई में पहले से तिगुना दृढ़.....बनाकर सभी किनारों पर......अधिक सुन्दर लगने वाला बतलाया इस विषय में।

17. बाँध में दरार के बड़े होने के कारण अमात्यगुण सम्पन्न राय देने वाले तथा कार्य पूरा करने वाले महाक्षत्रप के सचिवों के उत्साह के अभाव से इसके निर्माण कराने के विरुद्ध विचार रखने पर

18. बाँध के पुनर्निर्माण न होने की निराशा से प्रजा द्वारा क्रंदन करने पर, पुर और जनपद के लोगों के लिये इस स्थान पर राजा द्वारा सम्पूर्ण आनर्त तथा सुराष्ट्र के शासन के लिए नियुक्त

19. उचित रूप से अर्थ और धर्म के व्यवहार तथा दर्शन द्वारा प्रजा प्रेम में वृद्धि करने वाले, सक्षम, धैर्यवान, गम्भीर, विनम्र, श्रेष्ठ तथा दृढ़ निश्चयी पह्लव वंशी, कुलैपपुत्र, अमात्य सुविशाख के द्वारा

20. अपने शासन के द्वारा अपने स्वामी के धर्म-कीर्ति और यश की वृद्धि करते हुए इसे सम्पूर्ण किया गया था।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह अभिलेख काठियावाड़ के जूनागढ़ जिले में गिरिनार परर्वत के कण्ट प्रदेश में, घाटी की ओर जाने वाले भाग में शुद्ध संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण हैं। अशोक तथा स्कन्दगुप्त के भी अभिलेख इसी पर्वत पर अंकित है। अतः यह ऐतिहासिक और पर्यटन के महत्त्व का स्थान रहा होगा।

डॉ० फ्लीट के अनुसार इस अभिलेख में दक्षिण भारत में प्रयुक्त किए जाने वाले अक्षर हैं। यही विचार ब्यूलर का भी है। इस लेख में 72 तिथि अंकित हैं। इसमें 70 तथा 2 के लिए अलग-अलग चिह्न बने हैं। इस अभिलेख के अन्त में एक छोटी-सी झुकी हुई रेखा खिंची है।

इस अभिलेख का नायक रुद्रदामन है जिसकी उपाधि 'महाक्षत्रप' है। इस अभिलेख से रुद्रदामन के वंश, कृतित्व, व्यक्तित्व और सुदर्शन झील के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है तथा समकालीन इतिहास भी आलोकित होता है। इस सन्दर्भ में यहाँ इसकी तिथि तथा समसामयिक राजाओं की चर्चा भी की गई है। यद्यपि इसके कई अभिलेख मिले हैं किन्तु यह अकेला अभिलेख है जो उसके सम्बन्ध में व्यवस्थित ज्ञान देता है। ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि यह 'क्षत्रप' था। क्षत्रप शकों से सम्बन्धित थे। क्षत्रप शब्द गवर्नर के लिए प्रयुक्त है। यह फारसी भाषा के 'क्षथ्रपावन' शब्द से लिया गया है। इस शब्द का प्रयोग बेहुस्तान के अभिलेख में मिलता है जिसका अर्थ है 'राज्य का संरक्षक'। इसी से क्षत्रपी प्रणाली तथा क्षत्रप-वंश का प्रयोग शकों के काल में हुआ जो सम्भवतः अपनी मूल शाखा से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लिए होंगे। इस प्रकार की पाँच क्षत्रपियाँ शकों के राज्य में स्थापित हो चुकी थीं जिसमें तीन पश्चिमी भारत में थीं—मथुरा, तक्षशिला और पंजाब तथा दो दक्षिणी भारत में—उज्जैन तथा महाराष्ट्र। रुद्रदामन उज्जैन के क्षत्रप परिवार का प्रमुख शासक था।

इस अभिलेख से निम्नांकित तथ्य ज्ञात होते हैं—

(अ) रुद्रदामन के वंश का परिचय यहाँ दिया गया है कि वह ख्याति प्राप्त राजा महाक्षत्रप—स्वामी चष्टन का पौत्र था तथा राजा क्षत्रप स्वामी जयदाम्न का पुत्र था। यहाँ महाक्षत्रप के साथ राजा (राज्ञः) शब्द का प्रयोग इस शक परिवार से स्वतन्त्र सत्ता का द्योतक है।

(ब) यहाँ चष्टन तथा रुद्रदामन के लिए जबकि 'महाक्षत्रप' शब्द का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से उनकी महानता तथा स्वतन्त्र स्थिति का द्योतक है वहीं जयदामन के लिए प्रयुक्त 'क्षत्रप' शब्द उसकी हीन अवस्था के द्योतक है। पर अन्य शासकों की तरह 'राज्ञः' और 'स्वामी' ये दोनों विशेषण जयदामन के लिए भी यहाँ प्रयुक्त हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह भी किसी-न-किसी प्रकार का शासक अवश्य था। किन्तु लगता है कि यह चष्टन के अधीन कहीं का शासक रहा होगा तभी इसको महाक्षत्रप नहीं कहा गया है। इसके सिक्कों पर अंकित 'स्वामी' और 'राजा' शब्द भी इसी तथ्य को पोषित करते हैं। ब्यूलर तथा डॉ० भण्डारकर के अनुसार जयदामन के समय सम्भवतः सातवाहनों के विजय के कारण शक सत्ता का पतन हो गया था। इसी से जयदामन ने लघु उपाधियाँ धारण की होंगी। इसकी पुष्टि के लिए इसी अभिलेख की 15वीं पंक्ति के 'स्वयमधिगत-महाक्षत्रप-नाम्ना' वाक्य को लिया है जिसका अर्थ है कि 'स्वयं उसने अपने पराक्रम से महाक्षत्रप नाम धारण किया था' जो सम्भवतः पहले न किया गया था। किन्तु डा० आर० सी० मजुमदार ने आन्धौ अभिलेख में प्रयुक्त—'राज्ञः चष्टनस यसोमतिक पुत्रस राज्ञः रुद्रदामस जयदमपुत्रस्य वर्षे द्विपचासे' का अर्थ किया है—'यसोमतिक के पुत्र राजा चष्टन और जयदामन के पुत्र राजा रुद्रदामन के 52वें (शासन) वर्ष में।' इससे ज्ञात होता है कि चष्टन और रुद्रदामन ने कुछ दिनों तक साथ-साथ शासन किया। अतः जयदामन के स्वतन्त्र शासन की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। वह अपने पिता के राज्यकाल में ही कहीं का अधीनस्थ शासक रहा होगा और इसी समय मर भी गया होगा। 'स्वयमधिगतिनाम्न' का उल्लेख उसके प्रभाव का द्योतक रहा होगा।

(स) इस अभिलेख में रुद्रदामन का काल 72, एक अनिर्दिष्ट सम्वत् में, उल्लिखित है। शक

परिवार से सम्बन्धित होने के कारण अवश्य ही शक सम्वत् का प्रयोग किया होगा। इस प्रकार 72 + 78 = 150 ई॰ इसका शासन काल ज्ञात होता है। अतएव इसका राजत्वकाल लगभग 150 ई० माना जा सकता है। सम्भवतः यह लम्बे समय तक शासन किया था इसी से इसके बाद की मुद्राओं पर उसकी आकृतिक वृद्ध की अंकित है।

(द) रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख की 11वीं पंक्ति में उसके द्वारा स्ववीर्य्यार्जित राज्यों का नाम दिया गया है। इससे विदित होता है कि उसने विशाल विजय करके एक विस्तृत राज्य स्थापित किया था। यहाँ वर्णित है—

1. पूर्वापराकरावन्ति = (पूर्व=) पूर्वी और (अपर=) पश्चिमी (आकर=) मालवा और अवन्ति
2. अनूप = मान्धाता प्रदेश
3. आनर्त = द्वारिका का चतुर्दिक प्रदेश
4. सुराष्ट्र = जूनागढ़ के पड़ोस का स्थान
5. स्वभ्र = सावरमती नदी का तटीय भाग
6. मरु = मारवाड़
7. कच्छ = कच्छ की खाड़ी का भाग
8. सिन्ध = सिन्धु प्रदेश
9. सौवीर = सिन्धु नद का डेल्टा का भाग (निचला सिंधु प्रदेश)
10. कुकुर = सिन्धु नदी एवं वारिपाम पर्वत के बीच का स्थान (उत्तरी काठियावाढ़)
11. अपरान्त = उत्तरी कोंकण
12. निषाद = सरस्वती और पश्चिमी विन्ध्य का प्रदेश
13. आदीनां = अन्य बहुत से भाग।

इनके साथ 'यौधेयों' का भी उल्लेख है। पाणिनि के अष्टाध्यायी तथा अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि सतलज नदी के किनारे जोहियावार स्थान में रहने वाली यह एक जाति थी।

इसने सातकर्णी को भी दो बार पराजित किया था पर सम्बन्ध की समीपता के कारण उसे विनष्ट नहीं किया। इस कथन से दो बातें स्पष्ट होते हैं—एक यह कि रुद्रदामन ने सातकर्णी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था तथा दूसरे कि रुद्रदामन ने सातकर्णी को दो बार पराजित किया पर उसे विनष्ट नहीं किया। इस सम्बन्ध की सबसे जटिल समस्या यह है कि रुद्रदामन ने किस सातकर्णी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था ? विभिन्न प्रमाणों से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन ने अपनी लड़की का विवाह वाशिष्टिपुत्र श्री सातकर्णी से किया था। इसकी पुष्टि कन्हेरी के अभिलेख से होती है। डा॰ भण्डारकर के अनुसार दूसरा सातकर्णी रुद्रदामन द्वारा पराजित गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी था। परन्तु यह विचार मान्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि सातकर्णी की मुद्राओं से ज्ञात होता है कि इस सातवाहन नरेश ने शक-क्षत्रपों को पराजित किया था। इसकी पुष्टि जोगलठम्भी निधि से प्राप्त सिक्कों से भी होती है जिस पर नहपान की मुहर के ऊपर गौतमीपुत्र की मुहर लगी है। इसके अभिलेख से भी यही ज्ञात होता है कि इसने 'क्षहरातकुल निरवशेषकरसि' की उपाधि धारण किया था। इस प्रकार इस सातवाहन नरेश द्वारा शकों के विनाश की सूचना प्राप्त होती है जबकि यहाँ उल्लेख ठीक इसके

विपरीत है। इसलिए डा० रैप्सन ने डा० भण्डारकर के मत के विरोध में यह विचार प्रतिपादित किया है कि यह पराजित शासक सातकर्णी कोई दूसरा सातवाहन शासक नहीं था परन्तु यह रुद्रदामन का ही दामाद वाशिष्टिपुत्र श्री सातकर्णी रहा होगा। पुनः वासिष्टिपुत्र पुलमावी के वर्ष 19 के नासिक अभिलेख में उसे केवल 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है। पर अभिलेखों और मुद्राओं से ऐसा ज्ञान नहीं मिलता। टालमी के अनुसार पुलमावी चष्टन के समकालीन था। डेब्रुएल ने इसे शिवश्री सातकर्णी माना है। किन्तु यह गौतमीपुत्र का उत्तराधिकारी नहीं था। अतः इसे वासिष्टिपुत्र श्रीसातकर्णी मानना उचित लगता है।

(य) इस गिरनार पर्वत पर जितने भी शासकों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं सभी में सुदर्शन झील का उल्लेख किसी-न-किसी प्रकार अवश्य हैं। अशोक के जूनागढ़ अभिलेख, स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख तथा इस अभिलेख में भी अन्य बातों के विवरण के साथ-साथ सुदर्शन झील का वर्णन मिलता है। इसका कारण यह है कि वहाँ के जनजीवन में सुदर्शन झील का विशेष महत्त्व रहा होगा। विभिन्न विपदाओं और प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण समय-समय पर इसकी स्थिति बिगड़ती रही। इसलिए इस प्रदेश में जिस किसी भी शासक ने पैर रखा उसने अवश्य ही इसकी ओर अपना ध्यान दिया और इसे ठीक कराया। इस अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि रुद्रदामन के शासन काल में सुदर्शन दुर्दर्शन बन गया था। यह झील अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवायी गयी थी और इसके संरक्षण का भार उसने अपने मंत्री पुष्यगुप्त को सौंपा था। पर जब अशोक गद्दी पर बैठा तब तक इस झील की दशा शोचनीय हो चुकी थी। इसने धन व्यय कर पुनः इसके बाँध को निर्मित कराया तथा यहाँ के अपने प्रान्तपति तुहशाष्प को, जो यवन था, इसकी देख-रेख के लिए नियुक्त किया। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि अशोक के समय सौराष्ट्र पूर्णतया उसके अधीन था तथा यहाँ का प्रान्तपति यवन तुहशाष्प था। पुनः इस अभिलेख के नायक रुद्रदामन के समय इस झील की दशा और भी अधिक शोचनीय हो चुकी थी। इसने अपने सभासदों के विरोध करने पर भी जन-कल्याण के लिए बिना जनता पर किसी प्रकार का अतिरिक्त, अनुचित और अनियमित कर लगाए इसको पुनर्निर्मित कराया। इस समय सौराष्ट्र में इसका शासक सुविशाख नियुक्त था। इस झील का जीर्णोद्धार रुद्रदामन ने मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष के प्रथम दिवस 72वें वर्ष में कराया था। इस तिथि की गणना का सम्वत् यहाँ नहीं दिया गया है। पर यह शक-क्षत्रप था। शकों ने अपनी एक काल गणना थी। अतएव 72 भी शक संवत् में रहा होगा। इस प्रकार इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन (72 + 78) 150 ई० में शासन करता था। इस प्रकार सुदर्शन झील के सम्बन्ध में व्यवस्थित विवरण तथा उसका पूर्व इतिहास इस अभिलेख से मिलता है।

●

[अ]

दक्षिण में सत्ता के लिए शक-सातवाहनों का परस्पर संघर्ष

(अभिलेखों के विशेष सन्दर्भ में)

दक्षिण भारत का इतिहास मौर्यशासक अशोक के बाद बहुत दिनों तक भारतीय और विदेशी सत्ता के बीच द्वंद्व का इतिहास रहा है। एक ओर भारत भूमि के निवासी सातवाहन अपनी शक्ति के बल पर साम्राज्य की स्थापना में लगे थे तो दूसरी ओर विदेशी शक-क्षत्रप अपनी शक्ति बढ़ाने के प्रयास में इन पर अधिकार करने में जुटे थे। इन दोनों के बढ़ती हुई शक्तियों के बीच इस उद्देश्य से बराबर टकराव होता रहा। इसका ज्ञान विशेष रूप से तत्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होता है जो शक तथा सातवाहन शासकों द्वारा दक्षिण तथा दक्षिणी-पश्चिमी भारत में लिखवाए गए हैं। इनकी मुद्राओं से भी इस पर अत्यन्त अल्प प्रकाश पड़ता है। विशेष रूप से नासिक गुहालेखों को आधार बनाकर इस दिशा में अध्ययन किया जा सकता है।

सातवाहन वंश का सर्व-प्रतिभा सम्पन्न सम्राट था गौतमीपुत्र सातकर्णी। उसे अभिलेखों में 'दक्षिणापथपति' उपाधि दी गयी है। यह उपाधि यथातथ्य सिद्ध है क्योंकि दो दीक्षणी क्षत्रपों-नहपान और चष्टन द्वारा अर्जित राज्य को इसने उनसे छीन लिया था और उसपर अपना अधिकार स्थापित किया था। इसीलिए पुलमावी के नासिक अभिलेख में उसे 'खखरात कुल निरवशेषकरसि' कहा गया है तथा उसको शक, यवन और पह्लवों का अन्त करने वाला (शक-यवन-पह्लव-निसूदनस) बताया गया है। शक-क्षत्रप रुद्रदामन ने जब इसके द्वारा विजित एवं साम्राज्य में सम्मिलित अपने पूर्वजों के राज्य को इससे छीन लिया तो स्वयं को अपने कुल के धूमिल गौरव को पुनः स्थापित करने वाला कह कर सम्बोधित किया है। दिनक के पुत्र तथा नहपान के दामाद उषवदात्त ने भी यही किया था।

दक्षिण में क्षत्रपों के दो परिवारों का शासन था। एक वंश का प्रथम व्यक्ति था नहपान तथा दूसरे का था चष्टन। चष्टन परिवार के शक्ति का केन्द्र था गुजरात तथा नहपान का मालवा। इसीलिए चष्टन परिवार गुजरात के शक-क्षत्रप तथा नहपान का परिवार मालवा के शक-क्षत्रप नामों से जाने जाते हैं।

यह शक-सातवाहनों के बीच का युद्ध चार चरणों में लड़ा गया था। इसके पीछे कारण था दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत पर संप्रभुता स्थापित करना।

प्रथम चरण

निर्बल सातवाहनों के समय शक पश्चिम से आकर सातवाहन अधिकृत भाग में प्रवेश करने लगे। यहीं से सम्प्रभता के लिए शक-सातवाहन संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो सातवाहन वंश के अन्तिम शासक यज्ञ श्री-सातकर्णी के समय तक चलता रहा। शक ईरान की ओर से आकर, सिंधु घाटी को केन्द्र बनाकर दक्षिण पश्चिम को आक्रान्त करने लगे। पेरीप्लस से ज्ञात होता है कि गुजरात, काठियावाढ़, राजपूताना तथा भड़ौच पर मेम्बेरस नामक (शक) राजा ने अधिकार कर लिया था तथा कल्याण से आने वाले जहाजों को वह बेरीगाजा (भड़ौंच) ले जाता था। इस प्रकार इसने सातवाहनों से उत्तरी प्रदेशों को छीन कर उनके व्यापार को हानि पहुँचाई थी। पर दूसरे क्षहरात शासकों ने इसके ऊपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अब क्षहरातों के अधीन शक-सातवाहन संघर्ष और गतिमान हुआ।

इस समय प्रथम शक क्षत्रप भूमक था जिसके सिक्के मालवा, काठियावाड़ और गुजरात से प्राप्त हुए हैं जो इन प्रदेशों पर उसका अधिकार सिद्ध करते हैं। इसके बाद नहपान के समय महाराष्ट्र, उत्तरी कोंकण, राजपूताना, मध्य प्रदेश पर जहाँ सातवाहन शासन था वहाँ इसका अधिकार हो गया था। सातवाहन स्वामित्वरहित हो गए थे। इसी समय सातवाहन शासक गौतमीपुत्र के आगमन से इस वंश की शक्ति का पुनरोद्धार शुरू हुआ। इसने नहपान द्वारा विजित भाग पर पुनः अधिकार स्थापित किया।

दूसरा चरण

इस सम्बन्ध की यह समस्या है कि किस शक क्षत्रप को गौतमीपुत्र ने पराजित कर उसके साम्राज्य के अधिकांश भागों को छीन लिया था। गौतमीपुत्र सातकर्णी की शासन तिथि 106-130 ई० मानी जाती है। इस समय शक क्षत्रप नहपान शासन कर रहा था क्योंकि उसकी ज्ञात तिथियाँ 41, 42, 45 और 46 है जो शक संवत में गणना के अनुसार (41 + 78) 119 से (46 + 78) 124 ई० तक उसका शासन बताती है। अतः दूसरे क्रम का संघर्ष गौतमीपुत्र सातकर्णी और क्षत्रप नहपान के बीच हुआ था। तभी इसके लिए 'शकयवनपह्लवाविसूरस' कहा गया है।

इसने क्षत्रप नहपान से ही उसके राज्य का भाग छीना होगा। नहपान के अधीन विंध्य, क्षवत, सह्य, मल, सिरि, टनगिरि आदि अनेक पर्वतीय प्रदेश तथा दक्षिण काठियावाड़, भड़ौंच, पश्चिमी मालवा, नासिक का पड़ोसी भाग (गोवर्धन), सोपारा (महाराष्ट्र) आदि थे। यद्यपि नहपान का वास्तविक राज्यविस्तार ज्ञात नहीं पर इन राज्यों का गौतमीपुत्र सातकर्णी द्वारा विजित किया जाना सिद्ध करता है कि इस सातवाहन शासक ने शक-क्षत्रप नहपान को पराजित कर इन राज्यों को उससे छीन लिया था। पुनः यह भी ज्ञात होता है कि चष्टन के अधीन स्थित असिक, अस्मक, कुकुर, अपरान्त, अवन्ति, विदर्भ, आकर, अनूप, सौराष्ट्र आदि राज्य गौतमीपुत्र के अधीन हो गए थे जिसे रुद्रदामन ने 72 शक सम्वत् में पुनः हस्तगत किया।

इन स्थानों का समीकरण सम्बन्धित राजाओं के अभिलेख के ऐतिहासिक महत्त्व में ऊपर किया गया है यथा विंध्य = विंध्याचल, क्षवत् = सतपुड़ा; सह्य = पूर्वीघाट; असिक = गोदावणरी और कृष्णा के बीच का भाग; अस्मक = अश्मक (पंजाब का एक स्थान); मूलक = महाराष्ट्र; कुकुर = पूर्वी राजपूताना; अकरावन्ति = पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा; सुरठ = सौराष्ट्र; अनूप = नर्वदा नदी के तट का एक प्रदेश, अपरान्त = उत्तरी कोंकण। इस प्रकार स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र सातकर्णी ने इन राज्यों को छीन कर अपना साम्राज्य महाराष्ट्र से राजपूताना तक फैला लिया था। इसकी पुष्टि जोलठम्भी निधि से प्राप्त सिक्कों से भी होती है जिन पर नहपान की मुहर के ऊपर गौतमीपुत्र की मुहर पुनः लगी है। ऊपर की मुहर गौतमीपुत्र की है। अतः गौतमीपुत्र नहपान के राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया होगा।

गौतमीपुत्र के नासिक गुहालेख वर्ष 18 (124 ई०) से ज्ञात होता है कि उसने नासिक क्षेत्र के वेनाकटक नामक अपने स्कंधावार (सैनिक शिविर) से अपने आमात्य विष्णुपालित को संबोधित किया है। अतः वह 124 ई० में स्वयं उस सैनिक शिविर में गया होगा। यह उसके दक्षिणापथ स्थित शकक्षत्रप नहपा के साथ युद्ध का बोधक है। यहाँ वह अपरखड़ ग्राम के भूमि का दान देता है जो पहले नहपान के दामाद उषवदात्त के अधीन था। यह क्षत्रपों पर सातवाहनों के अधिकार का सूचक है।

तीसरा चरण

यह संघर्ष क्षत्रप रुद्रदामन तथा वासिष्ठीपुत्र पुलमावी के बीच गौतमीपुत्र सातकर्णी के अन्तिम काल में रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि हुआ था। यह युद्ध उस समय हुआ होगा जब गौतमीपुत्र बीमार पड़ा था। तभी 'जीवस्सुता' का प्रयोग नासिक के अभिलेख वर्ष 24 में इसके लिए किया गया है।

रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से, जो शक सम्वत् 72 का है, गौतमीपुत्र द्वारा विजित राज्य पर उसका अधिकार होना ज्ञात होता है। यहाँ राजा कहता है कि वह जनता द्वारा चुना गया और शत्रुओं से सुरक्षित किया है। यह भी उल्लिखित है कि रुद्रदामन ने सातकर्णी को दो बार पराजित किया पर सम्बन्ध की समीपता के कारण उसे विनष्ट नहीं किया। लगता है कि यह सातकर्णी रुद्रदामन का दामाद वासिष्ठिपुत्र पुलमावी था। कुछ लोग इसे गौतमीपुत्र तथा कुछ उसे चतुर्यन मानते हैं— जो उचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु अभिलेख का यह उल्लेख कि 'सम्बन्ध की समीपता के कारण' वासिष्ठिपुत्र पर ही लागू होता है न कि इसके पुत्रिका पुत्र चतुर्यन या समधी गौतमीपुत्र सातकर्णी पर।

रुद्रदामन ने कुकुर, अपरान्त, अवन्ति, आकर, विदर्भ, सौराष्ट्र, सिन्धु, कच्छ, सौवीर, मरु आदि को जीत लिया था। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी मालवा, द्वारिका क्षेत्र, सौराष्ट्र, सावरमती तट, मारवाड़, सिन्धु, सौवीर (सिंधु नदी का तटीय भाग), उत्तरी कोंकण, पश्चिमी विंध्य इसके अधिकार में आ गया था। इससे इसको 'क्षहरातकुलयश परिथापन करस' कहा गया है। इनमें के अधिकांश भाग पर गौतमीपुत्र सातकर्णी का ही अधिकार था। अतएव इसने गौतमीपुत्र द्वारा विजित प्रदेशों को ही छीना था।

चतुर्थ चरण

यह युद्ध यक्षश्री सातकर्णी और रुद्रदामन के उत्तराधिकारी के बीच हुआ था। उनके अनुकरण पर यज्ञश्री सातकर्णी के समय के चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो क्षत्रपीय शैली में हैं। इसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र द्वारा अधिकृत अधिकांश भू-भाग पर यज्ञश्री सातकर्णी का अधिकार हो चुका था। इसका साम्राज्य बम्बई से लेकर सिन्धु प्रदेश तक फैला था। उसके अभिलेखों तथा सिक्कों के प्राप्ति स्थानों से ज्ञात होता है कि अनूप, आनर्त, सौराष्ट्र, अपरान्त आदि भाग जिसे गौतमीपुत्र से रुद्रदामन ने छीन कर-हथिया लिया था उसे पुनः यज्ञश्री सातकर्णी ने प्राप्त कर जहाँ शक-क्षत्रपों को पश्चिमी भारत से भगा कर वहाँ अपना अधिकार पुनः स्थापित किया वहीं साम्राज्य की सीमा में सम्पूर्ण पश्चिम को मिला लिया। इस प्रकार गौतमीपुत्र के पराजय का बदला इसने चुका लिया।

शक सातवाहन युद्ध का क्रम

इन उपर्यकित विवरणों से ज्ञात होता है कि दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणी भारत में मौर्यों के बाद सातवाहन सशक्त थे। उसी समय शकों की दो शाखाएं क्षत्रप और कर्दमक भी क्रमशः वहाँ अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे तथा पश्चिम और दक्षिण पर अपना अधिकार जमाने लगे थे। इससे सातवाहनों से इनका टकराव होता रहा। यही कारण था शक-सातवाहन संघर्ष का। इस क्रम में पहला युद्ध सातवाहन शासक सातकर्णी द्वितीय और शक-क्षत्रप भूमक के बीच हुआ था क्योंकि हाल सातकर्णी द्वितीय का उत्तराधिकारी था। उसके पूर्व ही इस वंश के गौरव के समाप्ति की सूचना प्राप्त होती है।

फिर दूसरे युद्ध क्रम में क्षत्रप वंश का प्रभावशाली शासक नहपान था जिसकी अन्तिम तिथि अभिलेखों के अनुसार 46 दी गई है। इस समय महाराष्ट्र पर नहपान का अधिकार था। गौतमीपुत्र सातकर्णी सातवाहन वंश का शासक भी महाराष्ट्र पर शासन करता था तथा उसके राज्य में वे सभी भाग सम्मिलित थे जो नहपान के अधिकार में थे। इससे ज्ञात होता है कि दूसरा युद्ध नहपान और गौतमीपुत्र के बीच हुआ था। पर गौतमीपुत्र के साम्राज्य में जो भाग सम्मिलित हुआ था वह पुनः कर्दमक वंशीय शासक रुद्रदामन के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इसके राज्य में सम्मिलित हो गया था। रुद्रदामन की पहली ज्ञात तिथि 52 = 130 ई० है जबकि गौतमीपुत्र भी इस समय तक शासन करता था। अतः तीसरा युद्ध क्रम गौतमीपुत्र के अन्तिम समय में जब वासिष्ठिपुत्र पुलमावी के राज्यारम्भ और रुद्रदामन के बीच हुआ था। पुनः यज्ञ श्रीसातकर्णी के अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन के बहुत से प्रशासित प्रदेश उसके अधिकार में आ चुके थे। इस प्रकार चौथा युद्ध रुद्रदामन के उत्तराधिकारी और यक्षश्री सातकर्णी के बीच हुआ। इस प्रकार शक-सातवाहन संघर्ष चार क्रमों में क्रमशः हुआ था—

(1) सातकर्णी द्वितीय और भूमक
(2) नहपान और गौतमीपुत्र सातकर्णी
(3) वासिष्ठिपुत्र पुलमावी और रुद्रदामन तथा
(4) रुद्रदामन के उत्तराधिकारी और यज्ञश्री सातकर्णी के बीच।

[ब]

शक-सातवाहनकालीन दक्षिण भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था

(1) सामाजिक अवस्था—वाशिष्टिपुत्र श्री पुलमावी के नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है कि चातुर्वण्य की व्यवस्था का नियमित रूप से निर्वाह करने का प्रयास गौतमीपुत्र ने किया था। गौतमीपुत्र के लिए यह कहना कि उसने क्षत्रियों के दपमान का मर्दन किया, सिद्ध करता है कि ब्राह्मण क्षत्रियों के शासन संबंधी कार्यों को करने लगे थे जबकि क्षत्रियों का मूल कार्य शासन करना था। वैश्य भी समाज में थे तभी गौतमीपुत्र के लिए 'द्विजावर कुटुव विवधनस' कहने का अभिप्राय वैश्यों और शुद्रों से लिया जाता है। पर यह भी ज्ञातव्य है कि उच्चवर्ण का व्यक्ति अपने से निम्न वर्ण का व्यवसाय ग्रहण कर लेता था जैसा ब्राह्मणों के शासक होने से ज्ञात होता है। पर समाज में ब्राह्मणों का स्थान बहुत ऊँचा था तभी गौतमीपुत्र को एक ब्राह्मण कहा गया है। वर्णसंकरता व्याप्त थी पर शास्त्र सम्मत न होने से मान्य नहीं थी। इसीलिए गौतमीपुत्र ने वर्णसंकरता को रोका था। पर राजनैतिक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय विवाह होते थे, जैसा वाशिष्टिपुत्र का विवाह रुद्रदामन की लड़की के साथ तथा सातकर्णी का विवाह महाराष्ट्र के अंगीय वंश की राजकुमारी के साथ होने का ज्ञान मिलता है। इस समय विदेशी जातियों का भारतीयकरण होने लगा था तथा वे भारतीय धर्म में स्वीकारे जाने लगे और भारतीय नाम धारण करने लगे थे।

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई थी, इसे कुटुम्ब कहते थे। इसका प्रधान कुटुम्बिनी कहलाता था। राजा कुटुम्ब के विकास का ध्यान रखता था, जैसा गौतमीपुत्र सातकर्णी के ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। इसमें नारियों की विशेष महत्ता थी तभी यहाँ के प्रत्येक राजाओं के नाम के पहले माता का नाम जुड़ा है जैसे गौतमीपुत्र सातकर्णी, वाशिष्ठिपुत्र पुलमावी आदि। इससे हम सहज ही कह

सकते हैं कि मातृप्रधान परिवार व्यवस्था थी तथा नारियों का समाज में समादृत स्थान था। परिवार मातृसत्तात्मक था। ये संरिक्षका तथा सहायक के रूप में पतियों के साथ प्रशासन में भाग लेती थीं। जैसे—नयनीका, गौतमी, बलश्री आदि। नारियां शिक्षित थीं। ये पति के साथ धार्मिक क्रियाएँ भी करती थीं तभी नयनीका ने अपने पति के साथ दो अश्वमेघ यज्ञों में भाग लिया था।

समाज चार वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में महारथी, महाभोज आदि थे। ये समाज के उच्चतम वर्ग के सदस्य थे। द्वितीय वर्ग में कर्मचारी और सरकारी सदस्य अमात्य, भाण्डागारिक, श्रेष्ठिक, वैद्य आदि थे। तीसरे और चौथे वर्ग के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये निम्न वर्ग के लोगों का था।

(2) आर्थिक अवस्था—इस समय दक्षिणी भारत की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। देश धन-धान्य से परिपूर्ण था। इसी से गौतमीपुत्र तथा नहपान द्वारा विभिन्न स्थानों में अन्न देने का उल्लेख पुलमावी तथा उषवदात्त के अभिलेखा में मिलता है। नयनीका के नानाघाट अभिलेख में 24000 तथा उषवदात्त के अभिलेख में 60000 कार्षापण के दान का उल्लेख है जो बड़ी मात्रा में द्रव्य दान का परिचायक है। इसी प्रकार गुफाओं के दान में अन्न, हाथी, घोड़ा, रुपया भर-भर कर बाँस की लाठियों में, देने की चर्चा है।

कृषि की स्थिति अच्छी थी। सिंचाई की सुविधा के लिए राज्य की ओर से व्यवस्था की जाती थी तभी इतना अधिक अन्न उत्पन्न होता था कि लोग उसमें से दान भी देते थे। इसकी उन्नति करना राजा का धर्म था तभी रुद्रदामन ने सिंचाई के लिए सुदर्शन झील का पुनरुद्धार कराया था।

विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे—बढ़ई, सुनार, लोहार, बाँस बनाने वाले कुम्भकार, गंधिक, तिलपिषक (तेली), कासाकार (कसेरा), धनिक (अनाज पैदा करने वाले), मालाकार, घसक (मछुए) आदि। इनमें कुछ बड़े उद्योग-धन्धे भी रहे होंगे। यहाँ प्रत्येक प्रकार के उद्योग करने वालों का एक संगठन होता था जिसे श्रेणी अथवा निगम कहते थे। श्रेणी की व्याख्या में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'एकेन शिल्पेन ये जीवते तेषाम समूहः श्रेणी'—अर्थात् एक शिल्प से जिनकी जीविका चलती है उनके संगठन को श्रेणी कहते हैं। इन श्रेणियों के मुख्यतः तीन कार्य थे—धन संचित करना (बैंक की तरह), कर्ज देना तथा व्यावसायिक शिक्षा देना। उषवदात्त ने कुलीक निगमों में धन जमा किया था। श्रेणियों से लिए नये ऋण पर ब्याज दिया जाता था जो 9 प्रति से 12 प्रतिशत तक होता था।

इस समय भरुकक्ष, सोपारा, कल्याण आदि बन्दरगाह थे। इनसे अवश्य ही विदेशी व्यापार होता होगा। इनका दूसरा प्रमाण यज्ञश्री सातकर्णी का सिक्के हैं जिन पर जहाज तथा मस्तूल की आकृति बनी हैं। पहली सदी ईस्वी की व्यापारिक स्थिति पर एक पुस्तक (Periplus of the Erythrean Sea) से इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि पश्चिमी देशों से समुद्री व्यापार मिस्र (एलेक्जेण्ड्रिया) तथा रोम से होता था। हाथीदाँत की सामग्रियाँ, मोती, रेशमी, कपड़े, मसाले, सुंगधियाँ, औषधियाँ, मलमल आदि रोम में भारत से बिकने के लिए बड़ी मात्रा में जाते थे। बदले में रोम की स्वर्ण मुद्राएँ बड़ी मात्रा में भारत आती थीं जो कन्नौज, रावलपिण्डी, इलाहाबाद, मिर्जापुर आदि की खुदाई से मिली हैं। विदेशी व्यापार के समुन्नति का कारण था कि सतवाहन काल शान्त था तथा रोमन साम्राज्य का विकास हो रहा था। नील नदी को कालासागर से जोड़ देने से मार्ग सुगम हो गया था तथा समुद्री डाकुओं का भय भी कम था जिससे व्यापार को विशेष सुविधा मिली। परिणाम यह हुआ कि रोम की स्वर्ण मुद्राओं से भारतीय बाजार भरने लगा।

देश में आन्तरिक व्यापार एवं उद्योग के केन्द्र स्थापित थे। नासिक, जुन्नर, प्रतिष्ठान, वैजयन्ती, करहाटक, तगर, विजयपुर आदि व्यापारिक मण्डियाँ थीं। इन मण्डियों में विदेशी व्यापारी अपना सामान बेचते होंगे तथा यहाँ से अपने देश में सामान खरीद कर ले जाते होंगे।

आवागमन के लिए देश के भीतर सड़के बनी थीं। ये सड़के प्रत्येक व्यापारिक केन्द्रों को जोड़ती थीं। जल मार्ग का भी प्रयोग किया जाता होगा क्योंकि देश के बाहर का व्यापार इसी मार्ग से होता था। नदियों के किनारे बसे हुए प्रदेशों से इसी मार्ग द्वारा सामान आता था तथा बेचने के लिए भेजा जाता होगा।

ऊपर दान के सम्बन्ध में मुद्राओं की चर्चा से ज्ञात होता है कि लेन-देन के लिए मुद्रा का प्रयोग होता था। अदल-बदल का भी चलन था। अभिलेखों के अनुसार 'कार्षापण' इस समय की प्रमुख मुद्रा ज्ञात होती है। शकों द्वारा शासित भू-भाग में चाँदी की मुद्राएँ प्रचलित थीं। स्वर्ण की मुद्राएँ सुवर्ण का भी प्रचलन था जो चाँदी के 35 कार्षापण के बराबर होता था।

इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत की आर्थिक अवस्था बड़ी ही समृद्ध थी। यहाँ के लोग कृषि तथा व्यापार के माध्यम से धन कमाते थे।

(3) धार्मिक अवस्था—जहाँ विभिन्न धर्म प्रचलित थे वहीं दूसरी ओर कर्मकाण्डों की भी प्रधानता थी। सातवाहन वंश के नासिक अभिलेखों से धार्मिक स्थिति पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। ये अभिलेख यद्यपि राजाओं और उनके कार्यों से मूल रूप से सम्बन्धित हैं फिर भी अधिकाधिक वर्णन इनमें धार्मिक क्रियाओं का ही है। सातवाहन राजा स्वयं धर्मप्रिय थे जिससे इनकी प्रजा में भी धर्म के प्रति तीव्र आस्तिकता थी।

यहाँ ब्राह्मण धर्म विशेष प्रभावी था। इसका कारण था कि सातवाहन राजा स्वयं ब्राह्मण थे और ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करते थे। तत्कालीन परिवेश में भी सातवाहन ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धारक थे। उत्तरी भारत में शुंग और कण्व शासकों के समय से ब्राह्मण प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। इस लहर से यह अछूता न रह सके। नायनिका के नानाघाट अभिलेख का आरंभ ब्राह्मण देता इन्द्र, संकर्षण, चन्द्र, सूर्य, चारों लोकपाल—यम, वरुण, कुबेर आदि के उल्लेख से होता है। इन नामों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म के प्रति विभिन्न संप्रदायों के लोगों में आस्था थी। इनसे भी वैष्णव धर्म की प्रधानता का ज्ञान अभिलेखों में वासुदेव, संकर्षण आदि के नामों के उल्लेख से मिलता है। इसके साथ ही शिव के विभिन्न रूपों और नामों—भूतपाल, शिवदत्त, महादेवनक और भवगोप आदि के उल्लेख से ज्ञात होता है। शैव धर्म विद्यमान था। भण्डारकर का अनुमान है कि इस समय शिव की उपासना—शिव, महादेव, भव और भूतपाल चार रूपों में की जाती थी। साथ ही नन्दिन आदि नामोल्लेख से शिव के वाहनों की उपासना का ज्ञान मिलता है। स्कन्द कार्तिकेय की भी पूजा होती थी तभी स्कन्दपालित, शिवस्कन्द, शिवस्कन्दगुप्त का उल्लेख किया गया है। लोक धर्म भी प्रचलित था। नाग, सर्प, सर्पिल आदि विभिन्न नामों से नाग की पूजा की जाती थी।

अनेक यज्ञों का प्रचलन था। विशेष रूप से अश्वमेघ और राजसूय यज्ञ किए जाते थे। सातकर्णी ने दो अश्वमेघ और राजसूय यज्ञ किया था। नानाघाट अभिलेख में 21 प्रकार के यज्ञों के होने का उल्लेख है—रिक, अगाध, अनारभिनियों, भगल, दशरथ, गर्ग, तिरत आदि। इन यज्ञों में पुरोहितों को दक्षिणा दी जाती थी। इसमें गाय, हाथी, घोड़ा आदि देते थे। कभी-कभी द्रव्यों से भरे हुए तथा सोना-चाँदी के गहने दक्षिणा में दिए जाते थे। नायनिका के नानाघाट अभिलेख में गाड़ी भरे चावल

का दान किया जाता था। ग्राम दान भी देते थे। इन दान के विवरणों में कहीं भी 1000 से कम गौ दान का वर्णन नहीं मिला। शक-क्षत्रप उषवदात प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजना कराता था, 3000 गौएँ दान देता था। इसने ब्राह्मणों को 16 गाँव दान दिया था तथा अपने खर्च पर आठ ब्राह्मण कन्याओं का विवाह कराया था, कुएँ खुदवाया तथा बाग लगवाया था। दशपुर, गोवर्धन आदि में धर्मशालाएँ बनवायीं थीं।

ये धर्म सहिष्णु सम्राट थे। अतः अन्य धर्मों में भी इनकी आस्था थी। इसीसे ब्राह्मण धर्म के साथ बौद्ध धर्म को भी बढ़ावा देते थे। इसीसे भिक्षुओं के लिए सातवाहन शासकों ने गुहा और ग्राम दान दिया था। कुछ बौद्ध स्तूप के ऊपर अंकित लेखों से ज्ञात होता है कि ये सातवाहन काल के हैं। इसके साथ ही अनेक चैत्य जिनमें नासिक कार्ले, कन्हेरी, भाजा आदि पश्चिमी घाट में बने हैं इसी समय की कलाकृति है जो चैत्य कला के विकास में उत्कृष्टता के साथ बौद्ध धर्म के प्रति जनरुचि व्यक्त करते हैं। श्रावण मास में बौद्धों के चीवर दान के लिए श्रद्धालुओं के उत्सुक होने का ज्ञान मिलता है। इसके लिए धनिक लोग अक्षयनिवि जमा करते थे। इसी का परिणाम था कि विदेशियों ने यहाँ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। यवनों ने इसी प्रभाव में अपना नाम बदल लिया था और बौद्ध धर्म को दान देने लगे थे। कार्ले में दो यवनों के नाम सिंहधाय और धर्म अंकित हैं। इस प्रकार के अनेक हिन्दू नाम अन्य अभिलेखों से भवनों के मिलते हैं। इनकी दीवारों पर अंकित लेख भी इसके पोषक हैं। तब बौद्ध धर्म अनेक शाखाओं में विभक्त था।

●

भारतीय-यवन अभिलेख

1. मेनेण्डरकालीन शिनकोट (बजौर) प्रस्त अस्थि मंजूषा अभिलेख
[Sinkot (Bajaur) Steatite Casket Inscriptions of the time of Menander]

स्थान : शिनकोट वजौर प्रजातीय क्षेत्र

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

काल : लगभग 115–90 ई॰ पू॰

विषय : मिनेन्द्र के सामन्त वियकमित्र के वंशज विजयमित्र द्वारा बुद्ध के अस्थि अवशेष की प्रतिष्ठा, उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानी राज्य की स्थापना तथा उनके बौद्धधर्म मानने से भारतीय होने की प्रक्रिया का बोध

मूल पाट

खण्ड–1

ढक्कन के मुँह पर

....मिनेन्द्रस[1] महरजस कटियस दिवस 4 (+) 4 (+) 4 (+) 1 (+) 1[2] प्र[ण]—[स]मे[द]...

(अ–1)

ढक्कन के मध्य

......[प्रति] [थवि]त (।)

(अ–2)

ढक्कन के अन्तर्मुख पर

प्रण-समे[द] [शरिर] [भगव] [तो] शकमुनिस (।)[3]

(ब)

मंजूषा के भीतरी भाग पर

वियकमित्रस[4] अप्रचरजस (।)

---

1. प्रारम्भ में दी गई तिथि मिट गई है। साथ ही यवन नाम का यहाँ भारतीयकरण मिलता है।
2. देखिए यूनानियों द्वारा मास गणना की विधि।
3. स्टेनकोनो के अनुसार केवल अ-1 और अ-2 मिनाण्डर के समय का है।
4. वियकमित्र मिनाण्डर का सामन्त था। प्राण-समेत से अभिप्राय है कि बुद्ध का धातु पात्र कोई आश्चर्य कर सकता था।

खण्ड–2

ढक्कन के मध्य

1. विजय[मित्रे]ण[1]...

2. पते प्रदिथविदे (।)

(द)

मंजूषा के भीतरी भाग में

1. इमे शरिर पलुग भुद्रओ न सकरे अत्रित (।) स शरिअत्रि कलद्रेन[2] शध्रो न पिंडोयकेयि पित्रि ग्रिणयत्रि (।)[3]

2. तस ये पत्रे अपोमुअ वषये पंचमये 4(+)1 वेश्रखस मसस दिवस पंचविश्रये इयो

3. प्रत्रिथवित्रे विजयमित्रेन अप्रचरेजन भग्रवतु शकिमुणिस समस[ ]बुधस शरिर (।)

(य)

मंजूषा के पृष्ठ भाग पर

विश्पिलेन अणंकतेन[3] लिखित्रे (।)

संस्कृत छाया

(खण्ड 1) [संवत्सरे...मीनेन्द्रस्य महाराजस्य कार्तिकस्य [मासस्य] दिवसे 14 प्राण-समेतं शरीरं (अ-1) [भगवतः शाक्यमुनेः ।] प्रतिष्ठापितम् । (अ–2) प्राणसमेतं शरीरं भगवतः शाक्यमुनेः । (ब) वीर्यकमित्रस्य अप्रत्यग्राजस्य । (खण्ड-2 स) विजयमित्रेण...पात्रं प्रतिष्ठापितम् । (द) इदं शरीरं प्ररुगुण भूतकं न सत्कारैः आदृतम् । तत् शीर्यते कालतः, न श्रद्धालुः न च पिण्डोदकानि पितृन् ग्राह्यति । तस्य एतत पात्रं 5 वैशाखस्य मासस्य दिवसे 25 इह प्रतिष्ठापितं विजयमित्रेन । अप्रत्यग्रोजन, भगवतः शाक्यमुनेः सम्यक संबुद्धस्य नवं शवीरं च अस्मिन पात्रे प्रतिष्ठापितम् । आज्ञाकारिणा विष्पिलेन लिखितम् ।।

हिन्दी अर्थान्तर

खण्ड–1

ढक्कन के किनारे

(शासनकाल में) मिनेन्द्र महाराज के कार्तिक मास के 14वें दिन शरीर अवशेष

(अ–1)

ढक्कन के मध्य

प्रतिष्ठापित

(अ–2)

---

1. स्टेनकोनो : विजयमित्र [प्रवर]. विजपमित्र विपयकमित्र का उत्तराधिकारी था।
2. स्टेनकोनो : इमे शरिर पलुग भुत ठन सकरेअति : तम शरिअति कलदे नो शध्रो न [पितो]यकेयि पिति ग्रिणयति। यह धातु पत्र तथा स्थान टूट गया है इसमें इसे पुनः मरम्मत कराना है।
3. स्टेनकोनो : अर्णकयेन।

ढक्कन के अन्तर्मुख पर

भगवान् शाक्यमुनि का यह प्राण समेत अवशेष

(ब)

मंजूषा के भीतरी भाग पर

वीर्यकमित्र के अधीन सामन्त राजा

खण्ड–2

(स)

मंजूषा के मध्य में

1. विजयमित्र द्वारा

2. पात्र प्रतिष्ठापित हुआ

(द)

मंजूषा के भीतरी भाग में

1. यह शरीर जीर्णभूत-सत्कारों से आदृत नहीं किया गया। वह दीर्घकाल से शीर्ण हुआ, कोई श्रद्धालु पितरों को पिण्डोदक नहीं दिया।

2. उसका यह पात्र पञ्चमवर्ष में वैशाख मास के पच्चीसवें दिन यहाँ

3. प्रतिष्ठापित किया गया अधीन सामन्त राजा विजयमित्र द्वारा—सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् शाक्य मुनि का शरीर।

(य)

मंजूषा के पृष्ठ भाग पर

यह आज्ञाकारी विश्पिल द्वारा लिखवाया गया।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह अभिलेख अफगानिस्तान (आधुनिक पाकिस्तान) में बहने वाली पंजकोर और स्वात नदियों के संगम के पास बजौर के समीप शिनकोट से प्राप्त हुआ है। यह लेख एक शैलखड़ी की मंजूषा के भीतर, बाहर और उसके ढक्कन पर अंकित है जिसे कबायलियों ने नींव खोदते समय प्राप्त किया था। इसमें लघु शिलालेखों के दो समूह हैं जिनके अक्षरों के आकार तथा उनकी खुदाई में गहराई के अन्तर के कारण भिन्नता दीखती है। साथ ही अक्षरों के स्वरूपों में भी एकरूपता का अभाव इनमें अन्तर को स्पष्ट करता है। एन॰ जी॰ मजुमदार ने इनके बीच पचास वर्षों के अन्तर का अनुमान लगाया है।

राजनीतिक दृष्टि से इस अभिलेख का विशेष महत्त्व है। यह मिनाण्डर नामक यूनानी शासक का एकमात्र उपलब्ध अभिलेख है। इससे विदित होता है कि (1) मिनाण्डर का अधिकार पश्चिमी सीमा पर स्वातघाटी में बजौर के कबायलियों में था। मिलिन्दपञ्हों के अनुसार भी इसकी राजधानी स्यालकोट ही थी। वहाँ सामन्ती शासन था। (2) इस लेख में प्रयुक्त वियकमित्र तथा विजयमित्र को कुछ लोगों ने एक ही व्यक्ति का दो भिन्न नाम माना है। पर डा॰ मजुमदार और सरकार ने इन्हें दो भिन्न व्यक्ति बताया है। यही मत अधिक मान्य लगता है। विजयमित्र की पहचान इसके पुत्र इन्दुवर्मा के सिक्कों पर अंकित

इस नाम से की गई है। सम्भवतः ये दोनों ही उसके सामन्त थे जो बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को एक पेटिका में सुरक्षित रखकर उस पर लेख लिखवाए थे। (3) यहाँ यह भी ज्ञात होता है कि मिनाण्डर की मृत्यु के बाद वहाँ के शासन की बागडोर उसके सामन्तों के हाथ में चली गई। (4) इस अभिलेख तथा मिलिन्दपञ्हों में मिनाण्डर के एक बौद्ध शासक होने की पुष्टि होती है। मिलिन्दपञ्हो इसे बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का शिष्य बताता है। (5) यहाँ उल्लिखित 'अप्रचरज' एक सामन्ती उपाधि रही होगी।

धार्मिक दृष्टि से भी इसकी महत्ता है। इसमें बुद्ध का उल्लेख है तथा इससे बौद्ध धर्म के प्रचार का ज्ञान मिलता है। विदेशियों में भी इस धर्म का प्रचार था तभी यूनानी शासक मिलिन्द भी बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। इसीसे मध्य एशिया की पहाड़ियों में उसने अनेक बौद्ध गुफाओं का निर्माण कर भिक्षुओं को दान दिया था। स्यालकोट, जो उसकी राजधानी थी वहाँ तक इसके धर्म की नींव सुदृढ़ता से फैल चुकी थी। यहाँ उल्लिखित है कि ब्राह्मणों की भाँति बौद्ध भी अपने पितरों का श्राद्धकर्म करते थे—'शिघ्रोपिण्डोपकेयि पित्रि ग्रिणयति'। स्पष्ट है कि बौद्धों की जीवन विधि पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ने लगा था।

2. गोण्डोफरनीज का तख्त-ए-बाही प्रस्तर अभिलेख
(Takht-e-Bahi Inscription of Gondpohernees)

स्थान : तख्त-इ-बाही, युसुफजई, क्षेत्र, जिला–पेशावर, पश्चिमी पाकिस्तान

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्टी

काल : 26वाँ राज्यवर्ष, अनिर्दिष्ट संवत् का वर्ष 103

विषय : गोण्डोफरनीज (गुदुव्हर) के 26वें राज्यवर्ष में बलस्वामिन हेतु वोयन द्वारा वासगृह के परिवार के धर्म-पुण्य हेतु दान

सन्दर्भ : इपि० इण्डि०, 18, पृ० 282, सी० यू० इ०, 2, 1, पृ० 62

मूल-पाट

1. महरयस गुदुव्हरस वष 20 (+)4(+)1(+( )1
2. संब[त्सरए] [ति]शतिमए 1 (×)100(+)1(+)1(+)1 वेशखस मसस दिवसे
3. [प्रटमे] [पुत्रे] (ब) [ह]ले पक्षे बलसमिस [बो]यणस
4. [परि]वर शध-दण स-पुअस केणमिर(स?)बोअणस
5. एर्झुण[1] कप[2] स पुअए (।) मदु ……
6. पिदु पुअए (॥)

संस्कृत छाया

महरजस गुदुह्वरस्य राज्य वर्षे 26 संवत्सरे 103 वैशाखस्य मासस्य प्रथमे दिवसे पुण्य बहुल पक्षे

1. बाजर का पाठ : एझल्वुन, एक राजकुमार का नाम। एर्झुण कोनो का पाठ : जो उनके अनुसार खोतानी शब्द है = कुमार।
2. कोनो के अनुसार यह पाठ है : कपपस = कैडफिसिज प्रथम।

बलस्वामिने वोयनस्य प्राकारः श्रद्धा दानं सुपुत्रस्य केनमिर वोयनस्य एर्झुन कपस्य च पूजायै, मातापित्रोः पूजायै (समानानाय)।

हिन्दी अन्र्थान्तर

1. महाराज गुदुह्वर के (राज्य) वर्ष 26
2. संवत्सर 103, वैशाख मास के प्रथम दिन
3. (पुण्य) (बहु) ल पक्ष में वलस्वामी के लिए वोयन का
4. प्राकार श्रद्धाया दान सपुत्र केनमिर वोयन के
5. एर्झुण कपके सम्मान के निमित्त, माता—
6. पिता के सम्मान के निमित्त

ऐतिहासिक महत्त्व

गुदुव्हर का यह शिलालेख पाकिस्तान के पेशावर जिले के युसुफजाई क्षेत्र के मर्दान के समीप तख्त-ए-बहाई नामक स्थान से प्राप्त हुआ बताया जाता है। पर यह सर्वमान्य नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार यह शहवाजगढ़ी से प्राप्त हुआ था। इसकी लिपि खरोष्ठी है तथा भाषा प्राकृत। इसमें एक अनिर्दिष्ट संवत 103 का महाराजा गुदुव्हर के शासन के छब्बीसवें वर्ष का उल्लेख है। यह धार्मिक विषय का लेख है जिसमें दान, पुण्य, श्रद्धा आदि की चर्चा की गयी है। इस अभिलेख के अनुसार इस राजा ने अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए वैशाख मास के कृष्ण पक्ष में कुछ दान दिया था। इसका सम्बन्ध राज्य परिवार या राजनीतिक जीवन से नहीं है अपितु व्यक्ति विशेष से है जो यहाँ दान से सम्बन्धित हैं। इसके कतिपय अंश अस्पष्ट हैं।

गुदुव्हर की समता सभी विद्वानों ने भारतीय पह्लव शासक गोण्डाफरनिज से की गई है। उसके सम्बन्ध में सूचना देने वाला यह अकेला अभिलेख है जो कई दृष्टियों से भारतीय इतिहास के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी तिथि के निश्चिय होने से गोण्डाफरनिज नामक भारतीय-पह्लव वंश के इस शासक की तिथि की जानकारी होती है तथा उसके साम्राज्य विस्तार का भी ज्ञान प्राप्त होता है जो इसके अभाव में अनेक विरोधी तथ्यों के समक्ष आज भी समस्या ही बना रहता। यह दक्षिणी अफगानिस्तान का भारतीय पह्लव शासक था जिसने सिन्धु घाटी तक अपना साम्राज्य फैलाया था। बड़ी मात्रा में प्राप्त इसके सिक्कों के आधार पर इसे एजेज़ का उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाता है।

इस अभिलेख में राजा गुदुव्हर की उपाधि महरयस दी गई है। इसकी पहचान जैसा वर्णित है। पह्लव शासक गोण्डाफरनिज से की गई है। इसका एक भाई था 'गद' जिसके नाम के सिक्के प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः गद और गुदव्हर दोनों ही कुछ दिनों तक साथ-साथ शासन किए थे ऐसा रैप्सन का विचार है। फ्लीट तथा कोनो के मतानुसार सिक्कों पर अंकित 'गुद्र' शब्द सम्भवतः गुदुव्हर की जाति को व्यक्त करता है। गुद और गुदुव्हर या गुदफर या गुदनफर नामक भारतीय-पह्लव शासक का साथ-साथ शासन करना ईसाई धर्म प्रचारक सेण्ट थामस से सम्बन्द्ध कथा से भी ज्ञात होता है कि उसने इन दोनों गुदफर या गुदनफर तथा गद को ईसाई धर्म में परिवर्तित किया था। एपासिल सेण्ट थामस की तिथि प्रथम शताब्दी ई० मानी जाती है। इसी समय 43-44 ई० में तियाना का अपोलोनियस तक्षशिला आया था। उसके अनुसार तब तक्षशिला का शासक फेराओटेस था जो पह्लव जाति का था। डुवेह्वायस के अनुसार यह शासक तत्कालीन बाबुलोन तथा पार्थिया के महान शासक

वर्देनीज के अधिकार से स्वतन्त्र हुआ शासक था। हर्जफिल्ड तथा टार्न ने इस पह्लव जातीय शासक फेराओटेस की पहचान गोण्डाफरनीज से की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह महान् भारतीय पह्लव शासक अनेक नामों से हमारे इतिहास में जाना जाता है। ईसाई लेखकों ने इसका नाम गुदफर या गुदनफर दिया है, पेशावर के अभिलेख में इसे गुदव्हर कहा गया है तथा तियाना के एपोलोनियस ने इसका नाम फेराओटेस बताया है।

यहाँ इसकी उपाधि 'महरयस' अंकित है। इसके सिक्के भी प्राप्त हुए हैं जिनके पुरो-भाग पर यूनानी अक्षरों में लेख 'बैसिलियास, बैसीलियान मेगालाय युण्डोफोराय' है तथा पृष्ठ-भाग पर 'महरज-रजतिरज-त्रतरस-देवव्रतस गुदव्हरस' खरोष्ठी लिपि में अंकित है। यह स्पष्ट है कि इन सिक्कों का 'गुदव्हर' ही अभिलेख का 'गुदुव्हर' है तथा सिक्के पर अंकित उपाधि 'महरज' यूनानी शब्द 'बैसिलियस' का प्राकृत रूपान्तर तथा इस अभिलेख का 'महरयस' है। अर्थात् यह महाराजा के लिए प्रयुक्त यूनानी उपाधि का प्राकृत रूपान्तरण कहा जा सकता है।

यहाँ श्रद्धादान की बात की गई है। पर यह स्पष्ट नहीं कि श्रद्धादान किसे दिया गया था तथा क्या था ? चौथी पंक्ति के 'परिवर' शब्द का अर्थ कुछ लोगों ने प्राकार, मन्दिर, वासस्थान आदि से लिया है और इसी के दान को स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ बौद्ध गुहा मानकर बौद्ध संघ को दान देने की बात कहा है। पर ये सभी कोरी कल्पना है।

इस अभिलेख की तिथि 103 अनिर्दिष्ट सम्वत् में अंकित है। गोण्डाफरनिज के सम्बन्ध में ऐसा कोई भी दूसरा प्रामाणिक साक्ष्य नहीं जिससे उसके शासन के सही तिथि का अनुमान लगाया जा सके तथा इस अभिलेख की तिथि का निश्चिय किया जा सके कि यह किस काल गणना-क्रम में है। इसीसे इस पर कई अटकलें लगाई गई हैं। डॉ॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने इस तिथि को 20 ई॰ पू॰ माना है। किन्तु डा॰ रायचौधरी के अनुसार इसको स्वीकार करने से गोण्डाफरनिज की तिथि को बहुत पहले ले जाना पड़ेगा। डॉ॰ राखालदास बन्दोपाध्याय के अनुसार इसको शक संवत् में मानना चाहिए। इस प्रकार यह तिथि (78 ई॰ + 103 =) 181 ई॰ पड़ती है। डा॰ स्मिथ को यह मान्य नहीं है क्योंकि इसको स्वीकार कर लेने पर गुदुव्हर के काल को बहुत आगे ले जाना पड़ेगा। पुनः हमने यह भी देखा है कि यह शासक सेण्ट थामस का समकालीन था जो ईसामसीह के बाद ईसाई धर्म का उपदेशक था। उसको प्रथम शताब्दी ई॰ में ही रखा जाता है। दूसरी ओर इसी अभिलेख की पाँचवीं पंक्ति में 'कप' शब्द उल्लिखित है। स्टेनकोनो ने इसके आगे से मिटे हुए अक्षरों को 'षस' मानकर इसे 'कपशस' पढ़ा है और इसकी समता कुजूल कडफिसिज नामक कुषाण वंश के प्रथम शासक से किया है। हम जानते हैं कि कनिष्क कुषाण वंश का तीसरा शासक था उसके राज्यारोहण की तिथि 78 ई॰ है। अतः कुजूल उसके पहले ही गद्दी पर बैठा होगा। इस आधार पर गोण्डाफरनिज की तिथि ई॰ सं॰ के प्रारम्भ में ही कही होगी जिसके राज्यारोहण के 26वें वर्ष का यह अभिलेख कनिष्क की राज्यारोहण की तिथि 78 ई॰ से बहुत पहले होना चाहिए। इस आधार पर फ्लीट के अनुसार विक्रम संवत् में यह तिथि होनी चाहिए। अतः 58 ई॰ में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत् के गणनानुसार इसका काल (103 — 58 ई॰) = 45 ई॰ में पड़ता है। यह अभिलेख चूँकि गोण्डाफरनिज के राज्यारोहण के 26वें वर्ष का है अतः गोण्डाफरनिज (45 – 26 ई॰) = 19 ई॰ में सिंहासन पर बैठा होगा। यही बाद में तियाना के एपोनियस, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी

है, से ज्ञात होता है कि उसने 43-44 ई० में तक्षशिला में एक स्वतन्त्र पह्लव शासक फ्रायोटेस को देखा था। यदि फ्रायोटेस ही गोण्डाफारनिज है, जैसा पहले देखा गया है, तो तख्त-ए-बहाई अभिलेख की तिथि से इसका पूर्ण मेल बैठ जाता है।

इस अभिलेख की पाँचवीं पंक्ति में 'एर्झुण कप × × ×' पढ़ा गया है। एर्झुण पाठ कोनो का है। उन्होंने बताया कि खोतानी भाषा में एर्झुण शब्द का प्रयोग होता था जिसका अर्थ है—कुमार। बोयर ने इसे एझ्षुन पढ़ा है और इसे राजकुमार का नाम माना है। पर बोयर को मान लेने पर आगे के शब्द 'कप' का अर्थ ठीक नहीं बैठता। जबकि कोनो को स्वीकार कर लेने पर 'कुमार कदफसिस' अर्थ बैठ जाता है। अतः जैसा ऊपर वर्णित है 'कप' कदफसिस के लिए प्रयुक्त है और 'एर्झुण' कुमार के लिए।

'मदु-पिदु-पुअए'—इसकी अन्तिम पंक्ति है। लगता है कि संयुक्त परिवार था और माता-पिता का आदर परिवार में सर्वाधिक था। उनकी पूजा की जाती थी।

●

अध्याय 7

कुषाण कालीन अभिलेख

1. कनिष्क प्रथम कालीन सारनाथ बौद्ध प्रतिमाभिलेख सं० 3 (81 ई०)
(Sarnath Buddhist Image Inscriptions of the time of Kaniska i—Year 3 (= A.D. 81))

स्थान : सारनाथ, जिला–वाराणसी, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत संस्कृत से प्रभावित

लिपि : ब्राह्मी

काल : प्रथम शताब्दी ई० उत्तरार्द्ध, सं० 3 = 81 ई०

विषय : भिक्षु बल द्वारा विभिन्न लोगों के साथ, छत्र और यष्टि की स्थापना, हित और सुख के लिए

सन्दर्भ : इपि० इण्डि०, 8, पृ० 173

मूल पाट

I

1. महरजस्य कणिष्कस्य सं 3 हे 3 दि 20 (+)
2. एताये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यवुद्धिस्य सद्धेयेवि-
3. हारिस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य
4. बोधिसत्वो छत्रयष्टि [च] प्रतिष्ठापितो
5. बाराणसिये भगवतो च [ ]कमे सहा मात[।]-
6. पितिहि सहा उपद्धयायाचर्येहि[1] सद्धेयविहारि-
7. हि अंतेवासिकेहि च सहा बुद्धमित्रये त्रेपिटिक-
8. ये सहा क्षत्रपेण[2] वनस्परेन खरपल्ला-
9. नेन च सहा च च[तु]हि परिषाहि सर्वसत्वनं
10. हितासुखार्थ (।।)

संस्कृत छाया

महाराजस्य कनिष्कस्य संवत्सरे 3 हेमन्त 3 दिवसे 22 एतस्यां पूर्वायां भिक्षौ पुष्यबुद्धे सार्द्ध

1. वोजेल : उपङ्घायाचेरेहि
2. वनस्पर क्षत्रप था और खरपल्लान महाक्षत्रप था। ये कनिष्क के साम्राज्य के पूर्वी प्रान्त का शासक था।

विहारिणः भिक्षो बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वः छत्रयष्टिः च प्रतिष्ठापितौ वाराणस्यां भगवतः चंक्रमे सह मातृपितृभ्यां सह उपाध्याचार्यैः सार्द्ध विहारिभिः अन्तेवासिकैः च सहबुद्धमित्रया त्रैपिटक्या सह क्षत्रपेण वनस्परेण खरपल्लानेन च सह च चतसृभिः परिषभि-सर्वसत्त्वानां हितसुखार्थम् ।।

हिन्दी अर्थान्तर

महाराजा कनिष्क के शासन काल में संवत्सर 3 हेमन्त 3 दिवस 22 के पूर्व भिक्षु पुष्यबुद्ध के साथ रहने वाले त्रिपिटक के ज्ञाता बल द्वारा बोधिसत्व का छत्र और यष्टि वाराणसी में भगवान बुद्ध के चक्रम पथ में स्थापित किया गया। उसके माता-पिता के साथ उपाध्याय एवं आचार्य के साथ, विहार में रहने वाले शिष्यों के साथ, त्रिपिटक मानने वाले बुद्ध मित्र के साथ, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान के साथ चारों परिषदों के सभी तत्त्वों के हित और सुख के लिए।

मूल-पाठ

II

1. भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।
2. महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेन ।।

संस्कृत छाया

भिक्षाः बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्त्वः प्रतिष्ठापितः। महाक्षत्रपेण खरपल्लानेन सह क्षत्रपेण वनस्परेण।

हिन्दी अर्थान्तर

त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल द्वारा बोधिसत्व के लिए स्थापित किया गया। महाक्षत्रप खरपल्ल और क्षत्रप वनस्पर के साथ

मूल-पाठ

III

1. महाराजस्य क [णिष्कस्य]सं 3 हे 3 दि 20 (+) [2]
2. एतये पुर्वये भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिट [कस्य]
3. बोधिसत्वो छत्र य[ष्टि] [च] [प्रतिष्ठापितो] (।।)

संस्कृत छाया

महाराजस्य कनिष्कस्य संवत्सरे 3 हेमन्त 3 दिवसे 22 एतस्यां पूर्वायं भिक्षोः बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिस्त्वः छत्रयष्टिः प्रतिष्ठापितौ ।।

हिन्दी अर्थान्तर

महाराज कनिष्क के संवत्सर 3 हेमन्त 3 दिवस 22 के पूर्व त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल द्वारा बोधिसत्त्व का छत्र और यष्टि प्रतिष्ठापित किया गया।

ऐतिहासिक महत्त्व

यह अभिलेख सारनाथ से प्राप्त बोधिसत्व की प्रतिमा तथा अठपहले प्रस्तर स्तम्भ के तीन

ओर अंकित है। इसको लिखवाने वाला इनका दाता भिक्षु बल है। इसके द्वारा श्रावस्ती में भी इसी प्रकार के दान का ज्ञान वहाँ से मिले बोधिसत्व प्रतिमा और यष्टि पर अकिंत लेख से प्राप्त होता है। लगता है भिक्षु बल ने विविध बौद्ध तीर्थों की यात्रा किया था। प्रस्तुत अभिलेख तीन खण्डों का है। पहला बड़ा है तथा शेष दो अत्यन्त छोटे हैं। इसमें केवल बौद्ध धर्म स्थल, देवता आदि की ही चर्चा की गई है। यह कनिष्क सं० ३ के हेमन्त ऋतु के 22वें दिन का उत्कीर्ण है। इसमें छत्र की भी चर्चा है जो प्राप्त नहीं हो सका है। इस अभिलेख से लगता है कि तीनों मूर्ति, यष्टि और छत्र एक साथ एक अंग के रूप में कोरे गये थे। पर प्राप्त प्रतिमा और यष्टि अलग-अलग मिले हैं।

यह अभिलेख अभी तक प्राप्त कनिष्क के अभिलेखों में सबसे पहला अभिलेख माना जाता था। पर अभी हाल में कौशाम्बी से प्राप्त इसके शासन वर्ष 2 का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिससे अब यह अभिलेख पहला नहीं रह गया। पर इतना तो स्पष्ट ही है कि यह उसके शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों का है। यह कनिष्क के राजसंवत्सर 3 का है। इससे स्पष्ट है कि कनिष्क के कर्मचारियों एवं उत्तराधिकारियों द्वारा कनिष्क के सिंहासनारोहण के समय से यह गणना व्यवहार में आता होगा। विद्वानों का मत है कि शक-क्षत्रपों द्वारा यह गणना अपनाई गई थी। इसी से 78 ई० से प्रचलित होने वाले शक-संवत् को ही इस संवत् की मान्यता दी जाती है। पर यह विचार सर्वमान्य नहीं रह गया है क्योंकि कुषाण संवत् ही शक संवत् है ऐसा कुछ लोग नहीं मानते। वे कुषाण संवत् का प्रारम्भ दूसरी शती ई० में मानते हैं। पर इसे अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस लेख से कनिष्क के साम्राज्य विस्तार का अनुमान कुछ लोगों ने लगाया है। वे बनारस तक उसका राज्य राज्यारोहण के वर्ष 3 में मानते हैं। इसकी पुष्टि में उन्होंने ठीक इसी प्रकार का इसका एक दान अभिलेख कौशाम्बी से प्राप्त होने पर यह मत व्यक्त किया है कि इस समय तक प्रयाग और वाराणसी उसके राज्य के अंग थे। यही विचार डा० गोयल का भी है। पर इसके मानने में कठिनाइयाँ है। उसका दाता भिक्षु बल वाराणसी का रहने वाला नहीं प्रतीत होता। वह तीर्थयात्रा के लिए यहाँ आया होगा क्योंकि उसके द्वारा श्रावस्ती (आधुनिक उ० प्र० के गोंडा जनपद का सहेत-महेत नामक स्थान) में भी ऐसे ही दान का उल्लेख है जो सिद्ध करता है कि वह अपने यात्रा-क्रम में यहाँ भी गया होगा। दूसरे यह मूर्ति फतेहपुरसीकरी से प्राप्त होने वाले लाल चित्तीदार पत्थर की है। सारनाथ जो कनिष्क के काल में एक प्रमुख कलाकेन्द्र था, फिर भी यहाँ के शासक को मथुरा से यह मूर्ति यहाँ लाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? स्पष्ट है कि वहीं से मूर्ति बनवाकर तथा लेख खुदवाकर वह यहाँ लायी गई होगी। तीसरे वनस्पर और खरपल्लान यहाँ के क्षत्रप थे, इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले लेख में वनस्पर को क्षत्रप तथा खरपल्लान का उपाधिविहीन उल्लेख है। पर दूसरे लेख में खरपल्लान को महाक्षत्रप तथा वनस्पर का उपाधिविहीन उल्लेख है। यहाँ एक ही समय दो प्रकार से क्षत्रप और महाक्षत्रप का उल्लेख उनके वाराणसी के शासक न होने का बोधक है। साथ ही शासक के लिए क्षत्रप के साथ महाराज शब्द की भी अपेक्षा की जाती है। डॉ० चितरंजन प्रसाद सिन्हा के अनुसार इनका उल्लेख माता, पिता, उपाध्याय, आचार्य के साथ किया गया है। अतः ये भी उनके आर्थिक सहयोग से बने होंगे जिससे उसका नाम इन अन्य लोगों की पंक्ति में अंकित है।

धार्मिक दृष्टि से भी यह अभिलेख महत्त्व का है। इसमे बौद्ध धर्म की महत्ता को उजागर किया गया है। इसमें मूर्ति का दाता भिक्षु बल है। भिक्षु का सम्बन्ध बौद्ध संघ से होता है। दूसरे त्रिपिटकविद बुद्धमित्रा का यहाँ उल्लेख है जो कोसम के मूर्ति लेख में उसकी प्रतिष्ठापिका बताई गई है तथा मथुरा के हुविष्क के शासन के 33वें वर्ष के बुद्ध मूर्ति अभिलेख में भिक्षु बल की शिष्या है। तीसरे त्रिपिटकाचार्य शब्द त्रिपिटक (बौद्ध धर्म का ग्रन्थ विशेष) की महत्ता को उजागर करता है। चौथे बोधिसत्व की महता को प्रकट करता है कि यह देवता सभी प्राणियों के हित और सुख के लिए पूजा जाता था। पाँचवें इससे ज्ञात होता है कि इसके पूर्व बोधिसत्व की महत्ता समाज में अज्ञात थी। यदि यह ज्ञात रहती तो यहाँ कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती। छठें चारों परिषदों का उल्लेख स्पष्ट करता है कि बौद्ध धर्म में उपासकों के चार प्रकार थे जिनका अपना संगठन (परिषद) होता था। डॉ॰ सरकार के अनुसार ये हैं—भिक्षु, भिक्षुणी, गृहस्त उपासक पुरुष तथा स्त्री। सातवें 'चंक्रम' शब्द का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से ही है। इसका अभिप्राय यहाँ है वाराणसी में भगवान् बुद्ध के चंक्रम पथ से (सरकार के अनुसार)। पर कुछ लोग इसका अर्थ बौद्ध विहार का प्रांगण लेते हैं। जो भी हो बौद्ध धर्म से ही इसका सम्बन्ध है। आठवें वाराणसी बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इसी प्रकार के लेखों का कौसाम्बी, श्रावस्ती तथा मथुरा से मिलना इन स्थानों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। यह भी ज्ञात होता है कि ये सभी बौद्ध धर्म के तीर्थस्थल थे।

कला की दृष्टि से ज्ञात होता है कि मथुरा कुषाण कला का एक विकसित केन्द्र था। यहाँ से मूतियाँ निर्मित होकर बाहर भेजी जाती थीं। इस केन्द्र में लाल चित्तीदार पत्थर पर जो पड़ोसी फतेहपुरसीकरी की खदान से निकाले जाते थे। कला का अंकन किया जाता था यह भी कहा जा सकता है कि बोधिसत्व की मूर्तियों का स्वरूप अभी विकसित नहीं था। इसी से इसका नाम तथा विशेषताएँ उत्कीर्ण करानी पड़ी थीं। अतः बाद के विकसित अवस्था के किसी भी मूर्ति पर ऐसा अभिलेख नहीं ज्ञात होता। इसको स्थापित करने वाला भिक्षु बल था। वह बौद्ध संघ का एक परिब्राजक (संन्यासी) था। उसने संघ के सहयोग से इसका निर्माण कराया होगा। अतः संघ भी कला के निर्माण में योगदान देता था।

2. कनिष्क प्रथम का सूई-विहार ताम्रपत्र लेख (वर्ष 11)

(Suibihar Copper Plate Inscription of Kanishka I [year 11])

स्थान : सूई-विहार स्तूप (पाकिस्तान मे् बहावलपुर के समीप)

भाषा : संस्कृत, प्राकृत प्रभावित

लिपि : खरोष्ठी

काल : स॰ 11 (= 89 ई॰)

विषय : कनिष्क के काल का धर्म सम्बन्धी उल्लेख।

मूल-पाठ

1. महरजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य क[निष्कस्य] संव[त्स]रे एकदशे सं 10(+) 1 दइसिंकस्य[1] मस[स्य] दिवसें[2] अठविशे दि 20 (+) 4 (+)4

---

1. पढ़ें : दह्रसिकस्य यह ईरानी महीने का नाम है जो भारतीय जेठ आषाढ़ मास होगा।

2. पाठ दिवसे

2. [आ]त्र[1] दिवसे भिक्षुस्य नगदतस्य ध[र्म]-कथिस्य अचर्य-दमत्रत-शिष्यस्य अचर्य-भवे-प्रशिष्यस्य:[2] पठि[3] अरोपयत इह द[म]ने[4]
3. विहरस्वमिणिं[5] उपसिक [व]लनंदि-[कु]टिंबिनि बलजय-मत च इमं यठि-प्रतिठनं ठप[इ]चं अनु परिवरं ददरिं[6] (।) सर्व-सत्वनं
4. हित-सुखय भवतु (॥)

हिन्दी अर्थान्तर

1. महाराज रजतिराज देवपुत्र कनिष्क के संवत् ग्यारह (11) के दैशिक नामक मास का अट्ठाइसवाँ (28) दिवस

2. इस दिन भिक्षु नागदत्त धर्मोपदेशक, जो आचार्य दमत्र का शिष्य तथा आचार्य भव का प्रशिष्य है, की यष्टि आरोपित की जाती है यहाँ दमन में।

3. उपासिका विहार स्वामिनी जो बलनंदि की भार्या (कुटुम्बिनी) बलयज की माता ने इस यष्टि प्रतिष्ठान को स्थापित किया और परिवार सहित दिया कि सभी जीवों (सत्त्वों)

4. का हित और सुख हो।

3. कुषाण राजा का तक्षशिला रजतपत्र-अभिलेख

(Taxila Silver Scroll Inscription of a Kushan King)

स्थान : तक्षशिला, जिला–रावलपिण्डी, पश्चिमी पाकिस्तान

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

काल : कुषाण[7] राजत्वकाल के अनिर्दिष्ट संवत् का 136वाँ वर्ष

विषय : इन्तप्रिय के पुत्र द्वारा लोक कल्याण तथा धर्मार्जन हेतु तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप में बुद्ध के अवशेष की स्थापना।

मूल-पाठ

1. स 1(×)100 (+) 20 (+)10 (+) 4 (+) 1(+) 1 अयस अषडस मसस दिवसे 10 (+) 4 (+) 1 इश दिवसे प्रदिस्तवित भगवतो धतु[ओ] उर[स]-

---

1. अत्रे बेले ने पढ़ा था, डाउसन ने अन्यत्र, अच इन्द्रजी ने , व्यात्र उत हार्नले ने (*ZDMG*, XLIII, p. 133)
2. पढ़े भव
3. The word indicates monumental pillars which are even now called *lath*. Majumdar suggests that there is reference to a relifc of Nagadatta, i.e. the pilar contained the corporeal relices of Nagadatta. Nonow suggests यष्टिम् आरोपयतद्ध
4. दमन सम्भवतः सुई विहार।
5. पढ़ें स्वामिनि
6. पाठ ददति
7. डा॰ सरकार के अनुसार यह वियं कड़फसीज के भारतीय राज्य में कोई स्वतन्त्र प्रान्तपति रहा होगा। उसी ने 'सोटर मेगास' सिक्का बिना राजा के नाम का चालू किया होगा।

2. केण इंतब्हिअ-पुत्रण[1] बहलिएण[2] ोअचए णगरे वस्तवेण (।) तेण इमे प्रदिस्तवित भगवतो धतुओ धमर-
3. इए[3] तक्षशि(ल)ए तणुवए बोसिसत्व-गहमि[4] महरजस रजतिरजस देवपुत्रस खुषणस अरोग-दक्षिणए
4. सर्व-बुधण पुयए प्रचग-बुधण[5] पुयए अरह(त) पुयए सर्व-स (त्व)ण पुयए मत-पितु पुयए मित्रमच-ञति-ए-
5. लोहि(त)ण पुयए अत्वगो अरोग-दक्षिणए णि[व]णए (।) होतु अ[व]दे सम-परिचगो (।)

संस्कृत छाया

संवत्सरे 136 अयस्य आषाढस्य मास्य दिवसे 15 अस्मिन् दिवसे प्रतिष्ठापिता भागवत धातवः। उरशा देशीयेन इन्तप्रिय पुत्रेण बाहलिकेन नवाजये नगरे वास्तव्येन। तेन इमे प्रतिस्ठापिताः धर्मराजिके तक्षशिलायां तनुवके बोधिसत्त्वगृहे महराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य कुषाणस्य आरोग्य दक्षिणायै सर्वबुद्धानां पूजायै प्रत्येकबुद्धानां पूजायै, अर्हतानां, पूजायै, सर्वसत्त्वानां पूजायै, मातापित्रोः पूजायै, मित्रामात्य ज्ञाति-सलोहितानां पूजायै, आत्मनः आरोग्यदक्षिणायै निर्वाणाय। भवतु आयातः सम्यक् परित्यागः।

हिन्दी अर्थान्तर

1. अय[6] के सं(वत्सर) 136 में आषाढ़ मास के 15वें दिन—इस दिन भगवान का अस्थि अवशेष प्रतिष्ठापित किया गया। उरशा देशवासी,

2. इन्तप्रिय के पुत्र, वाह्लिक, नवाजय सगरवासी द्वारा। उसके द्वारा यह भगवान का अस्थि अवशेष प्रतिष्ठापित किया गया।

3. धर्मराजिका (स्तूप) में तक्षशिला में अपने बोधिसत्व गृह में, महाराज-राजातिराज देवपुत्र कुषाण के आरोग्य-दक्षिणा के लिए

4. सभी बुद्धों की पूजा के लिए, प्रत्येक बुद्ध की पूजा के लिए, अर्हतों की पूजा के लिए, सभी सत्वों की पूजा के लिए, माता-पिता की पूजा के लिये, मित्र, अमात्य, ज्ञातियों

5. रक्त-सम्बन्धियों की पूजा के लिए, अपनी आरोग्य दक्षिणा तथा निर्वाण के लिये।

ऐतिहासिक महत्त्व

एक अज्ञात कुषाण शासक का रजतपत्र अभिलेख तक्षशिला के चीरस्तूप के समीप स्थित एक

1. सम्भव है – लोतव्रह्रिय०
2. कुछ लोग उरस्क को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हैं और बहलिए को बल्ख।
3. धर्मराज बुद्ध का विशेषण था। इस नाम का एक स्तूप भी था।
4. बोधिसत्व वह है जो बुद्धत्व की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। बुद्ध भी पूर्व जीवन में पहले बोधिसत्व थे।
5. पढ़ें : प्रचेग०.
6. अय = एजेस द्वितीय।

भवन से प्राप्त हुए पत्थर की मंजुषा में रखा मिला था। इसका कुछ भाग क्षतिग्रस्त होने के कारण स्पष्ट पढ़ा नहीं जा सका है। यह कुषाणकालीन खरोष्टी लिपि तथा प्राकृत भाषा में है जिसमें अनिर्दिष्ट तिथि 136 अंकित है। यह लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है।

इस अभिलेख में बौद्ध धर्म के कुछ पारिभाषिक शब्द जो बुद्धत्व से सम्बन्धित हैं प्रयुक्त हैं; यथा— बोधिसत्व, सर्वबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और अर्हत। बुद्धत्व प्राप्ति की ओर लगे हुए को बोधिसत्व कहा जाता है। इसका स्तर बुद्ध से नीचे तथा गृहस्त बुद्ध के ऊपर होता है। सर्वबुद्ध से अभिप्राय मानुषी बुद्धों से है जिनकी संख्या आठ बताई गई है—शिखिन, कश्यप, कनकमुनि, क्रकुच्छंद, प्रभूतरत्न, रत्नसम्भव, विश्वभू और विपिश्चिन। भरहुत स्तूप की सूची पर भी सप्त मानुषी बुद्धों को सात वृक्षों के अंकन द्वारा प्रतिबिम्बित किया गया है। प्रत्येक बुद्ध उनको कहा जाता है जो अपने प्रयास से ही बिना बुद्ध के सहयोग के बुद्धत्व की प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं पर वे दूसरों को बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं करा सकते। अर्हत सर्वज्ञ, रागद्वेष से रहित तथा त्रैलोक्य पूजित होते हैं। इन शब्दों से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में इन पारिभाषिक शब्दों का चलन प्रारम्भ हो गया था।

यहाँ एक बौद्ध स्थापत्य के लिए 'बोधिसत्व गहमि' का उल्लेख है। इसका अर्थ बोधिसत्व गृह लिया जाता है। यह चलन था कि अस्थि अवशेषों को धातुपात्र में रखकर उस पर स्तूप बनाया जाता था। ऐसा माना जा सकता है कि उपर्यकित गृह का अभिप्राय इसी से रहा हो। पर यह मंजूषा एक कमरे की खुदाई में मिली है। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसा भी चलन रहा होगा कि अस्थिपात्रों को कमरे के भीतर प्रतिस्थापित किया जाता हो। पर इस प्रकार का कोई साहित्यिक या पुरातात्विक ज्ञान नहीं मिलता। इस आधार पर डा० चितरंजन प्रसाद सिन्हा का मत है कि कुषाणकाल में बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगी थीं। उनके स्थापनार्थ जो भवन बनता होगा उसे ही बोधिसत्व गृह कहा जाता होगा।

बौद्ध स्तूप निर्माण का यहाँ उल्लेख है। इसके लिए 'धमरइए' शब्द उल्लिखित है। इसका अर्थ है धर्मराजिका स्तूप—। पर वोजेल ने इसका अर्थ किया है धर्मराजा अशोक द्वारा बनवाए गए स्तूपों में से एक। कोनो ने धर्मराजबुद्ध के अवशेष रखे जाने के लिए बने स्तूप से इसका अभिप्राय लिया है। जो भी हो इतना स्पष्ट ही है कि स्तूप से इसका अभिप्राय है जो एक परम्परा को व्यक्त करता है।

राजनीतिक दृष्टि से भी इस अभिलेख का महत्त्व है। यहाँ 'खुषण' शब्द का उल्लेख है जिसका अर्थ है कुषाण। अतः स्पष्ट है कि यह लेख कुषाणकालीन है। पर किस कुषाण शासक के काल का है स्पष्ट नहीं क्योंकि कोई नाम नहीं दिया गया है। इसके अन्त में नन्दीप चिह्न अंकित है। यह कदफिसज प्रथम तथा द्वितीय के सिक्कों पर भी अंकित मिलता है। अतः इन्हीं कुषाण राजा के समय का यह होगा। प्राप्तिस्थान के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाण शासकों का राज्य तक्षशिला तक फैला था। यहाँ अंकित है 'महरजस रजतिरजस देवपुत्रस खुषणस'। इसमें खुषणस को छोड़कर शेष उपाधि है जो प्रायः कुषाण वंशीय शासकों के लिए उनके अभिलेखों से प्राप्त होती है। प्रायः इस विरुद के बाद राजा का नाम अंकित मिलता है। पर यहाँ राजा का नाम न होकर केवल वंश का नाम—खुषणस, अंकित होना स्पष्ट करता है कि लेखक को सम्भवतः राजवंश के अतिरिक्त राजा का नाम ज्ञात न रहा होगा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख है 'संवत्सर 136 अयस'। मार्शल के अनुसार इसमें 'अयस' से अभिप्राय एजेज (Azes) से है जिसने संवत्सर की स्थापना की थी। इस मत की पुष्टि में चन्दा आदि दूसरे

विद्वानों का मत उल्लेखनीय है कि यदि इस (एजेज) का शासन काल सं० 136 माना जाय तो वहीं तीसरी पंक्ति 'महरजस रजतिरजस देवपुत्रस खुषणस' किसी कुषाण राजा की स्थिति को भी स्पष्ट करता है। अतः ये दोनों—यूनानी और कुषाण शासक, एक साथ शासन करते हुए कहे जा सकते हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष में अमान्य प्रतीत होता है। पर यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि यह एजेज के काल में लिखवाया गया होता तो एजेज के लिए भी राजोचित उपाधियों का प्रयोग किया गया होता। किन्तु डा० सरकार ने इसके निराकरण में कहा है कि 136वें वर्ष में एजेज का अधिकार नाममात्र के लिए ही रह गया होगा। अतः यहाँ उसके लिए राजोचित उपाधियों के उल्लेख का औचित्य न समझा गया होगा। फ्लीट और टामस ने 'अयस' का अभिप्राय इसके लिए माना है। पर अन्य अभिलेखों में कोनो के अनुसार इस अभित्यक्ति के लिए 'अत्र' या 'एतये' शब्दों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार है जैसे इसमें 'इश' शब्द गणना के अन्त में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यह विचार मान्य नहीं प्रतीत होता। व्यूलर ने इसको पढ़ा है 'अय स' = अयं संवत्सर अर्थात् इस वर्ष। पर इस लेख के प्रथम पंक्ति में तिथि गणना के बाद 'इश दिवसे' द्वारा यह अर्थ प्रतिध्वनित होता है। अतः इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता क्या थी ? ऐसा पुनरुक्ति प्रयोग दूसरे अभिलेखों में अज्ञात है। इसी से स्टेमकोनो ने उस समय दो आषाढ की कल्पना की है और अयस का अर्थ आधस्य मानकर इससे पहले आषाढ़ का संकेत किया है। पर इसके दो वर्ष पूर्व के कालवान ताम्रपत्र अभिलेख सं० 134 में उल्लिखित 'संवत्सरये 134 अजयस श्रवण मसस' में अनस को यदि अयस का रूप मानकर आधस्य (पहला) श्रावण मास माना जाय तो अमान्य अर्थ होगा क्योंकि मलमास या दो मास भारतीय काल गणना के अनुसार चार वर्ष बाद ही पड़ना चाहिए फिर दो वर्ष के अन्तर पर ऐसा कैसे हो सकता है ? डा० बनर्जी शास्त्री ने इसका अर्थ आर्यस्य श्रेष्ठ मास लिया है। आषाढ़ और श्रावण हिन्दू परम्परा में श्रेष्ठ मास माने जाते हैं, जैसा अभिधान राजेन्द्र नामक कोष से भी ज्ञात होता है। फिर भी अभी यह समस्या सुलझ नहीं रुकी है। यह अटकलों में ही गुम्फित है।

4. हुविष्क का वर्डाक कांस्य-पत्र अभिलेख-वर्ष 51

(Wardak Copper Plate Inscription of Huvishka—Year 51)

स्थान : अफगानिस्तान में खवाक (वर्डाक) के एक स्तूप से

भाषा : प्राकृत संस्कृत से प्रभावित

लिपि : खरोष्ठी

तिथि : वर्ष 51

मूल-पाट

1. सं 20 (+) 20 (+) 10 (+) 1 [म(स)स्य अर्थ(?)मिसिय[1] सस्तेहि 10(+) 4 (+) 1 इमेण गडिग्रेण कमगुल्य-पुत्र व्र-मरेग्र[2] स्र इय खवदम्रि कदलयिग्र वग्रमरिग्र-विहरम्रि थुस्तिम्रि[3]भिग्रवद शक्यमुणे शरिर परिठवेति (।)

2. इमेण कुशल-मुलेण महरज-रजतिरज-होवेष्कष्य अग्र-भग्रए भवतु (।) मदपिदर मे पुयए

1. कोनो के अनुसार : मस्ये अर्थमिसिय मस्तेहि. दिन के अर्थ में प्रयोग हुआ है। सेनार्ट के अनुसार, संस्था = अहोराव। यह भारतीय जेष्ठ-वैशाख माह का बोधक है।

2. कुछ पढ़ते हैं : वग्रमरेग्रस्य द्वश.

3. पढ़ें : थबंका

भवतु (।) भ्रदर मे हष्थुणः-मरेग्रस्य पुयए भवतु (।) थो च्र[1] मे भुय घतिग्र-मित्र-संभतिग्रण पुयए भवतु (।) महिष च्र वग्र-मरेग्रस्य अग्र-भग्र-पड्रियंशं[ए]

3. भवतु (।) सर्व-सत्वण अरोग-दक्षिणए भवतु (।) अविय[2] नरग्र-पर्यत यव भवग्र यो अत्र अंतरं अंडजो जलयुग शप(फ?)तिग[3] अरुप्यत सविंण पुयए भवतु (।) महिय च्र रोहण सद सर्विण अवषड्रिगण सपरिवर च्र अग्र-भग-पड्रियंश[ए] भवतु मिथ्यगस्य[4] च्र अग्र-भग भवतु (॥)

4. एष विहरं अचं (च)र्यण महसंविगण परिग्रह (॥)

5. हुविष्क का मथुरा प्रस्तर-अभिलेख
(Mathura Stone Inscription of Huvishka)

स्थान : मथुरा, उत्तर प्रदेश
भाषा : संस्कृत प्रभावित प्राकृत
लिपि : ब्राह्मी
काल : हुविष्क कालान्तर्गत एक अनिर्दिष्ट काल 28वाँ वर्ष
विषय : धार्मिक पुण्यार्जन हेतु ब्राह्मणों तथा अनाथ-बुभुक्षितो के लिए अक्षयनीवि का दान
सन्दर्भ : इपि॰ इण्डि॰ 21, पृ॰ 60 जायसवाल, जे॰ बी॰ ओ॰ आर॰ एस॰ 18, पृ॰ 4

मूल-पाठ

1. सिद्ध [प्रतीक] (॥) संवत्सरे 20 (+) 8 गुर्प्पिये दिवसे 1 अयं पुण्य-
2. शालाा प्राचीनीकन सरुकमान-पुत्रेण खरासले-
3. र-पतिन वकन-पतिना[5] अक्षय-नीवि दिन्न[ा] (।) तुतो[6] वृ[द्धि]-
4. तो मासानुमासं शुद्धस्य चतुदिशि पुण्य-शा[ला]-
5. यं ब्राह्मण-शतं परिविषितव्यं (।) दिवसे दिव[से]
6. च पुण्य-शालाये द्वार-मुले धारिये साद्य-सक्तना[ ] आ-
7. ढका 3 ळवृण-प्रस्थो[7] 1 शक्त-प्रस्थो[8] 1 शक्त प्रथ्यो 1 हरित-कलापक-
8. घटक[ा] 3 मल्लक[ा] 5 >(।) एतं अनाध[ा]नां कृतेन द[ातव्य]
9. बभक्षितन पिबसितनं (।) य चत्र पुण्य तं देवपुत्रस्य
10. षाहिस्य हुविष्कस्य (।) येषा च देवपुत्रो प्रियः तेषामपि पुण्य

---

1. कुछ पढ़ते हैं : शोच
2. पार्जिटर के अनुसार : अरिय
3. कोनो : येगित
4. कोनो : मिथ्यगस्त्र
5. बेले के अनुसार यह एक मन्दिर के अधिकारी है।
6. पढ़ें : ततो
7. पढ़ें : लवण
8. पढ़ें : शुक्त. Others read शकु

11. भवतु (।) सर्वाये[1] च पृथिवीये पुण्य भवतु (।) अक्षय-निवि दिन्ना
12. ...[र]ाक-श्रेण[ि]ये पुराण-शत 500 (+) 50 समितकर-श्रेणी-
13. [ये च] पुराण-शत 500 (+) 50 (।।)

संस्कृत छाया

सिद्धम् संवत्सरे 28 गुर्पिये दिवसे 1 इयं पुण्यशाला प्राचीनेकेन सरुकमाणपुत्रेण खरासलेरपतिना वकनपतिना[2] अक्षयनिवि[3] दत्ता। ततः वृद्धितः मासानुमासं शुद्धस्य चतुर्दश्यां पुण्यशालायां ब्राह्मणंशतं परिवेशयितव्यं दिवसे दिवसे च पुण्यशालायां द्वारमूले धार्य स्वाध सक्तूनां आढ़काः[4] 3, लवणप्रस्थ 1, शुक्तप्रस्थ 2, हरितकलापक घटका, मल्लाकः 5। एतत् अनाथानां कृतेन दातव्य वुभुक्षितानां पिपासितानां। यतं च अत्र पुण्यं ततं देवपुत्रस्य पुत्रस्य षाहे, हुविष्कस्य। येषां च देवपुत्र प्रिय तेषाम् अपि पुण्यं भवतु। सर्वस्याः च पृथिव्याः पुण्यं भवतु। अक्षयनीविः[5] दत्ता श्रेण्यां पुराणं[6] शतानि 500, सामिताकर श्रेण्यां च पुराण शतानि 550।

हिन्दी अर्थान्तर

1. सिद्धम्।। संवत्सर 28में गुर्पियमसा के प्रथम दिन यह पुण्य
2. शाला प्राचीनीक सरुकमाण-पुत्र खरासले—
3. राधिपति वकन-स्वामी द्वारा अक्षयनीवी दी गयी। तत्पश्चात् वृद्धिपूर्वक
4. प्रत्येकमास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को पुण्यशाला में
5. सौ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए और प्रत्येक दिन
6. पुण्यशाला के द्वारमूल चौखट में रखना चाहिये–स्वाद्य सत्तू के
7. तीन आढक, लवण-प्रस्थ 1 आढक, शुक्तप्रस्थ 1 आढक, तरकारियों के
8. 3 घड़े, मल्लक के पाँच। यह अनाथों को देने के लिये
9. तथा बुभुक्षित, पिपासितों के लिये। जो इससे पुण्य हो वह देवपुत्र
10. षाहि हुविष्क को हो और जिनका देवपुत्र प्रिय है उनको भी पुण्य
11. हो और सम्पूर्ण पृथ्वी को पुण्य हो। इस हेतु अक्षयनीवी दी गयी
12. श्रेणी में 500 पुराण और समिताकार श्रेणी में
13. पुराण 550।

---

1. भारतीय भाद्र आश्विन मास।
2. खरासलेर और वकन को डा॰ सरकार ने स्थान का नाम माना है तथा प्राचीनिक को व्यक्ति का नाम स्वीकार किया है जो मथुरा में किसी अज्ञात कारण से आया था।
3. अक्षयनीवी—-इसका मूल कभी क्षय नहीं होता था। यह एक प्रकार का दान होता था जिसके ब्याज का ही प्रयोग होता था मूल का नहीं। कोनो के अनुसार 'नीवी' एक सम्पत्ति थी जो 'अक्षय' या अचल होती थी। यह स्थायी दान होता था। इसे देने वाला ले नहीं सकता था न इसे समाप्त ही किया जा सकता था।
4. नापने की इकाई।
5. अक्षयनीवी = स्थायी पूँजी जिसको कभी प्रगोग न किया जा सके। इसके सूद का ही उपयोग किया जा सकता था।
6. पुराण एक प्राचीन सिक्के का नाम था।

ऐतिहासिक महत्त्व

मथुरा से गोवर्धन के मार्ग पर चौरासी जैन मन्दिर के पास कुएँ पर पड़े एक स्तम्भ पर यह अभिलेख उत्कीर्ण मिला जो अब मथुरा संग्रहालय में रखा गया है। इस अभिलेख का हुविष्क में राजनीतिक जीवन एवं कुषाणकालीन समाज एवं संस्कृति पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वासिष्क के बाद हुविष्क कुषाण वंश का शासक बना। यह अभिलेख वर्ष 28 का है जिसमें देवपुत्र शाही का उल्लेख हुविष्क के लिए किया गया है। इसी वर्ष का इससे 10 माह पूर्व का अभिलेख साँची से प्राप्त हुआ है जो वासिष्क का उल्लेख करता है। स्पष्ट है कि वासिष्क के बाद हुविष्क गद्दी पर बैठा होगा। दूसरे यह हुविष्क का पहला ज्ञात लेख है क्योंकि उसका अभी तक इसके पूर्व का कोई भी लेख प्राप्त नहीं हुआ है। तीसरे डा॰ सिन्हा ने इन दोनों के अन्तर से अनुमान लगाया है कि कनिष्क का कुषाण संवत् कार्तिक मास में प्रारंभ हुआ होगा। चौथे इसमें हुविष्क को मात्र देवपुत्रशाही की उपाधि दी गई है न कि देवपुत्र-शाही-शाहानुशाही अर्थात् महाराजा। यह उपाधि उसको बहुत बाद में मिली प्रतीत होती है। अतः इस अभिलेख के समय वह शासक नहीं रहा होगा। पाँचवें इसमें प्रयुक्त 'गुर्पिय' शब्द मैसोडोनिया के संवत् गणना का बोधक है। यह ब्राह्मी लिपि में अंकित एकमात्र अभिलेख है जो इस संवत् का उल्लेख करता है। सम्भवतः जिसके अनुरोध पर यह अभिलेख अंकित किया गया होगा वह विदेशी होगा जो ऐसे ही कलैण्डर के गणना को जानता होगा। डा॰ हरिपद चक्रवर्ती के मत में चवनीज के अनुसार पाँचवीं शताब्दी तक बदखशाँ यूचियों का केन्द्र स्थल था। जब ये पूरब की ओर बढ़ते हुए मथुरा में अपना राज्य स्थापित कर लिए तो उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र मे इनके प्रधान मथुरा आए होंगे। यहाँ 'शाही' शब्द का प्रयोग मथुरा पर उसका अधिकार सिद्ध करता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि अपने पिता से इसने जो विस्तृत राज्य प्राप्त किया था उसको सुरक्षित रखा। छठे 'प्राचीनिक' जो इसकी अधीनता में था इसका प्रान्तपति रहा होगा।

आर्थिक इतिहास के अध्ययन में भी यह एक महत्त्वपूर्ण सूचना देता है कि रौप्य मुद्रा 'पुराण' का प्रयोग इस समय क्रय-विक्रय के लिए किया जाता था। यह उल्लेखनीय है कि कुषाण शासकों के सिक्के प्रायः स्वर्ण या ताम्र के ही प्राप्त हुए हैं। केवल विमकडफाइसेज के कुछ चाँदी के सिक्के उपलब्ध हैं। सिक्कों के रूप में पुराण का उल्लेख केवल मनुस्मृति से ही प्राप्त होता है। ये 32 रत्ती वजन के प्राचीन आदृत सिक्के ही हैं जो चाँदी के बने होते थे। दूसरी ओर इसमें बाट या मापक इकाइयों की भी चर्चा की गई है। लगता है कि नाप एवं तौल के लिए आढक (बीस सेर का माप), प्रस्थ (आढक की चौथाई ईकाई), घटक (एक निश्चित माप का घड़ा) का प्रयोग होता था। यद्यपि घटक पानी के लिए घड़े के अर्थ में प्रयुक्त है पर डॉ॰ चक्रवर्ती ने इसे सम्भवतः कोई तरल पदार्थ के माप की इकाई माना है। इससे कृषि और उद्योग पर भी प्रकाश पड़ता है। सत्तू तथा मूली का उल्लेख कृषि के उत्पादन प्रकारों का संकेत देते हैं। उद्योगों में पीसने, थाली बनाने आदि का ज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि सत्तू चने को पीस कर बनाया जाता है और थाली धातु कारीगरों द्वारा तैयार किया जाता है। आटा पीसने का भी उद्योग यहाँ समितिकर श्रेणी के उल्लेख से ज्ञात होता है। श्रेणियों का उल्लेख स्पष्ट करता है कि आर्थिक जीवन में संगठन का महत्त्व था। अलग-अलग प्रकार के व्यवसाय करने वालों की अलग-अलग श्रेणियाँ बनी थीं क्योंकि नारद स्मृति में श्रेणियों की व्याख्या में कहा गया है—एकेन शिल्पेन ये जीवते तेषां समूहः श्रेणी।

सामाजिक दृष्टि से इन विदेशियों में भी दान की महत्ता को स्वीकार किया था। लोग रास्ते चलते किसी भी जाति का पका अन्न खाना पसन्द नहीं करते होंगे, तभी सूखा अन्न सत्तू, मूली और चटनी का उल्लेख किया गया है। ये भोजन की सहयोगी सामग्रियाँ सत्तू के साथ प्रयोग की जाती रही होंगी। इससे जनकल्याणकारी कार्य के प्रति जन-मानस की भावना का पता चलता है। यहाँ ब्राह्मणों के खिलाने की बात की गई है। दाताओं के दान के द्वारा ये मध्य-एशिया के विदेशी लगते हैं क्योंकि उन्होंने गुर्पिय संवत् का प्रयोग किया है। इससे कहा जा सकता है कि मध्य-एशिया की जातियों में भी ब्राह्मण धर्म का प्रचार था और पुण्य अर्जन करने के लिए ब्राह्मणों के भोजन का महत्त्व स्वीकार करती थी।

6. कनिष्क (द्वितीय) का आरा पाषाण लेख—वर्ष 41
(Arrah Stone Inscription of Kanishka II—Year 41)

स्थान : अटक नगर (पाकिस्तान) से 10 मी॰ दक्षिण-पश्चिम स्थित चाहवाग निगलाव के समीप स्थित आरा के एक कुएँ से प्राप्त

भाषा : प्राकृत

लिपि : कुषाणकालीन खरोष्ठी

तिथि : वर्ष 41 (78 ई॰)

विषय : कनिष्क (द्वितीय) के शासन में दषव्हर द्वारा अपने माता-पिता की पूजा हेतु कुआँ बनवाने का उल्लेख

मूल-पाठ

1. महरजस रजतिरजस देवपु[त्रस] [क]इ[स]रस
2. व[झि]ष्प-पुत्रस[1] कनिष्कस संवत्सरए एकचप[रि]-
3. [शए] सं 20 (+) 20 (+) (+) । जेठस मसस दिव[से]1 इ[शं] दिवस-क्षुणमि ख[दे]
4. [कुपे] दषव्हरेन[2] पोषपुरिअ-पुत्रण मतर-पितरण पुय[ए]
5. [अत्म]रणस सभर्य[स] [स]पुत्रस अनुग्रहर्थए सर्व[सप]ण
6. जति[षु] [हि]तए (।) इमां च लिखितो म[धु]...(।।)

हिन्दी अर्थान्तर

वझिष्य के पुत्र, महाराज, रजतिराज, देवपुत्र कैसर कनिष्क के (शासन) वर्ष सं 41 में जेष्ठमास के 1 (प्रथम) दिन, इस दिन और क्षण में पोषपुर निवासी दषव्हर द्वारा अपने माता-पिता की पूजा के लिए अपनी भार्या और पुत्र सहित अपने अनुग्रह के लाभ के लिए सब प्राणियों के जन्म के हित के लिए कुआँ खुदवाया गया। इसे लिखा मधु (नाम के व्यक्ति ने)...

---

1. बनर्जी : वसिष्प ०; कोनो : वझेष्क. इसकी समता वाशिस्क से करते हैं।
2. कुछ पढ़ते हैं : दषव्होतेन, दषबेरन

7. कालवान ताम्रपत्र अभिलेख–सं० 134

(Kalwan Copper Plate Inscription — Year 134)

स्थान : कालवान, (रावलपिण्डी) (पाकिस्तान) में प्राचीन तक्षशिला (सिरकप) के समीप स्थित

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

तिथि : सं॰ 134 (77 ई॰)

विषय : बुद्ध का देहावशेष प्रतिष्ठित करना

मूल-पाठ

1. सवत्सरये 1(×)100 (+) 20 (+) 10 (+)4 अजस[1] श्रवणस मसस दिवसे त्रेविशे 20 (+) 1 (+) 1 (+) 1 इमेण क्षुणेण चंद्रभि उअसिअ
2. ध्रंमस ग्रहवतिस धित भद्रवलस भय छडशिलए शरिर प्रइस्तवेति गहथू-
3. बमि सध भ्रदुण नंदिवढणेण ग्रहवतिण सध पुत्रेहि शमेण सइतेण च धितुण च
4. ध्रमए सध ष्णषएहि रजए इद्रए य सध जिवणंदिण शमपुत्रेण अयरिएण[2] य स[र्व]स्ति-
5. वअण परिग्रहे रठ-णिकमो पुयइत सर्व-स्वत्वण[3] पुयए (।) णिवणस प्रतिअए होतु (।)

8. कुषाण राजा का पंजतार प्रस्तर-अभिलेख

(Pantjar Stone Inscription of a Kushan King)

स्थान : पेशावर तथा हजारा जिला की सीमा पर स्थित पंजतार

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

काल : सं॰ 122 (= 65 ई॰)

विषय : महाराज कुषाण के शासनकाल में मोयिक द्वारा शिव मन्दिर का निर्माण तथा दो वृक्षों का दान एवं विदेशियों के भारतीयकरण का प्रमाण

सन्दर्भ : सरकार, सं॰ इ॰, पृ॰ 130,

मूल-पाठ

1. सं 1(×)100(+)20(+)1(+)1 श्रवणस मसस दि प्रढमे 1 महरयस गुषणस रज[मि]
2. स्पुअस[4] प्रच-[देशो] मोइके उरुमुज-पुत्रे करविदे शिवथले (।) तत्र दे मे

---

1. मार्शल के अनुसार : अजस या अयस से अभिप्राय अजस संवत् से है। कोनो से संस्कृत आद्यस मानते हैं पर फ्लीट उपाधि के अभाव में इसे नहीं मानते।
2. पढ़ें : अयरिअस
3. संस्कृत शब्द : सत्त्व है।
4. कनिंघम : खत्र दे मे ; कोनो च मे

3. दनमि तरक 1(+)1 (।) पञकरे ण(णे?)व अमत[1] शिवथल रम म

संस्कृत छाया

संवत्सरे 122 श्रावणमासस्य दिवसे प्रथमे महाराजस्य कुषाणस्य राज्ये स्वसुवस्य पूर्वभागः मोइकेन उरुमुज-पूत्रेण कारित शिवे मन्दिरम्। तत्र मे दाने द्वौ वृक्षौ। पुण्यकरं चिरस्थिकं शिवस्थानम्।

हिन्दी अर्थान्तर

1. संवत्सर 122 में श्रावणमास के प्रथम दिन-महाराज कुषाण 1 के राज्य में
2. स्वसुव का पूर्व-देश-वहाँ उरुमुज–पुत्र मोयिक द्वारा शिवमन्दिर बनवाया गया। वहाँ मेरे दो
3. दान के वृक्ष। पुण्यकर अस्थायी शिवस्थान...।

---

1. कनिंघम : हमुख